दो शब्द ।

दर्शनशास्त्र के सुप्रख्यात विद्वान् श्रीयुत डा० सतीशचन्द्र चट्टो-पाध्याय तथा श्रीयुत डा० धीरेन्द्र मोहन दत्त के जिस अंग्रेजी ग्रन्थ (Introduction to Indian Philosophy) का यह अनुवाद है, उसकी प्रसिद्धि मैंने बहुत दिनों से सुन रखी थी। इस देश के भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों में तो वह पाठ्यग्रन्थ है ही, यूरप-अमेरिका आदि के विश्वविद्यालयों में भी उसका आदरणीय स्थान है। मेरी चिर अभिलाषा थी कि इस ग्रन्थ को हिन्दी संसार में लाया जाय जिससे अंग्रेजी नहीं जाननेवाले पाठक भी उसका रसास्वादन कर सकें।

स्वतंत्र भारत में जब राष्ट्रभाषा हिंदी शिक्षा का माध्यम बन रही है और भारतीय दर्शन पुनः गौरव के शिखर पर आरूढ़ हो रहा है, यह कार्य और भी महत्त्वपूर्ण जान पड़ा। इसी भावना से प्रेरित होकर मैंने ग्रन्थकारों एवं प्रकाशकों से अनुवाद की आज्ञा ली और प्रस्तुत ग्रन्थ आपके सामने है।

मूलग्रन्थ का भाव हिंदी में अच्छी तरह उतर सके इसलिये यह आवश्यक था कि अनुवाद ऐसे व्यक्ति से कराया जाय जो भारतीय दर्शन के ज्ञाता होने के साथ-साथ भाषा पर भी अधिकार रखते हों। अतएव यह भार डा० दत्त के दो सुयोग्य शिष्यों (जो पटना कालेज में दर्शन के अध्यापक हैं) प्रो० श्री हरिमोहन झा तथा प्रो० श्री नित्यानन्द मिश्र पर डाला गया। इन लेखकों के हाथ में पड़ने से यह हिन्दी संस्करण भी मौलिक ग्रन्थ सा हो गया है। इसमें अनुवाद की वह गन्ध नहीं मिलेगी जो इस तरह की अनूदित पुस्तकों में प्रायः रहा करती है।

आशा है यह हिन्दी संस्करण भी छात्रों, अध्यापकों तथा दर्शनानुरागी पाठकों के लिये मूलग्रन्थ सा ही उपयोगी एवं लोकप्रिय सिद्ध होगा।

ग्रन्थ के कलेवर को देखते हुए छपाई की जो त्रुटियाँ इसमें रह गई हों उन्हें सहृदय पाठक क्षमा करेंगे।

मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ हिंदी के साहित्य-भंडार में एक विशिष्ट अभाव की पूर्त्ति करेगा और सभी दर्शन-प्रेमी इससे लाभ उठावेंगे। यदि मेरा यह प्रयास सफल हुआ तो शीघ्र ही अग्रिम संस्करण और भी सुन्दर रूप में आपके सामने उपस्थित किया जायगा।

—प्रकाशक

विषय-सूची

३. जैन-दर्शन ✓ ७५—१२०

४. बौद्ध-दर्शन १२१—१७०

* देखिये Aldous Huxley का Ends and Means पृ० २५८।

१०. वेदान्त-दर्शन (३) ३५२—४४४

① ईश्वर, बन्ध मोक्ष, जीव, जगत्, प्रमाण, कर्तव्य मीमांसा की समस्या और समाधान।

१

विषय-प्रवेश

१. भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त

(१) दर्शन क्या है ?

मनुष्य और पशु सभी अपने-अपने जीवन की रक्षा के लिये प्रयत्न करते हैं। पशु का जीवन प्रायः निरुद्देश्य होता है। वह सहज प्रवृत्ति से परिचालित होता है। किन्तु मनुष्य अपनी बुद्धि की सहायता लेता है। वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवन-यापन करना चाहता है। वह केवल अपने वर्त्तमान लाभ के सम्बन्ध में ही नहीं सोचता, किन्तु भविष्य परिणामों के विषय में भी सोचता है। मनुष्य में बुद्धि की विशेषता है। बुद्धि की सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। युक्तिपूर्वक तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही 'दर्शन' कहते हैं। अंग्रेजी में इसे 'फिलासफी' (Philosophy) कहते हैं। दर्शन मनुष्य के लिये सर्वथा स्वाभाविक है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ❀ का कथन है कि मनुष्य अपने दर्शन के अनुसार ही जीवन व्यतीत करता है। जो मनुष्य अधिक विचारशील नहीं भी होता, उसका भी एक दर्शन रहता है। चाहे वह उत्कृष्ट हो या निकृष्ट।

दर्शन की आवश्यकता

'फिलासफी' शब्द का अर्थ 'ज्ञान-प्रेम' है। मनुष्य क्या है ? उसके जीवन का क्या लक्ष्य है ? यह संसार क्या है ? इसका कोई स्रष्टा भी है ? मनुष्य को किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिये ?

❀ देखिये Aldous Huxley का Ends and Means पृ० २९८।

ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिन्हें प्रायः सभी देशों के मनुष्य सभ्यता के प्रारम्भ से ही सुलझाने की चेष्टा करते आ रहे हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार हमें तत्त्व का *साक्षात्कार* हो सकता है। अतः, भारतवर्ष में फिलासफी को **"दर्शन"** कहते हैं।

पाश्चात्य दर्शन का विकास

यूरोपीय दर्शन के इतिहास से पता चलता है कि जैसे-जैसे मनुष्य का ज्ञान-भंडार बढ़ता गया, वैसे-वैसे उसकी अनेक शाखाएँ होती गईं। इस प्रकार धीरे-धीरे अनेक विज्ञानों का जन्म हुआ। जैसे—भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन-विज्ञान (Chemistry), ज्योतिर्विज्ञान (Astronomy), भू-विज्ञान (Geology) इत्यादि। ये विज्ञान विश्व के खास-खास विषयों का विवेचन करते हैं। शरीर-विज्ञान (Physiology and Anatomy) तथा चिकित्सा-विज्ञान मनुष्य के शरीर का अनुसंधान करते हैं। मनोविज्ञान (Psycho-logy) में मन के सम्बन्ध में विचार किया जाता है। इस तरह प्रकृति के खास-खास विभागों के लिये खास-खास विज्ञानों की सृष्टि हुई है। विज्ञान प्रारम्भ में 'फिलासफी' के अंग ही थे। किन्तु वर्त्तमान समय में फिलासफी' का सम्बन्ध विशेषतः वैज्ञानिक अनुसंधानों के फलों से ही है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर 'फिलासफी' में निखिल विश्व का--मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर का---सामान्य ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है।

पाश्चात्य दर्शन की शाखाएँ

वर्त्तमान यूरोपीय दर्शन की प्रधान शाखाएँ निम्न लिखित हैं—(१) तत्त्व-विज्ञान (Metaphysics)—इसमें मनुष्य, प्रकृति तथा ईश्वर का तात्त्विक विवेचन होता है। (२) प्रमाण-विज्ञान (Epistemology)—इसमें ज्ञान की उत्पत्ति, उसके विकास तथा उसकी सीमा का विचार होता है। (३) तर्क-विज्ञान (Logic)—यह यथार्थ या युक्ति-संगत अनुमान के नियमों को निर्धारित करता है। (४) नीति-विज्ञान (Ethics)—यह मनुष्य के कर्त्तव्य तथा

उसके जीवन के आदर्श का अन्वेषण करता है। (५) सौंदर्य-विज्ञान (Aesthetics)—यह सौंदर्य के तत्त्व पर विचार करता है। इधर हाल में उत्कर्ष-विज्ञान या अर्घ-विज्ञान (Axiology) का आविर्भाव हुआ है। इस विज्ञान में उत्कर्षों (Values) के सम्बन्ध में विचार होता है। समाज-विज्ञान (Sociology) को भी 'फिलासफी' की एक शाखा मानते हैं। समाज-विज्ञान को नीति-विज्ञान से गहरा सम्बन्ध है। अभी हाल तक मनोविज्ञान को भी 'फिलासफी' का एक अंग माना जाता था; किन्तु अब यह 'फिलासफी' से पृथक् हो गया है। मनोविज्ञान को अब प्रायः वही स्वतंत्र स्थान प्राप्त है जो भौतिक विज्ञान या रसायन-विज्ञान को है।

भारतीय दर्शन की समस्या तथा उसकी विचार-प्रणाली

प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शनों की मौलिक समस्याएँ प्रायः समान हैं। दोनों के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों में बड़ी समानता है। किन्तु उनकी विचार-पद्धतियों में बहुत अन्तर है। भारतीय दर्शन में तत्त्व-विज्ञान, नीति-विज्ञान, तर्क-विज्ञान, मनो-विज्ञान तथा प्रमाण-विज्ञान की समस्याओं पर प्रायः एक साथ ही विचार किया गया है। आचार्य ब्रजेन्द्र नाथ शील तथा अन्यान्य विद्वान् इसे भारतीय दर्शन की समन्वयात्मक दृष्टि (Synthetic Outlook) कहते हैं।

(२) भारतीय दर्शन का अर्थ तथा उसकी व्यापकता

भारतीय दर्शन का अर्थ हिन्दू-दर्शन नहीं है

प्राचीन तथा अर्वाचीन, हिन्दू तथा अहिन्दू, आस्तिक तथा नास्तिक—जितने प्रकार के भारतीय हैं, सबों के दार्शनिक विचारों को 'भारतीय दर्शन' कहते हैं। कुछ लोग भारतीय दर्शन को 'हिन्दू दर्शन' का पर्याय मानते हैं; किन्तु यदि 'हिन्दू' शब्द का अर्थ सनातन धर्मावलम्बी हो तो 'भारतीय दर्शन' का अर्थ केवल हिन्दुओं का दर्शन समझना अनुचित होगा। इस सम्बन्ध में हम माधवाचार्य के 'सर्व दर्शन-संग्रह' का उल्लेख कर सकते हैं।

माधवाचार्य स्वयं सनातनी हिन्दू थे। उन्होंने उपर्युक्त ग्रंथ में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन मतों को भी दर्शन में स्थान दिया है। इन मतों के प्रवर्त्तक वैदिक धर्मानुयायी हिन्दू नहीं थे। फिर भी, इन मतों को दर्शन-शास्त्र में वही स्थान प्राप्त है जो सनातन हिन्दुओं के द्वारा प्रवर्त्तित दर्शनों को है।

भारतीय दर्शन की दृष्टि अत्यधिक व्यापक है। यद्यपि भारतीय दर्शन की अनेक शाखाएँ हैं तथा उनमें मतभेद भी है, फिर भी, वे एक दूसरे की उपेक्षा नहीं करती हैं। सभी शाखाएँ एक दूसरे के विचारों को समझने का प्रयत्न करती हैं। वे विचारों की युक्ति-पूर्वक समीक्षा करती हैं, और तभी किसी सिद्धान्त पर पहुंचती हैं। इसी उदार मनोवृत्ति का फल है कि भारतीय दर्शन में विचार-विमर्श के लिये एक विशेष प्रणाली की उत्पत्ति हुई। इस प्रणाली के अनुसार पहले पूर्वपक्ष होता है, तब खंडन होता है, तथा अन्त में उत्तर पक्ष या सिद्धान्त होता है। पूर्वपक्ष में विरोधी मत की व्याख्या होती है। उसके बाद उसका खंडन या निराकरण होता है। अन्त में उत्तर पक्ष आता है जिसमें दार्शनिक अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है।

भारतीय दर्शन की व्यापक तथा उदार दृष्टि

इसी उदार दृष्टि के कारण भारतीय दर्शन की प्रायः प्रत्येक शाखा अत्यन्त समृद्ध है। उदाहरण के लिये हम वेदान्त का उल्लेख कर सकते हैं। वेदान्त में चार्वाक, बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक आदि सभी मतों पर विचार किया गया है। यह रीति केवल वेदान्त में ही नहीं, किन्तु अन्य दर्शनों में भी पाई जाती है। वस्तुतः भारत का प्रत्येक दर्शन ज्ञान का एक-एक भंडार है। यहाँ तक कि यूरोपीय दर्शन की बहुत सी आधुनिक समस्याओं का विचार भी भारतीय दर्शन में पाया जाता है। यही कारण है कि जिन विद्वानों को केवल भारतीय दर्शन का ज्ञान भलीभांति प्राप्त है,

भारतीय दर्शनों की प्रगाढ़ता

वे बड़ी सुगमता से पाश्चात्य दर्शन की जटिल समस्याओं का भी समाधान कर लेते हैं।

भारतीय दर्शन की उदार-दृष्टि ही उसकी प्राचीन समृद्धि तथा उन्नति का कारण है। यह उदार मनोभाव भारतीय दर्शन को भविष्य के लिये एक संदेश देता है। भारतीय दर्शन यदि अपने प्राचीन गौरव को पुनः प्राप्त करना चाहता है तथा उसे सुदृढ़ बनाना चाहता है तो उसे प्राच्य तथा पाश्चात्य, आर्य तथा अनार्य, यहूदी तथा अरबी, चीनी तथा जापानी—सभी दार्शनिक मतों का पूर्ण विवेचन करना चाहिये। अपनी ही विचार-परम्परा में सीमित रह जाना उसके लिये हितकर नहीं हो सकता।

भारतीय दर्शन का भावी आदर्श

वर्गीकरण

(५) (३) भारतीय दर्शन की शाखाएँ

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार भारतीय दर्शन दो भागों में बाँटे गये हैं—आस्तिक तथा नास्तिक। मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक आस्तिक दर्शन कहे जाते हैं। इन्हें षड्दर्शन भी कहा जाता है। आस्तिक दर्शन का अर्थ ईश्वरवादी दर्शन नहीं है। इन दर्शनों में सभी ईश्वर को नहीं मानते हैं। इन्हें आस्तिक इसलिये कहा जाता है कि ये सभी वेद को मानते हैं। ❀ मीमांसा

आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन

❀ आधुनिक भारतीय साहित्य में आस्तिक का अर्थ 'ईश्वरवादी' है तथा नास्तिक का अर्थ 'अनीश्वरवादी' है। किन्तु प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार आस्तिक का अर्थ 'वेदानुयायी' तथा नास्तिक का अर्थ 'वेदविरोधी' है। प्राचीन दार्शनिक साहित्य के अनुसार इन दोनों शब्दों में प्रत्येक का एक दूसरा भी अर्थ है। इस दूसरे अर्थ के अनुसार आस्तिक परलोक में विश्वास रखनेवाले को तथा नास्तिक परलोक नहीं माननेवाले को कहते हैं। ऊपर के वर्गीकरण के अनुसार मीमांसा, वेदान्त सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक को आस्तिक दर्शन इसलिये कहा गया है कि वे वेदों को मानते हैं। भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण यदि परलोक में विश्वास के अनुसार किया जाय तो जैन तथा बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन कहे जायँगे; क्योंकि वे भी परलोक को मानते

और सांख्य ईश्वर को नहीं मानते। फिर भी वे आस्तिक कहे जाते हैं; क्योंकि वे वेद को मानते हैं। इन छः आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त और भी कई आस्तिक दर्शन हैं। यथा—पाणिनीय दर्शन (वैयाकरण दर्शन), रसेश्वर दर्शन (आयुर्वेद) इत्यादि। इन दर्शनों का उल्लेख माधवाचार्य ने सर्व दर्शन-संग्रह में किया है। नास्तिक दर्शन तीन हैं—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन। ये नास्तिक इसलिये कहे जाते हैं कि ये वेदों को नहीं मानते।

भारतीय दर्शन में वेद का स्थान

आस्तिक तथा नास्तिक की भिन्नता को समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि भारतीय विचार-परम्परा में वेद का क्या स्थान है। वेद भारत का आदि-साहित्य है। वेद के बाद की जो भारतीय विचार-धारा चली वह वेद से बहुत अधिक प्रभावित हुई है। दार्शनिक विचार-धारा पर तो इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। भारतीय दर्शन पर वेद का प्रभाव दो प्रकारों से पड़ा है। हम ऊपर कह आये हैं कि कुछ दर्शन वेद को मानते हैं तथा कुछ वेद को नहीं मानते। वेद को माननेवाले छः दर्शन 'षड्दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें मीमांसा और वेदान्त तो वैदिक संस्कृति की ही देन हैं। वेद में दो विचार-धाराएँ थीं। एक का सम्बन्ध कर्म से था तथा दूसरे का ज्ञान से। ये क्रमशः वैदिक कर्म-कांड तथा वैदिक ज्ञान-कांड के नाम से विदित हैं। मीमांसा में कर्म-कांड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। वेदान्त में ज्ञान-कांड का पूरा विवेचन किया गया है और इस तरह वेदान्त जैसे एक विशाल दर्शन की सृष्टि हुई है। चूंकि मीमांसा और वेदान्त में वैदिक विचारों की 'मीमांसा' हुई है, इसलिये दोनों ही को कभी-कभी मीमांसा कहते हैं।

हैं। षड्दर्शन को दोनों ही अर्थों में आस्तिक कह सकते हैं। अर्थात् वे वेद को मानने के कारण भी आस्तिक हैं, तथा परलोक को मानने के कारण भी आस्तिक हैं। चार्वाक दर्शन दोनों में से किसी भी अर्थ में आस्तिक नहीं कहा जा सकता। वह न तो वेद को मानता, न परलोक को ही मानता है। अतः, वह दोनों ही अर्थों में नास्तिक है।

भेद के लिये मीमांसा को पूर्व-मीमांसा या कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त को उत्तर-मीमांसा या ज्ञान-मीमांसा कहते हैं। इस पुस्तक में हम इन्हें क्रमशः मीमांसा और वेदान्त ही कहेंगे; क्योंकि ये ही नाम विशेष प्रचलित हैं।

सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों की उत्पत्ति वैदिक विचारों से नहीं हुई है। इनकी उत्पत्ति लौकिक विचारों से हुई है। किन्तु इस कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि ये वेद-विरोधी थे। इनके सिद्धान्तों में तथा वैदिक विचारों में पारस्परिक विरोध नहीं था। वैदिक संस्कृति के विरुद्ध जो प्रतिक्रियाएँ हुई थीं उनसे चार्वाक, बौद्ध तथा जैन-दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ये वेद को प्रमाण नहीं मानते थे—ये वेद-विरोधी थे।

उपर्युक्त विचारों का संक्षेप नीचे लिखे ढंग से किया जा सकता है—
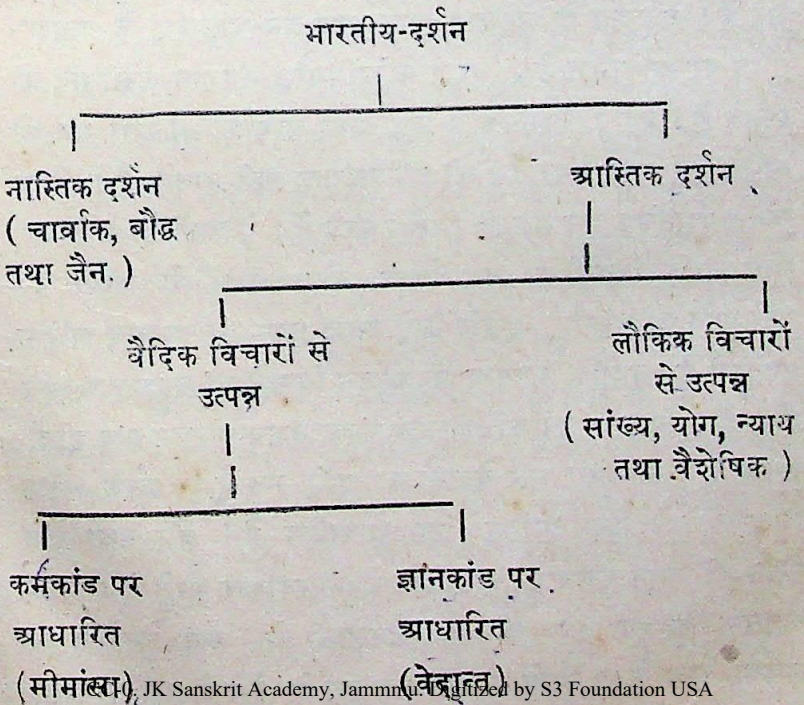
(१४) भारतीय दर्शन में आप्त वचन तथा युक्ति का स्थान

ऊपर हमने भारतीय दर्शनों की कुछ भिन्नताओं पर विचार किया है। उन भिन्नताओं का सम्बन्ध बहुत अंशों में दर्शनों की विचार-प्रणालियों से है।

दर्शन का आधार तथा उसकी विचार-प्रणाली

संसार का मूल कारण क्या है? ईश्वर है या नहीं? ईश्वर का क्या स्वरूप है?—ऐसे ऐसे दार्शनिक प्रश्नों का समाधान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं किया जा सकता। ऐसे प्रश्नों के समाधान के लिये कल्पना तथा युक्ति का आश्रय लेना नितान्त आवश्यक है। विज्ञानों की तरह दर्शन में भी प्रत्यक्ष की सहायता से अप्रत्यक्ष का प्रतिपादन होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन का आधार है तथा युक्ति उसका प्रमुख साधन है। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि किसका प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन का आधार है? जन-साधारण का या आप्त पुरुषों का? भारतीय दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार दर्शन-शास्त्र जन-साधारण के प्रत्यक्षानुभव पर आधारित है। यूरोप के अधिकांश विद्वान् इसी मत को मानते हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा चार्वाक भी इसी मत को मानते हैं। बौद्ध तथा जैन भी अधिकांशतः यही मानते हैं। किन्तु अनेक दार्शनिक इस मत का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर, मोक्ष आदि विषयों का यथार्थज्ञान लौकिक ज्ञान के आधार पर नहीं प्राप्त हो सकता। इसके लिये आप्त पुरुषों का अनुभव अधिक उपयोगी है। क्योंकि आप्त पुरुषों को इन विषयों का साक्षात् अनुभव होता है। अतः, दर्शन का आधार आप्त वचन या धर्म-ग्रंथ ही हो सकता है। मीमांसा और वेदान्त का यही मत है। इनके अनेक सिद्धान्त वेदों तथा उपनिषदों पर आधारित हैं। बौद्ध तथा जैन दर्शन भी आप्त वचन की प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार बुद्धदेव तथा तीर्थङ्कर सर्वज्ञानी थे, अतः उनके वचन सर्वथा सत्य थे। यूरोप में भी मध्य युग के ईसाई धर्म-सम्प्रदाय

(Schoolmen) अपने धर्म-ग्रंथों को ही दर्शन का आधार मानते थे।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है भारतीय दर्शनों में दर्शन के आधार के सम्बन्ध में दो मत हैं। परन्तु आधार की भिन्नता रहने पर भी दोनों ही मतों में युक्ति को ही विचार का प्रथम साधन माना गया है! अन्तर केवल युक्ति के प्रयोग में है।

दार्शनिक विचार के लिये युक्ति ही एक मात्र साधन है।

न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में युक्ति का प्रयोग लौकिक अनुभव पर होता है, किन्तु मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में उसका प्रयोग सामान्यतः आप्त वचनों के समर्थन तथा उनकी पुष्टि के लिये होता है।

कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति स्वतंत्र विचार से नहीं हुई है, वरं आप्त वचनों से हुई है। अतः, भारतीय दर्शन युक्ति से प्रतिपादित नहीं है, वरं युक्ति-हीन है। यह आक्षेप सभी भारतीय दर्शनों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शनों में स्वतंत्र विचार का प्रयोग प्रायः उसी भांति हुआ है जिस भांति वर्त्तमान समय के पाश्चात्य दर्शनों में होता है। यद्यपि यह आक्षेप मीमांसा और वेदान्त के विरुद्ध अवश्य लगाया जा सकता है, क्योंकि ये आप्त वचनों का अनुसरण करते हैं, तथापि स्वतंत्र विचार के द्वारा ही इनके सिद्धान्तों की पुष्टि हुई है। आप्त वचनों को यदि इनसे हटा दिया जाय तो भी ये दृढ़ रहेंगे। यहाँ तक कि यदि इनकी तुलना अन्य-देशों के युक्ति-प्रतिपादित सिद्धान्तों से की जाय तो ये न्यून नहीं सिद्ध होंगे। मनुष्य विचारशील होता है। अतः, वह तब तक किसी विषय को स्वीकार नहीं करता है जब तक वह युक्ति-संगत नहीं होता। किन्तु, यदि कोई दार्शनिक विचार युक्ति से प्रतिपादित होने के साथ-साथ मार्जित बुद्धि तथा शुद्ध-चित्त महापुरुषों की अनुभूतियों का समर्थन पाता है तो उसका महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

(५) भारतीय दर्शनों का क्रमिक विकास

यूरोपीय दर्शन के इतिहास से पता चलता है कि यूरोप के दर्शनों की उत्पत्ति एक साथ नहीं, वरं एक दूसरे के पश्चात् होती गई है। कुछ समय तक एक दर्शन का प्रचार रहता है उसके बाद किसी दूसरे मत का उत्थान होता है। भारतीय दर्शनों का विकास इस तरह नहीं हुआ है। इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि भारतीय दर्शनों की उत्पत्ति एक ही समय में नहीं हुई है। किन्तु, इनका विकास शताब्दियों तक साथ-साथ होता रहा है। भारत में दर्शन को जीवन का एक अंग माना गया है। यहाँ ज्यों ही किसी दार्शनिक मत का प्रतिपादन होता था त्यों ही उसके अनुयायियों का एक सम्प्रदाय स्थापित हो जाता था। सम्प्रदाय के सभी सदस्य उस दार्शनिक विचार को अपने जीवन का अंग मानते थे, तथा उसी के अनुसार अपना जीवन बिताते थे। किसी सम्प्रदाय की एक पीढ़ी के बाद दूसरी पीढ़ी के लोग उसका अनुसरण करते थे। और इस प्रकार उस सम्प्रदाय की एक अविच्छिन्न परम्परा बनी रहती थी। यही कारण था कि भारत के विभिन्न दर्शन निरंतर कई शताब्दियों तक प्रचलित रहे। सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्त्तनों के कारण भारतीय दर्शन का विकास आज-कल प्रायः बन्द सा हो गया है। किन्तु आज-कल भी कुछ प्रमुख भारतीय दर्शनों के अनुयायी जहाँ-तहाँ पाये जाते हैं।

भारतीय दर्शनों का विकास

जैसा पहले कहा जा चुका है भारतीय दर्शन अपने-अपने क्षेत्र में ही सीमित नहीं रहते थे, वरं उनमें पारस्परिक आलोचनाएँ चलती रहती थीं। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में प्रतिपक्षी के आक्षेप का युक्ति-पूर्वक खंडन करने की एक प्रथा चल गई थी। इसी पारस्परिक-आलोचना के फल-स्वरूप भारत में सहस्रों दार्शनिक ग्रन्थों की रचना हो गई है। आलोचना-प्रत्यालोचना का एक दूसरा परिणाम यह हुआ कि भारतीय दार्शनिकों ने अपने विचारों को स्पष्ट तथा

भारतीय दर्शनों में आलोचना-प्रत्यालोचना

अभ्रान्त रूप से व्यक्त करने का एक व्यसन हो गया है। अपने विचारों को सर्वथा दोष-रहित तथा आक्षेप-हीन बनाने के लिये वे स्वभावतः प्रयत्न करते थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन की समुचित आलोचना उसी के भीतर पाई जाती है।

दार्शनिक साहित्य का विकास

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भारतीय दर्शनों में विचारों के आदान-प्रदान की प्रथा थी। अब हमें यह जानना चाहिये कि भारतीय दार्शनिक साहित्य की उत्पत्ति तथा वृद्धि किस प्रकार हुई। हम पहले कह आये हैं कि अधिकांश दार्शनिक मतों की उत्पत्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से वेद से हुई है। आस्तिक दर्शनों के साहित्य के इतिहास से ज्ञात होता है कि वेद तथा उपनिषद् के बाद सूत्र-साहित्य की उत्पत्ति हुई है। दार्शनिक विचारों का सुव्यवस्थित तथा क्रम-बद्ध रूप सर्व-प्रथम सूत्र-साहित्य में ही पाया जाता है। सूत्र शब्द का अर्थ 'सूत' है। किन्तु, उपर्युक्त प्रसंग में सूत्र का अर्थ 'संक्षिप्त स्मृति-सहायक उक्ति' है।* प्राचीन समय में दार्शनिक विवेचन मौखिक होता था। गुरु-शिष्यों में भी विचार-विनिमय

आस्तिक दर्शनों का सूत्र-साहित्य

मौखिक ही हुआ करता था। अतः, यह आवश्यक था कि दार्शनिक समस्याओं को, उनके आक्षेपों तथा समाधानों को, स्मरण रखने के लिये, संक्षिप्त रूप दिया जाय। इसी प्रकार सूत्र-ग्रन्थों की उत्पत्ति हुई है। सूत्र-ग्रन्थ, विषय-भेद के अनुसार, अध्याय, पाद, अधिकरण आदि में विभक्त रहता है। बादरायण के ब्रह्म-सूत्र में वेदों के, विशेषतः उपनिषदों के, दार्शनिक विचारों का संग्रह है, तथा उन्हें एक सुव्यवस्थित रूप दिया गया है। वेद तथा उपनिषद् के दार्शनिक विचारों के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं उनका समाधान भी

---

* लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर-पदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ भामती १।१।१।

ब्रह्म-सूत्र में किया गया है। ब्रह्म-सूत्र ही वेदान्त का सबसे पहला क्रम-बद्ध ग्रन्थ है। इसी तरह मीमांसा के लिये जैमिनि ने, न्याय के लिये गौतम ने, वैशेषिक के लिये कणाद ने, योग के लिये पतंजलि ने सूत्र-ग्रन्थों की रचना की है। कपिल सांख्य-दर्शन के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'सांख्य-सूत्र' के रचयिता कपिल ही समझे जाते हैं। किन्तु, सांख्य-सूत्र जो आज-कल प्राप्त है वह कपिल का मूल ग्रन्थ नहीं माना जाता है। प्राप्य ग्रंथों में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्य कारिका' ही सांख्य की सबसे प्राचीन और प्रामाणिक रचना समझी जाती है।

सूत्र ग्रन्थों के भाष्य

सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त होते थे। उनका अर्थ सहज बोधगम्य नहीं होता था। अतः, उनकी व्याख्या के लिये टीकाएँ हुईं। सूत्र-ग्रन्थ की टीका को भाष्य❀ कहते हैं। भाष्यों के नामों तथा अन्य विशेषताओं के सम्बंध में आगे वर्णन किया जायगा। यहां यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी अनेक भाष्यकारों से व्याख्या किये जाने के कारण एक सूत्र-ग्रन्थ के भी अनेक भाष्य हुए। भाष्यकारों ने अपने-अपने भाष्यों में अपने-अपने मतों की पुष्टि की। उदाहरणार्थ शंकर, रामानुज, रामानन्द, मध्व, वल्लभ, निम्बार्क, बलदेव आदि भाष्यकारों ने ब्रह्म-सूत्र के भिन्न-भिन्न भाष्य लिखे। भाष्य-भेद के अनुसार वेदान्त के अनुयायियों की अलग-अलग गोष्ठियाँ बनीं। इस प्रकार वेदान्त की अनेक शाखाएँ हो गईं। ये शाखाएँ आजकल भी विद्यमान हैं।

भाष्यों की व्याख्या तथा स्वतंत्र ग्रन्थ

भाष्य-युग के भाष्यों की भी व्याख्याएँ लिखी गईं। दर्शनों के संक्षिप्त विवरण के लिये तथा उनकी व्याख्या एवं आलोचना के लिये स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे गये। आस्तिक दर्शनों के साहित्य का यही संक्षिप्त इतिहास है।

❀ सूत्रार्थो वर्ण्यते येन पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः।

नास्तिक दर्शनों के विकास का इतिहास भी प्रायः इसी प्रकार है। किन्तु, उनका विकास सूत्र-भाष्य के क्रम से नहीं हुआ है। उनके विकास का विवरण यथास्थान आगे दिया जायगा।

यों तो भारतीय दर्शनों में सिद्धान्तों की अनेक भिन्नताएँ हैं, फिर भी उनके अंतर्गत सामंजस्य भी हैं। सभी व्यक्ति सभी कार्यों के योग्य नहीं होते। विशेषतः धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक विषयों के लिये, योग्यतानुसार अधिकार-भेद होता है। जितने भारतीय दर्शन हैं, सभी मानो व्यावहारिक जीवन के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के साधन हैं। चार्वाक के भौतिकवाद से लेकर शंकर के वेदान्त तक जितने दर्शन हैं, सभी योग्यता तथा स्वभाव-भेद के अनुसार विचारमय जीवन बिताने के लिये भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। इसी कारण विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों का अधिकार-भेद निरूपित होता था। किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि सभी दर्शन व्यवहार के योग्य होते थे। इसके अतिरिक्त भी भारतीय दर्शनों में और अनेक समानताएँ हैं, जिन्हें हम भारतीय संस्कृति की विशेषता कह सकते हैं।

भारतीय दर्शनों में अधिकार का भेद

(६) *भारतीय दर्शनों की विशेषताएँ*

दर्शन ही किसी देश की सभ्यता तथा संस्कृति को गौरवान्वित करता है। दर्शन की उत्पत्ति स्थान-विशेष के प्रचलित विचारों से होती है। अतः, दर्शन में सामाजिक विचारों की छाप अवश्य पाई जाती है। भारतीय दर्शनों में मत-भेद तो अवश्य है, किन्तु भारतीय संस्कृति की छाप रहने के कारण उनमें साम्य भी पाया जाता है। इस साम्य को हम भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य कह सकते हैं। इसे भली-भाँति समझने के लिये इसके मुख्य-मुख्य लक्षणों का विचार करना परम आवश्यक है।

भारतीय दर्शनों का नैतिक तथा आध्यात्मिक साम्य

(१) भारतीय दर्शनों का सबसे महत्त्व-पूर्ण तथा मूल-भूत साम्य यह है कि वे सभी पुरुषार्थ-साधन के लिये हैं। इसका विचार अंशतः हम ऊपर कर चुके हैं। भारत के सभी दर्शन मानते हैं कि दर्शन जीवन के लिये बहुत उपयोगी होता है। अतः, जीवन के लक्ष्य को समझने के लिये दर्शन का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति नहीं है, बल्कि किस प्रकार मनुष्य दूर-दृष्टि, भविष्य-दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि के साथ जीवन-यापन कर सके—इसी की शिक्षा देना है। यही कारण है कि भारत के ग्रन्थकार अपने-अपने ग्रन्थों के प्रारम्भ में यह बता देते हैं कि उनके ग्रन्थों से पुरुषार्थ-साधन में क्या सहायता मिल सकती है।

भारतीय दर्शनों का उद्देश्य

कुछ पाश्चात्य विद्वानों * का कथन है कि भारतीय दर्शन मानो केवल नीति-शास्त्र या धर्म-शास्त्र है। यह सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। भारतीय दर्शनों में व्यावहारिक उद्देश्य अवश्य है। किन्तु, हम इसका मिलान नीति-शास्त्र या धर्म-शास्त्र से नहीं कर सकते। भारतीय दर्शनों में युक्ति-विचार (Theories) की उपेक्षा नहीं की गई है। भारतीय तत्त्व-विज्ञान, प्रमाण-विज्ञान तथा तर्क-विज्ञान विचारों की दृष्टि से किसी भी पाश्चात्य दर्शन से हीन नहीं हैं।

(२) भारतीय दर्शनों के व्यावहारिक उद्देश्य की प्रधानता का कारण इस प्रकार है। संसार में अनेक दुःख हैं, जिनसे जीवन सर्वथा अंधकारमय बना रहता है। दुःखों के कारण मन में सर्वथा अशान्ति बनी रहती है। मानसिक अशान्ति से विचार की उत्पत्ति होती है। वेद-विहित या वेद-विरोधी जितने भी दर्शन हैं सबों में दुःख-निवारण के लिये ही विचार की उत्पत्ति हुई

आध्यात्मिक असंतोष से दर्शन की उत्पत्ति होती है।

* Thilly का History of Philosophy, पृष्ठ २ तथा Stace का A Critical History of Greek Philosophy, पृष्ठ १४ देखिये।

है। मनुष्य के दुःखों का क्या कारण है—इसे जानने के लिये भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह नाश हो—इसके लिये सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्त्वों का अनुसंधान करते हैं।

क्या भारतीय दर्शन नैराश्य-वादी है?

नैराश्यवाद मन की एक प्रवृत्ति है जो जीवन को विषादमय समझती है। कुछ लोगों का कथन है कि भारतीय दर्शन पूरा नैराश्यवादी है। अतः, व्यावहारिक जीवन पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। किन्तु, यह विचार सर्वथा असत्य है। हाँ भारतीय दर्शन इस अर्थ में अवश्य नैराश्यवादी है कि वह संसार की वस्तु-स्थिति को देखकर विकल और व्यथित हो जाता है। किन्तु, वह यथार्थतः निराश नहीं होता वरं संसार की दुःखमय परिस्थिति को दूर करने के लिये पूरा प्रयत्न करता है।

मनुष्य साधारणतः अपने उद्वेगों एवं तृष्णाओं के वशीभूत हो जीवन व्यतीत करता है। उसके उद्वेग अज्ञान से भरे होते हैं, तथा उसकी तृष्णाएँ सहज शान्त नहीं होती हैं। फल यह होता है कि उसके दुःखों का अन्त नहीं होता है। वे अधिकाधिक बढ़ते ही जाते हैं। कोई भी दर्शन इस प्रकार जीवन को सर्वथा दुःखमय बतलाकर निश्चिन्त नहीं हो सकता। भारतवर्ष का प्राचीन नाटक भी शायद ही दुःखान्त होता था। यह भी भारतीय दार्शनिक विचार-धारा का ही प्रभाव जान पड़ता है। हम अज्ञानवश जिन दुःखों का भोग करते हैं उनका विशद वर्णन भारतीय दर्शनों में अवश्य किया गया है। किन्तु, साथ-साथ उनसे आशा का संदेश भी मिलता है। इन विचारों का सारांश महात्मा बुद्ध के चार आर्यसत्यों में पाया जाता है। महात्मा बुद्ध के समस्त ज्ञान का निचोड़ उनके आर्य-सत्यों में ही मिलता है। ये इस प्रकार हैं—(१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का निरोध है। (४) दुःख-निरोध का मार्ग है। इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन की उत्पत्ति

नैराश्य से है, किन्तु अन्त में वह आशा ही का मार्ग दिखलाता है युक्तिहीन आशावाद की अपेक्षा नैराश्यवाद का प्रभाव ही जीवन पर अधिक हितकर है*। एक प्रख्यात अमेरिकन अध्यापक कहते हैं कि नैतिक दृष्टि से आशावाद नैराश्यवाद की अपेक्षा हेय प्रतीत होता है। क्योंकि नैराश्यवाद विपत्तियों से सावधान कर देता है, किन्तु आशावाद झूठी निश्चिन्तता में सुला देता है।

भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा नराश नहीं होते, वरं जिसके कारण उनमें आशा का बराबर संचार होता रहता है। इसे हम विलियम जेम्स के शब्दों में अध्यात्मवाद (Spiritualism) कह सकते हैं। जेम्स साहब के अनुसार अध्यात्मवाद उसे कहते हैं जो यह विश्वास दिलाता है कि जगत् में एक शाश्वत नैतिक व्यवस्था है और जिससे प्रचुर आशा मिलती रहती है।

हमारी जितनी आकांक्षाएँ हैं उनमें नैतिक व्यवस्था की आकांक्षा भी सम्मिलित है। दाँते और वर्ड्सवर्थ जैसे महाकवियों को नैतिक व्यवस्था के अस्तित्व में पूरा-पूरा विश्वास था। यही कारण है कि उनकी कविताओं में एक अलौकिक शक्ति पाई जाती है जिससे पाठकों में स्फूर्ति बढ़ती है और उनके हृदय में आशा का संचार होता है।

जगत् की शाश्वत नैतिक व्यवस्था

भारत के सभी दर्शनों में नैतिक व्यवस्था के प्रति विश्वास एवं श्रद्धा का भाव वर्त्तमान है। चार्वाक का भौतिकवाद ही इसका एकमात्र अपवाद है। चार्वाक के अतिरिक्त और जितने भारतीय दर्शन हैं—चाहे वे वैदिक हों या अवैदिक, ईश्वरवादी हों या अनीश्वरवादी—श्रद्धा एवं विश्वास की भावना से ओतप्रोत हैं।

यह नैतिक व्यवस्था सार्वभौम है। यही विश्व की शृंखला और धर्म का मूल है। यही देवताओं में, ग्रह-नक्षत्रों में तथा

* विशद वर्णन के लिये प्रो० राधाकृष्णन का Indian Philosophy प्रथम भाग, पृष्ठ ४६-५० देखिये।

अन्यान्य वस्तुओं में वर्त्तमान है। वैदिक काल में भी इसके प्रति लोगों की श्रद्धा थी। ऋग्वेद की ऋचाएँ इसे प्रमाणित करती हैं। इस अलंघ्य नैतिक व्यवस्था को ऋग्वेद में 'ऋत' कहते हैं। वैदिक काल के बाद मीमांसा में इसे 'अपूर्व' कहते हैं। वर्त्तमान जीवन के कर्मों का उपभोग परवर्त्ती जीवन में अपूर्व के द्वारा ही किया जा सकता है। न्याय-वैशेषिक में इसे 'अदृष्ट' कहते हैं, क्योंकि यह दृष्टि-

ऋत, अपूर्व, अदृष्ट तथा कर्म

गोचर नहीं होता। इसका प्रभाव परमाणुओं पर भी पड़ता है। वस्तुओं का उत्पादन तथा घटनाओं का उपक्रम इसी के अनुसार होता है। यही नैतिक व्यवस्था आगे चलकर कर्मवाद कहलाती है। कर्मवाद को प्रायः भारत के सभी दर्शन मानते हैं। कर्मवाद के अनुसार नैतिक उत्कर्ष, अर्थात् कर्मों के धर्म तथा अधर्म सर्वथा सुरक्षित रहते हैं। इसके अनुसार 'कृत-प्रणाश' तथा 'अकृताभ्युपगम' नहीं होता। अर्थात् किये हुए कर्म का फल नष्ट नहीं होता और बिना किये हुए कर्म का फल नहीं मिलता। हमारे कर्मों के फल का कभी नाश नहीं होता और हमारे जीवन की घटनाएँ हमारे अतीत कर्मों के अनुसार ही घटित होती हैं। जैन तथा बौद्ध भी कर्मवाद को मानते हैं।❀

❀ कर्म शब्द के दो अर्थ हैं। एक अर्थ से कर्म के नियम का बोध होता है। दूसरे अर्थ से कर्म से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसका बोध होता है। इसी शक्ति के द्वारा कर्मफल उत्पन्न होते हैं। दूसरे अर्थ के अनुसार कर्म के तीन भेद हैं—(१) संचित कर्म (२) प्रारब्ध कर्म, तथा (३) संचीयमान कर्म। (१) सचित कर्म उस कर्म शक्ति को कहते हैं जो अतीत कर्मों से उत्पन्न होती है, किन्तु जिसके फलों का प्रारम्भ नहीं हुआ रहता। (२) प्रारब्ध कर्म भी पूर्व जीवन में ही उत्पन्न होता है किन्तु उसके फलों का प्रारम्भ इस जीवन में हो चुका रहता है। यथा—वर्त्तमान शरीर तथा धन-सम्पत्ति। (३) संचीयमान या क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जिसका संचय वर्त्तमान जीवन में होता है।

डेनमार्क के प्रसिद्ध दार्शनिक हेराल हेफडिङ्ग (Harold Hoffding) धर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं—'मनुष्य के अच्छे या बुरे कर्मों का फल नष्ट नहीं होता' ऐसे विधान में विश्वास का नाम ही धर्म है। ❀ इस तरह के विश्वास के कारण ही जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म अनीश्वरवादी होते हुए भी धर्म कहे जा सकते हैं।

नैतिक व्यवस्था से आशा की उत्पत्ति

'संसार में नैतिक व्यवस्था है' यह विश्वास होने से ही लोगों में आशा का संचार होता है। ऐसी हालत में लोग अपने को ही अपना भाग्य-निर्माता समझते हैं। भारतवासी अपने वर्त्तमान जीवन के दुःखों को अपने पूर्ववर्त्ती जीवन के बुरे कर्मों का परिणाम मानते हैं तथा वर्त्तमान जीवन के सुकर्मों से अपने भविष्य जीवन को सुखमय बनाने की आशा रखते हैं। मनुष्य-जीवन में इच्छा की स्वतंत्रता तथा पुरुषकार दोनों ही संभव हैं। इससे यह स्पष्ट है कि कर्मवाद का अर्थ भाग्यवाद या नियतिवाद नहीं है।

(४) भारतीय दर्शनों का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसके अनुसार संसार मानो एक रंगमंच है जिसमें मनुष्यों को कर्म करने का अवसर मिलता है। जिस तरह रंगमंच पर नाटक के पात्र सजधज कर आते हैं और

संसार मानों एक रंग-मंच है

पात्र-भेद के अनुसार नाट्य करते हैं, उसी तरह मनुष्य इस संसार के मंच पर शरीर, इन्द्रिय आदि उपकरणों से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढंग से करे जिससे उसका वर्त्तमान तथा भविष्य सुखमय हो। शरीर, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, वाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं, किन्तु उनकी प्राप्ति पूर्वार्जित कर्म के अनुसार ही होती है।

(५) भारतीय दर्शनों की एक समानता यह भी है कि वे अज्ञान को बंधन का कारण मानते हैं। अर्थात् तत्त्वज्ञान के अभाव से ही शरीर-बंधन होता है और दुःखों की उत्पत्ति होती है। इनसे मुक्ति तभी मिल सकती है जब संसार तथा आत्मा का तत्त्वज्ञान प्राप्त हो। पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना तथा जीवन के दुःखों को सहना ही मनुष्य के लिये बंधन है। पुनर्जन्म की संभावना का नाश मोक्ष से ही हो सकता है। जैनमत, बौद्धमत, सांख्य तथा अद्वैत वेदान्त के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती है। अर्थात् यथार्थ सुख जीवन-काल में भी प्राप्त हो सकता है।

अज्ञान बंधन का कारण है। अतः तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है

बंधन से मोक्ष पाने की जो शिक्षा दी गई है उसका तात्पर्य यह नहीं कि हम संसार से पराङ्मुख होकर केवल परलोक-चिंता में लगे रहें। वरं इसका तात्पर्य यह है कि हम इहलोक तथा इहकाल को अधिक महत्त्व न दें। अपनी दृष्टि को केवल इस लोक में सीमित न रक्खें और अदूरदर्शिता से बचें।

मनुष्य के दुःखों का मूल कारण अज्ञान है। अतः दुःखों को दूर करने के लिये ज्ञान की प्राप्ति परमावश्यक है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दुःखों को दूर करने के लिये केवल तत्त्वज्ञान काफी है। तत्त्वज्ञान को स्थायी तथा सफल बनाने के लिये दो तरह के अभ्यासों की आवश्यकता है। (१) निदिध्यासन अर्थात् स्वीकृत सिद्धान्तों का अनवरत चिंतन। तथा (२) आत्म-संयम।

(६) जीवन के आदर्श को प्राप्त करने के लिये एकाग्र चिंतन तथा ध्यान की इतनी अधिक आवश्यकता है कि भारतीय दर्शन में इनके लिये एक बड़ी साधन-पद्धति का विकास हुआ है। इस पद्धति का विस्तृत वर्णन योग दर्शन में मिलता है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि इसका वर्णन केवल योगदर्शन में ही पाया जाता है। बौद्ध, जैन, सांख्य, वेदान्त तथा न्याय-वैशेषिक

अज्ञान को दूर करने के लिये निदिध्यासन आवश्यक है

दर्शनों में भी इसका वर्णन किसी न किसी रूप में पाया जाता है। केवल तार्किक युक्ति के द्वारा जो दार्शनिक सिद्धान्त स्थापित होते हैं, वे स्थायी नहीं होते। उनका प्रभाव क्षणिक होता है। अतः कोरे तत्त्वज्ञान से ही अज्ञान का नाश नहीं होता। भ्रान्त संस्कार वश दैनिक जीवन बिताने के कारण हमारा अज्ञान और बद्धमूल हो जाता है। इसलिये हमारे विचार, वचन तथा कर्म अज्ञान के रंग में रंग जाते हैं। फल यह होता है कि विचार, वचन तथा कर्म से पुष्ट होने के कारण अज्ञान और भी दृढ़तर होता जाता हैं। ऐसे प्रबल अज्ञान का निराकरण करने के लिये तत्त्वज्ञान का निरंतर अनुशीलन आवश्यक है। जिस प्रकार चिरंतन सामाजिक प्रपंचों में संलग्न रहने से मिथ्याज्ञान या कुसंस्कार की पुष्टि होती है, उसी प्रकार विपरीत दिशा में दीर्घकालीन चिंतन एवं अभ्यास के द्वारा ही उनका क्षय तथा नाश हो सकता है। अतः ज्ञान की परिपक्वता के लिये निरंतर साधना की आवश्यकता है। साधना के बिना न तो अज्ञान का नाश ही हो सकता है न तत्त्वज्ञान के प्रति हमारा विश्वास ही जम सकता है।

(७) सिद्धान्तों का एकाग्रचित्त से मनन करने के लिये तथा उन्हें जीवन में चरितार्थ करने के लिये आत्मसंयम की आवश्यकता है। सोक्रेटिस (Socrates) का कथन है कि ज्ञान ही धर्म है (Virtue is knowledge)। किंतु उनके अनुयायियों का उनसे मतभेद था। उनके अनुयायियों का कथन था कि तत्त्वज्ञान प्राप्त होने से ही धर्म नहीं होता है। हमारे कर्म स्वभावतः धार्मिक नहीं होते। उनकी उत्पत्ति बहुधा वासनाओं तथा नीच प्रवृत्तियों के कारण होती है। अतः जबतक तृष्णाओं तथा नीच प्रवृत्तियों का पूर्ण नियंत्रण नहीं हो तब तक हमारे कर्म पूर्णतया नैतिक या धार्मिक नहीं हो सकते। इस विचार को चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मानते हैं। ठीक ही कहा है कि —

आत्म-संचय से वासनाओं का निरोध

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः।
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः॥"

सांसारिक वस्तुओं के मिथ्या-ज्ञान से वासनाओं तथा कुसंस्कारों की उत्पत्ति होती है। उनके वशीभूत होने के कारण हमारे कर्म तथा वचन हमारे सिद्धान्तों के अनुसार नहीं होते। भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य की वासनाओं तथा कुसंस्कारों का भिन्न-भिन्न ढंग से वर्णन किया है किन्तु सबों ने राग तथा द्वेष को ही प्रमुख माना है। साधारणतः हमारे कर्म राग-द्वेष से ही उत्पन्न होते हैं। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ ❀ राग-द्वेष के अनुसार ही कार्य करती हैं। इन प्रवृत्तियों के अनुसार बराबर कार्य करते रहने से ये और तीव्र हो जाती हैं। संसार-सम्बन्धी मिथ्याज्ञान का तथा रागद्वेष जैसी प्रवृत्तियों का नाश तत्त्वज्ञान से ही हो सकता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के बाद ही इन्द्रियों के पुराने अभ्यास दूर हो सकते तथा उनका विवेक-मार्ग पर चलना संभव हो सकता है। यह सही है कि इन्द्रियों का विवेक-मार्ग पर-चलना नितान्त कठिन है, किन्तु यह परम वांछनीय है। इसके लिये अखण्ड अभ्यास तथा सदाचार की आवश्यकता है। अतः भारतीय दार्शनिक अभ्यास को अत्यधिक महत्व देते हैं। उचित दिशा में अखण्ड प्रयत्न करना ही 'अभ्यास' है।

मन, राग-द्वेष, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय का नियंत्रण ही आत्म-संयम कहलाता है। आत्म-संयम का अर्थ इन्द्रियों की वृत्तियों का केवल निरोध करना ही नहीं है, परन्तु उनकी कुप्रवृत्तियों का दमन कर उन्हें विवेक के मार्ग पर चलाना है।

कुछ लोग कहते हैं कि भारतीय दर्शन आत्म-निग्रह तथा संन्यास ही सिखलाता है और मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का उच्छेद आवश्यक समझता है। किन्तु यह दोषारोपण युक्ति-सम्मत नहीं

❀ ज्ञानेन्द्रियाँ—मन चक्षु त्वचा, नासिका, जिह्वा तथा कर्ण।
कर्मेन्द्रियाँ—मुख हस्त, पाद, वायु, तथा उपस्थ।

है। उपनिषद-युग के समय से ही भारतीय दार्शनिक यह मानते आ रहे हैं कि यद्यपि मनुष्य-जीवन में आत्मा ही सर्वश्रेष्ठ है तथापि मनुष्य का अस्तित्व शरीर, प्राण मन आदि पर भी निर्भर करता है। एक ऋषि ने यहाँ तक कहा था कि अन्न के विना चिंतन भी संभव नहीं है। वे यह नहीं कहते थे कि हमारी प्रवृत्तियों का नाश हो जाय, वरं वे उनके सुधार की शिक्षा देते थे जिसमें हम धार्मिक विचारों का अनुशीलन कर सकें। प्रवृत्तियों को बुरे मार्ग से हटाने के साथ-साथ अच्छे कर्म करने का भी निर्देश रहता था। ऐसा निर्देश हमें योग जैसे कट्टरपंथी मत में भी मिलता है। योग दर्शन में योगाङ्गों के नाम से 'यम' तथा 'नियम' दोनों का उपदेश है। यम तो निवृत्तिमूलक है, किन्तु सा‍थ साथ नियमों के पालन का भी निर्देश है। यम पाँच हैं—(१) हिंसा नहीं करनी चाहिये। (२) झूठ नहीं बोलना चाहिये। (३) चोरी नहीं करनी चाहिये। (४) काम-वासना में नहीं पड़ना चाहिये। (५) लोभ नहीं करना चाहिये। इन पाँच यमों के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के पालन का उपदेश दिया गया है। किन्तु इनके साथ-साथ नियमों के पालन का भी निर्देश है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये पाँच नियम हैं। यह केवल योगदर्शन में ही नहीं, वरं अन्यान्य आस्तिक दर्शनों, बौद्ध एवं जैन मतों में भी पाया जाता है। अन्य दर्शनों में भी अहिंसा, मैत्री, तथा करुणा को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। गीता में भी इन्द्रियों को निष्क्रिय बनाने की शिक्षा नहीं दी गई है, वरं उन्हें विवेक के अनुसार परिचालित करने का उपदेश दिया गया है।

* "रागद्वेषविमुक्तै स्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैः विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥"

---

* गीता अध्याय २ श्लोक ६४

जो व्यक्ति इन्द्रियों को रागद्वेष से रहित कर तथा अपने वश में लाकर आत्मविजयी हो जाते हैं वे इन्द्रियों के द्वारा विषयों का भोग करते हुए भी प्रसाद या संतोष प्राप्त करते हैं।

(८) चार्वाक के अतिरिक्त और सभी भारतीय दर्शन मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। किन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुःखों का नाश हो जाता है। किन्तु कुछ दर्शनों के अनुसार मोक्ष से केवल दुःखों का नाश ही नहीं होता वरं आनन्द की भी प्राप्ति होती है। वेदान्त, जैन आदि मतों के अनुसार मोक्ष से आनन्द की प्राप्ति होती है। कुछ विद्वानों का कथन है कि बौद्धों का भी यही मत था।

मुक्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य है

(७) भारतीय दर्शन में देश-काल का विचार

महत्ता

नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों की समानता के साथ-साथ भारतीय दर्शनों में यह भी एक सादृश्य है कि वे देश तथा काल को अनन्त मानते हैं। देश तथा काल की अनन्तता का प्रभाव भारतीय दर्शनों के नैतिक तथा आध्यात्मिक विचारों पर बहुत अधिक पड़ा है।

पाश्चात्य देशों के कुछ लोगों का मत था कि संसार की सृष्टि प्रायः छः हजार वर्ष पूर्व हुई है तथा केवल मनुष्य के लिये ही हुई है। किन्तु यह मत अत्यन्त संकीर्ण है। इस मत के अनुसार मनुष्य को अधिक महत्त्व दे दिया गया है। डारविन प्रभृति जीव-विज्ञान के पण्डितों के आविष्कारों के द्वारा सृष्टिवाद का खंडन हो जाता है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार संसार के सभी जीवों की सृष्टि एक साथ नहीं हुई है वरं उनका क्रमिक विकास हुआ है। इनके विकास में लाखों वर्ष लगे हैं। ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार विश्व बहुत ही विस्तृत

तथा व्यापक है। इसके व्यास की लम्बाई करोड़ों किरण-वर्षों❀ की मानी जाती है। निखिल विश्व में सूर्य एक कण मात्र है। पृथ्वी उस कण के दश लाख भागों में एक भाग है। ज्योतिर्विज्ञान के विद्वानों का कथन है कि आकाश में जो वाष्पपुंज दृष्टिगोचर होता हैं उसके एक-एक कण से एक-एक सौ करोड़ सूर्यों की सृष्टि हो सकती है।

देश-काल की इस विशालता को समझने में हमारी कल्पना शक्ति पराभूत हो जाती है। पुराणों में भी इसका वर्णन आया है। यदि इस विशालता का समर्थन आधुनिक विज्ञान से नहीं हुआ होता तो संभव था कि हम इसे कपोल-कल्पना मात्र समझते।

विष्णुपुराण में विश्व की बृहत्ता का विशद वर्णन किया गया है। इसके अनुसार यह पृथ्वी एक लोक है। चौदह लोकों का एक ब्रह्माण्ड होता है। दो लोकों के मध्य करोड़ों ब्रह्माण्ड सम्मिलित हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह भारतीय भी काल की अनन्तता का वर्णन साधारण लौकिक ढंग से नहीं करते थे। सृष्टि-काल की माप के लिये ब्रह्मा का एक दिन मानदण्ड माना गया है। उनका एक दिन १००० युगों के अर्थात् ४३२०००००० वर्षों तक कायम रहता है। सृष्टि का अन्त होने पर ब्रह्मा की रात का प्रारम्भ होता है। इसे प्रलय कहते हैं। इस तरह के रात-दिन अर्थात् सृष्टि-प्रलय अनादि काल से होते आ रहे हैं।

सृष्टि का आदि-निर्णय नहीं हो सकता। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि सृष्टि का प्रारम्भ अमुक समय में हुआ। जो ही

❀ J. H. Jeans की Nature नामक पत्रिका देखिये। एक किरण-वर्ष ५, ८७५, ९४५ २००,००० मील के बरा-बर है। किरण की गति प्रति सेकण्ड १८६३२५ मील है। इसलिये एक वर्ष में किरण की गति = ६० × ६० × २४ × ३६५ × १८६३२५ मील = ५, ८७५, ९४५, २००,००० मील है।

समय इसके लिये निर्धारित किया जायगा वही संदिग्ध होगा; क्योंकि यह सर्वथा संभव है कि सृष्टि का प्रारम्भ निर्धारित समय के पूर्व ही हुआ हो। अतः प्रमाणाभाव कारण भारतीय पण्डित सृष्टि-क्रम को अनादि मानते हैं। वर्त्तमान सृष्टि के पहले अनेक सृष्टियाँ हुई हैं तथा अनेक प्रलय भी हुए हैं। अर्थात् वर्त्तमान सृष्टि का प्रारम्भ अनेक सृष्टियों तथा प्रलयों के बाद हुआ है। चूँकि सृष्टि और प्रलय का क्रम अनादि है, इसलिये आदि सृष्टि का कालनिरूपण बिलकुल व्यर्थ है। किसी भी अनादि क्रम में आदि का अन्वेषण सर्वथा निरर्थक होता है क्योंकि अनादि में आदि का अस्तित्व ही नहीं रहता है।

विश्व की अनन्त व्यापकता से प्रभावित होकर भारतीय विद्वानों ने पृथ्वी को अत्यन्त नगण्य माना है। संसारिक जीवन तथा लौकिक वैभव को भी नश्वर तथा महत्त्वहीन समझा है। अनन्त आकाश में पृथ्वी एक विन्दु-मात्र है। जीवन मानो काल-समुद्र में एक छोटी सी लहरी है। इस समुद्र में जीवन रूपी अनेक लहरियाँ आती हैं और जाती हैं। किन्तु विश्व की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। शताब्दियों तक कायम रहनेवाली सभ्यता भी कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। इस भूतल पर एक ही सत्ययुग नहीं हुआ है। सृष्टि और प्रलय के अनादि क्रम में न मालूम कितने सत्ययुग आये हैं। यह सही है कि सत्ययुग के साथ-साथ कलियुग भी आये हैं। किंतु काल चक्र के साथ-साथ सभ्यता का विकास और विनाश, उत्थान और पतन होता ही रहता है।

इन विचारों का प्रभाव तत्त्वविज्ञान पर बहुत अधिक पड़ा है। दार्शनिकों का मत है कि वर्त्तमान जगत् की उत्पत्ति पूर्ववर्ती जगत् से हुई है। अतः वर्त्तमान जगत् के ज्ञान के लिये पूर्ववर्त्ती जगत् का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। दूसरा प्रभाव यह भी पड़ा है कि दर्शन को अनन्त के अनुसन्धान की पूरी प्रेरणा मिली है। धार्मिक विषयों पर

भी इन विचारों का काफी प्रभाव पड़ा है, जिससे भारतीय मनीषी, जीवन को व्यापक और निर्लिप्त दृष्टि से देखते हैं। इसी व्यापक दृष्टि से प्रभावित होकर वे इस परिवर्त्तनशील संसार को शाश्वत नहीं समझते हैं तथा अनित्य की अपेक्षा नित्य पर ही उनका ध्यान लगा रहता है।

२. भारतीय दर्शनों का सिंहावलोकन

(१) चार्वाक दर्शन

चार्वाक जड़वादी को कहते हैं। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि जितने अप्रत्यक्ष प्रमाण हैं, सभी अमान्य तथा भ्रममूलक हैं। अत: प्रत्यक्ष से ज्ञात वस्तुओं के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु के अस्तित्व को नहीं माना जा सकता।

प्रत्यक्ष के द्वारा हमें भौतिक जगत् का ज्ञान मिलता है। जड़ जगत् चार प्रकार के भौतिक तत्त्वों से बना हुआ है। वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये ही चार प्रकार के भौतिक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है। संसार के जितने द्रव्य हैं, सभी इन्हीं चार तत्त्वों से बने हुए हैं। आत्मा के अस्तित्व के लिये कोई भी प्रमाण नहीं है। मनुष्य पूर्णतया भूतों से ही बना हुआ है। 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं क्षीण हूँ', 'मैं पंगु हूँ',—इन वाक्यों से यह बिलकुल साफ है कि मनुष्य और उसके शरीर में कोई भेद नहीं है। मनुष्य में चैतन्य है, किन्तु चैतन्य मनुष्य-शरीर का विशेष गुण है। चैतन्य की उत्पत्ति भौतिक तत्त्वों से ही होती है। कुछ लोग कहते हैं कि भौतिक तत्त्व अचेतन होता है। अतः उससे बनी चीजें चेतन नहीं हो सकती। किन्तु यह सत्य नहीं है। कई वस्तुओं के

मिलाने से एक नया वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है। इस तरह से

उत्पन्न वस्तुओं में नये गुणों का भी आविर्भाव हो सकता है। एक ही वस्तु की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में नये नये गुणों की उत्पत्ति हो सकती है। यद्यपि लाल रंग न तो पान में, न सुपारी में, न चूने में है, फिर भी उसको एक साथ चबाने से लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। गुड़ में मादक गुण नहीं है। फिर भी गुड़ के सड़ जाने से उसमें मादक गुण की उत्पत्ति हो जाती है। इसी तरह भौतिक तत्त्वों का जब विशेष ढंग से मिश्रण होता है, तब जीव-शरीर का निर्माण होता है, और उसमें चैतन्य का भी संचार हो जाता है। शरीर के नष्ट होने पर चैतन्य भी नष्ट हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता। अतः मृत्यु के बाद कर्मों के फल-भोग की कोई संभावना ही नहीं है।

यह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि मृत्यु के बाद मनुष्य का कुछ भी अवशिष्ट रहता है। ईश्वर का अस्तित्व भी सत्य नहीं है, क्योंकि ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ईश्वर का अस्तित्व अप्रमाणित होने पर संसार की सृष्टि का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। चार्वाक मत के अनुसार संसार का निर्माण भूतों के सम्मिश्रण से स्वतः होता है। इन विचारों से यह भी स्पष्ट है कि ईश्वर की आराधना तथा स्वर्ग की कामना निरर्थक बातें हैं। वेदों में तथा पुरोहितों में किसी प्रकार की श्रद्धा रखना मूर्खता है। पुरोहित तो मनुष्य की श्रद्धा-भावना से अनुचित लाभ उठाकर अपनी जीविका निर्वाह करते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिये कि अधिक से अधिक सुख-प्रप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनावें। अन्य लक्ष्यों की अपेक्षा सुख-प्राप्ति ही अधिक निश्चित है। सुखों का परित्याग इसलिये नहीं करना चाहिये कि वे दुःखों से मिले रहते हैं। भूँसे के कारण अन्न का परित्याग नहीं किया जा सकता है। पशुओं के द्वारा चरे जाने के डर से अनाज का बोना नहीं छोड़ा जाता है। जीवन को अधिक से अधिक सुखमय बनाने का तथा दुःखों से अधिक से अधिक दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिये।

(२) जैन-दर्शन

जैन-मत का आरम्भ ऐतिहासिक युग के पूर्व ही हुआ है। जैन-मत के प्रवर्त्तकों का एक लम्बा क्रम था। उसमें २४ तीर्थङ्कर थे। ये मुक्त होते थे। ये अपने मत का प्रचार भी किया करते थे। वर्द्धमान इस क्रम के २४ वें तीर्थङ्कर थे। वे महावीर के नाम से भी विख्यात हैं। वे गौतम बुद्ध के समसामयिक थे।

हम देख चुके हैं कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इनका कथन है कि अनुमान और शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता क्योंकि इनसे कभी-कभी यथार्थज्ञान नहीं मिलता है। जैन दार्शनिक इन विचारों को नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि उपर्युक्त युक्ति के अनुसार तो प्रत्यक्ष को भी प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष भी कभी-कभी भ्रमपूर्ण होता है। चार्वाक अनुमान का विरोध तो करते हैं, किन्तु स्वयं अनुमान का प्रयोग करते हैं। वे कहते हैं कि कुछ अनुमान भ्रममूलक हैं। अतः सभी अनुमान भ्रममूलक हैं। क्या यह अनुमान नहीं है? वे यह भी कहते हैं कि हम जिन वस्तुओं को नहीं देख पाते हैं उनका अस्तित्व नही है। अर्थात् अमुक वस्तु दृष्टि-गोचर नहीं है, अतः उसका अस्तित्व नहीं है। क्या यह अनुमान नहीं है? जैन दार्शनिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और शब्द को भी प्रमाण मानते हैं। अनुमान जब तर्कविज्ञान के नियमों के अनुसार होता है तब उससे यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति होती है। शब्द-प्रमाण तब सत्य होता है जब वह आप्त अर्थात् विश्वासयोग्य पुरुषों का वाक्य होता है। जैनों के अनुसार आध्यात्मिक विषयों का यथार्थज्ञान प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा नहीं प्राप्त हो सकता। इसके लिये सर्वज्ञ तथा मुक्त जिनों या तीर्थङ्करों के उपदेश ही प्रमाण हैं।

इन्हीं तीन प्रमाणों के आधार पर जैन-दर्शन अवलम्बित है। प्रत्यक्ष के द्वारा भौतिक द्रव्यों का ज्ञान होता है। चार्वाक की तरह जैन भी मानते हैं कि भौतिक द्रव्य चार प्रकार के तत्त्वों के मिश्रण

से बनते हैं। अनुमान के द्वारा आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म का ज्ञान होता है। भौतिक द्रव्यों की स्थिति के लिये स्थान आवश्यक है। इस युक्ति से आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। द्रव्यों की अवस्थाओं का क्रमिक परिवर्त्तन काल के बिना नहीं हो सकता। इस युक्ति से काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। धर्म तथा अधर्म क्रमशः गति तथा स्थिति के कारण हैं। इनका भी अस्तित्व निर्विवाद है, क्योंकि किसी अनुकूल कारण के बिना द्रव्यों में गति या स्थिति नहीं आ सकती। धर्म और अधर्म को यहाँ सामान्य अर्थ में नहीं लेना चाहिये। वरं एक विशेष अर्थ में लेना चाहिये। यहाँ धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति के कारण के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। भौतिक द्रव्य (पुद्गल), आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म के अतिरिक्त और भी एक प्रकार का द्रव्य है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित है कि प्रत्येक सजीव द्रव्य में एक चेतन वस्तु या जीव है। नारंगी के गुणों—अर्थात् उसके रंग, आकार, गन्ध—को देखकर हम कहते हैं कि हम नारंगी को देख रहे हैं। उसी प्रकार जब हम सुख, दुःख आदि अनेक आत्मगत गुणों का अनुभव करते हैं तो हम कह सकते हैं कि हमें अपने जीव या आत्मा का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से नहीं हो सकती। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि जड़ पदार्थों के संयोग से चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ हो। चार्वाक मत के अनुसार भी हम इसे नहीं मान सकते। क्योंकि प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है और ऐसा एक भी दृष्टान्त नहीं है जिसमें भौतिक पदार्थों के योग से चेतना की उत्पत्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ हो। जीव के अस्तित्व को हम इस प्रकार सिद्ध कर सकते हैं। यदि कोई चेतन शक्ति नहीं होती तो केवल भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से सजीव शरीर का निर्माण नहीं हो सकता। साथ-साथ बिना जीव के परिचालन से शरीर तथा इन्द्रियाँ नियमित ढंग से कार्य भी नहीं कर सकती हैं।

अतः जितने सजीव शरीर हैं उतने ही जीव हैं। जैनों के अनुसार केवल मनुष्य तथा पशुपक्षियों में जीव नहीं है, वरं पेड़-पौधों तथा धूल-कणों में भी जीव है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी धूलिकणों तथा अन्यान्य भौतिक पदार्थों में भी जीवाणु पाये जाते हैं। सभी जीव समान प्रकार से चेतन नहीं हैं। वनस्पतियों तथा मिट्टी के टुकड़ों में जो जीव पाये जाते हैं, वे एकेन्द्रिय होते हैं। उन्हें केवल स्पर्शेन्द्रिय होता है। अतः उनको केवल स्पर्शबोध होता है। कुछ निम्न श्रेणी के पशुओं को दो इन्द्रियाँ होती हैं। पशुओं को क्रमशः तीन तथा चार इन्द्रियाँ भी होती हैं। मनुष्य को तथा उच्च वर्ग के जन्तुओं को पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। इन्हीं इन्द्रियों के द्वारा वस्तुज्ञान प्राप्त होता है। किन्तु इन्द्रियाँ कितनी भी समृद्ध क्यों न हों, शरीर-बन्धन में फँसे हुए जीव का ज्ञान सीमित ही होगा। इसके चलते जीव की शक्ति भी कम रहती है तथा यह नाना प्रकार के दुःखों से आक्रान्त भी रहता है।

प्रत्येक जीव को अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख पाने की शक्ति है। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। जिस तरह मेघों के द्वारा सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो जाता है, उसी तरह जीव का आन्तरिक स्वरूप कर्मों के कारण छिप जाता है। जीव के कर्म तथा उसकी इच्छाएँ पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करती हैं। इसका फल यह होता है कि जिस तरह किसी दीपक या सूर्य का प्रकाश धूलिकणों से आच्छादित हो जा सकता है उसी तरह जीव के ऊपर पुद्गल का आवरण पड़ जाता है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि कर्म के अनुसार पुद्गल योग से जीव का बन्धन होता है। कर्मों को हटा कर जीव बन्धन-मुक्त हो सकता है तथा अपने स्वाभाविक गुणों को प्रकाशित कर सकता है।

तीर्थङ्करों के जीवन तथा उनके उपदेश इस बात के प्रमाण हैं कि मोक्ष-प्राप्ति सर्वथा सम्भव है। वे मोक्ष-प्राप्ति के लिए मार्ग-प्रदर्शक का भी काम करते हैं। बन्धन-मुक्त होने के लिये तीन

उपायों की आवश्यकता है। (१) सम्यक् दर्शन अर्थात् जैन महात्माओं के उपदेशों के प्रति श्रद्धा का भाव। (२) सम्यक् ज्ञान अर्थात् उनके उपदेशों का यथाथ बोध। (३) सम्यक् चरित्र अर्थात् नैतिक नियमों के अनुकूल आचरण। सम्यक् चरित्र का अर्थ यह है कि जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का प्रयोग करना चाहिये।

सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् शास्त्र के सम्मिलित प्रयोग से वासनाओं का नियन्त्रण होता है तथा उन कर्मों का भी नाश होता है जो जीव को पुद्गल-बद्ध किये रहते हैं। इस तरह विघ्नों के हट जाने पर जीवन का अनन्त-चतुष्टय—अर्थात् उसका अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त शक्ति तथा अनन्त आनन्द प्रस्फुटित हो उठता है। यही मोक्ष की अवस्था है।

जैन ईश्वर को नहीं मानते। ईश्वर के स्थान पर ये लोग तीर्थङ्करों को मानते हैं। क्योंकि तीर्थङ्कर भी ईश्वर की तरह सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् होते हैं। जैन इन्हें जीवन के आदर्श-स्वरूप समझते हैं।

सभी प्राणियों के प्रति दया का भाव रखना जैन धर्म का एक विशेष गुण है। इसके साथ-साथ जैन दर्शन में अन्यान्य मतों के प्रति समादर का भाव भी विद्यमान है। जैन दार्शनिकों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मक होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने पर मालूम होता है कि एक ही वस्तु के अनेक धर्म हैं। कोई वस्तु एक दृष्टि से भावात्मक है तथा दूसरी दृष्टि से अभावात्मक है। किसी वस्तु के सम्बन्ध में हम जो कुछ विचार करते हैं, उसकी सत्यता हमारी विशेष दृष्टि पर निर्भर करती है। अतः हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमारे ज्ञान तथा हमारे विचार किस तरह सीमित हुआ करते हैं। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि किसी विषय का कोई एक मत ही एकान्त सत्य है। हम लोगों को बहुत सतर्क होकर ही किसी विचार को प्रकट करना चाहिये, जिससे

उसमें कोई असत्यता आ जाने की आशंका न रहे। बल्कि हमें अपनी उक्तियों के साथ 'स्यात्' जोड़ देना चाहिये. जिससे अशुद्धि की कोई सम्भावना ही न रहे। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि दूसरों के मत भी सत्य हो सकते हैं।

जैन-दर्शन वस्तुवादी है, क्योंकि यह वाह्यजगत् के अस्तित्व को मानता है। यह बहुसत्तावादी है, क्योंकि यह अनेक तत्त्वों को मानता है। यह अनीश्वरवादी है, क्योंकि यह ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानता।

३. बौद्ध दर्शन

बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध के उपदेशों से बौद्ध दर्शन की उत्पत्ति हुई है। गौतम बुद्ध मनुष्य के रोग, जरा, मृत्यु तथा अन्यान्य दुःखों को देख कर अत्यन्त पीड़ित हुए थे। जीव के दुःखों के कारण को समझने तथा उनको दूर करने के उपायों को जानने के लिये उन्होंने वर्षों तक अध्ययन, तप और चिन्तन किया। अन्त में उन्होंने बोधि या ज्ञान प्राप्त किया, जिसका सार उनके चार आर्यसत्यों में पाया जाता है। वे सत्य ये हैं— (१) दुःख है। (२) दुःख का कारण है। (३) दुःख का अन्त है। (४) दुःख दूर करने का उपाय है।

'दुःख है' इस सत्य को किसी न किसी रूप में सभी मानते हैं। किन्तु बुद्धदेव को सूक्ष्मदृष्टि के द्वारा यह अनुभव हुआ कि दुःख केवल विशेष अवस्थाओं में ही नहीं, बल्कि संसार के सभी जीवों की सभी अवस्थाओं में विद्यमान है। जो वस्तु या जो अनुभूति सुखद मालूम पड़ती है, वह भी वास्तव में दुःखद ही है।

दूसरा सत्य है कि दुःख का कारण है। कारण-तत्त्व के अनुसन्धान के द्वारा महात्मा बुद्ध इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं। उनका कथन है कि संसार में भौतिक या आध्यात्मिक, जो भी वस्तु है, वह किसी कारण ही से उत्पन्न है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कारण से उत्पन्न न हो।

अतः संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। सभी परिवर्त्तनशील हैं। इस प्रकार हमारे जरा-मरण का भी कारण है। हमारा जन्म-ग्रहण करना ही उसका कारण है। हमारे जन्म का कारण हमारी तृष्णा है जो हमें सांसारिक विषयों की ओर खींचती है। हमारी तृष्णा ही हमें विषयलोलुप बनाती है। इसका कारण हमारा अज्ञान है। यदि हमें विषयों का ठीक-ठीक ज्ञान हो और यदि हम समझें कि वे कितनी क्षणिक और दुःखद है तो उनके प्रति हमारी तृष्णा ही न जगे। तब हमारा पुनर्जन्म न हो और इस तरह दुःखों का भी अन्त हो जाय।

तीसरा सत्य है कि दुःखों का अन्त है। यह तो स्पष्ट है। दुःखों के जब कारण हैं तो कारण के नष्ट होने पर दुःखों का अन्त होना निश्चित है।

चौथा सत्य है कि दुःख को दूर करने का उपाय है। इसे अष्टमार्ग कहते हैं। क्योंकि इसमें आठ साधन हैं। जैसे—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति (८) सम्यक् समाधि। ये आठ साधन अविद्या तथा तृष्णा को दूर करते हैं। इनके द्वारा मन को बुद्धि, दृढ़ता तथा शांति मिलती है। इस प्रकार दुःख का पूर्ण विनाश होता है और पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था को निर्वाण कहते हैं।

महात्मा बुद्ध के उपदेश इन्हीं चार आर्य सत्यों में निहित हैं। इन उपदेशों से पता चलता है कि महात्मा बुद्ध का ध्यान दार्शनिक समस्याओं के समाधान पर उतना नहीं था, जितना जीवन के दुःखों को दूर करने पर था। जब मनुष्य जरा-मरण के दुःखों से त्रस्त रहता है, उस समय दार्शनिक प्रश्नों की विवेचना करना केवल समय को नष्ट करना है। लेकिन शुष्क तर्क से दूर रहते हुए भी वे दार्शनिक विचार से अलग नहीं रहे। प्राचीन बौद्ध-ग्रन्थों से

भी पता चलता है कि महात्मा बुद्ध ने ही निम्नोक्त दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। (१) सभी विषयों का कारण है अर्थात् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो स्वयम्भूत हो। (२) सभी वस्तुएं परिवर्त्तनशील हैं। ज्यों-ज्यों उनके कारणों में परिवर्त्तन आता जाता है, त्यों-त्यों उन वस्तुओं में भी परिवर्त्तन होता जाता है। कुछ भी नित्य नहीं है। (३) अतः न तो कोई आत्मा है, न ईश्वर है, न अन्य ही कोई स्थायी सत्ता है। (४) किन्तु वर्त्तमान जीवन का क्रम चलता रहता है। वर्त्तमान जीवन से कर्म के अनुसार आगामी जीवन की उत्पत्ति होती है। जिस तरह एक वृक्ष अपने बीज के द्वारा दूसरे बीज को उत्पादित करता है, स्वयं सूख जाता है, किन्तु दूसरा कायम रहता है, उसी तरह एक जीवन से कर्म के द्वारा दूसरे जीवन की उत्पत्ति होती है।)

भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में भी महात्मा बुद्ध के अनेक अनुयायी हुए थे। अनुयायियों ने बुद्ध की शिक्षाओं के अंतर्निहित दार्शनिक विचारों की पूरी-पूरी व्याख्या की है। आगे चलकर इन अनुयायियों के अनेक सम्प्रदाय बन गये। उनमें भारत के चार संप्रदाय विख्यात हैं। हम यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय देंगे।

(१) माध्यमिक मत या शून्यवाद। इस मत के अनुसार यह संसार शून्य है। वाह्य तथा आन्तर, सभी विषय असत् हैं, इसलिये इस मत को शून्यवाद कहते हैं।

(२) योगाचार मत या विज्ञानवाद। इस मतके अनुसार वाह्य पदार्थ सभी असत्य हैं। जो वस्तु वाह्य दीख पड़ती है वह चित्त की एक प्रतीति मात्र है। किन्तु चित्त के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं हो सकता। चित्त का अस्तित्व नहीं है—यह कथन ही विरोधात्मक है। क्योंकि यह स्वयं चित्त का एक विचार है। चित्त का विचार चित्त के विना नहीं हो सकता। यदि आभ्यन्तर कोई वस्तु नहीं है तो विचार भी नहीं हो सकता। अतः चित्त को अस्वीकार करने से वदतो व्याघात हो जाता है। इस मत को विज्ञानवाद कहते हैं।

(३) सौत्रांतिक मत। इस मतके अनुसार वाह्य और आभ्यन्तर दोनों सत्य हैं। जितनी वस्तुएँ वाह्य प्रतीत होती हैं वे यदि सभी असत्य हों तो किसी भी वस्तु को देखने के लिये हमें वाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती बल्कि मनही उसके लिये पर्याप्त होता। किन्तु अपनी इच्छानुसार मन किसी वस्तु का अवलोकन नहीं कर सकता है। हम जहां कहीं जिस समय में वाह्य को देखना चाहें तो यह संभव नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि वाह्य को देखने के समय हमारे मनमें जो वाह्य की एक कल्पना है वह कल्पित नहीं है वरं उसका अस्तित्व वहि: स्थित (वाह्य) पर निर्भर करता है। वाह्य को देखते समय मन में जो वाह्य का एक मानसिक प्रतिरूप खिंच जाता है उससे हम उसके कारण का अर्थात् बाहरी वस्तु का अनुमान करते हैं। इस प्रकार हम वाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं। इसे वाह्यानुमेयवाद कहते हैं।

(४) वैभाषिक मत। इस मत में तथा सौतांत्रिक मत में बहुत कुछ समानता है। दोनों मतों के अनुसार मानसिक प्रतीतियाँ तथा वाह्य सत्ताए, सभी सत्य हैं। किन्तु किस प्रकार वाह्य पदार्थों का ज्ञान होता है--इसमें दोनों में मतभेद है। वैभाषिकों के अनुसार वाह्य वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष देखते हैं। वाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें मानसिक चित्तों या प्रतिरूपों के द्वारा अनुमान से नहीं होता। यदि किसी भी वाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता हो तो यह कभी संभव नहीं है कि मानसिक प्रतिरूपों के द्वारा हमें उनका आनुमानिक ज्ञान भी हो सके। इस मत को वाह्यप्रत्यक्षवाद कहते हैं, क्योंकि इसके अनुसार वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

धार्मिक प्रश्नों को लेकर बौद्ध मत में दो प्रसिद्ध सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ है। (१) हीनयान तथा (२) महायान। हीनयान अधिकतः दक्षिण भारत लंका, ब्रह्मा, स्याम में प्रचलित है। महायान मुख्यतः तिब्बत, चीन, तथा जापान में प्रचलित है। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद महायान के अंतर्गत हैं और सौतांत्रिक तथा वैभाषिक

हीनयान के अंतर्गत हैं। दोनों सम्प्रदायों में इस बात को लेकर मतभेद है कि निर्वाण का क्या उद्देश्य है? हीनयान के अनुसार निर्वाण इसलिये अभीष्ट है कि उसके द्वारा कोई व्यक्ति अपने दुःखों का अन्त करता है। किन्तु महायान के अनुसार निर्वाण का उद्देश्य केवल अपने ही दुःखों का अन्त करना नहीं है। वरं निर्वाण का उद्देश्य पूर्णज्ञान प्राप्त करना है जिसकी सहायता से दुःखग्रस्त सभी प्राणियों को दुःख से मुक्त किया जा सके।

(४) न्याय-दर्शन

न्याय दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम हैं। न्याय वस्तुवादी दर्शन है। इसका प्रतिपादन विशेषतः युक्तियों के द्वारा हुआ है। इसके अनुसार चार प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। वस्तुओं के साक्षात् या अपरोक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसकी उत्पत्ति वस्तु तथा ज्ञानेन्द्रिय के संयोग से होती है। प्रत्यक्षज्ञान वाह्य या आन्तर हो सकता है। जिस विषय का प्रत्यक्ष होता है उसका संयोग यदि आँख, कान जैसी वाह्य इन्द्रियों से हो तो उसे वाह्य-प्रत्यक्ष कहते हैं। किन्तु यदि केवल मन से संयोग हो तो उसे आन्तर या मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। अनुमान केवल इन्द्रिय के द्वारा नहीं होता। यह किसी ऐसे लिङ्ग या साधन के ज्ञान पर निर्भर करता है, जिस से अनुमित वस्तु या साध्य का एक नियत सम्बन्ध रहता है। साधन तथा साध्य के नियत या अव्यभिचारी सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान में कम से कम तीन वाक्य होते हैं, तथा अधिक से अधिक तीन पद होते हैं। इन पदों को पक्ष, साध्य तथा साधन (या लिङ्ग) कहते हैं। पक्ष उसे कहते हैं जिसमें लिङ्ग का अस्तित्व मालूम है और साध्य का अस्तित्व प्रमाणित करना है। साध्य उसे कहते हैं जिसका अस्तित्व पक्ष में सिद्ध करना है। साधन उसे कहते हैं जिसका साध्य के साथ नियत साहचर्य्य हो और जो पक्ष में वर्त्तमान रहे। जैसे—

"यह पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है। जो धूमवान् है

वह वह्निमान् है।" यहाँ 'पर्वत' पक्ष है, 'वह्नि' साध्य है, तथा 'धूम' साधन है

उपमान में संज्ञा तथा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। सादृश्य-ज्ञान के द्वारा जो संज्ञा और संज्ञी अर्थात् नाम और नामी का संबंध स्थापित होता है उसे उपमान कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि 'गवय' का केवल नाम ज्ञात रहे तथा यह विदित रहे कि गवय का आकार-प्रकार गाय के समान होता है, तो गवय को प्रथम बार भी देखकर समझा जा सकता है कि यह गवय है। ऐसा ज्ञान उपमान के द्वारा होता है।

आप्त पुरुषों की उक्तियों से अज्ञात वस्तुओं के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। ऐतिहासिक कहते हैं कि महाराज अशोक भारत के सम्राट् थे। इस कथन को हम स्वीकार करते हैं, यद्यपि हमारा उनके साथ कोई साक्षात्कार नहीं हुआ है। यहाँ शब्द ही प्रमाण है। नैयायिक इन चार के अतिरिक्त और किसी प्रमाण को नहीं मानते। उनके अनुसार अन्य सभी प्रमाण इन्हीं चार प्रमाणों के अंतर्गत है।

न्याय-दर्शन के अनुसार निम्नोक्त विषय प्रमेय कहे जाते हैं—आत्मा, देह, इन्द्रियाँ तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य विषय, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, तथा अपवर्ग। अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह न्याय का भी लक्ष्य आत्मा को शरीर, इन्द्रियों तथा सांसारिक विषयों के बंधन से मुक्त करना है। आत्मा शरीर और मन से भिन्न है। शरीर का निर्माण भौतिक तत्त्वों के सम्मिश्रण से होता है। मन एक अणु है—सूक्ष्म, नित्य तथा अविभाज्य। मन आत्मा के लिये सुख, दुःख आदि मानसिक गुणों के अनुभव के निमित्त एक करण है। अतः मन को अंतरिन्द्रिय कहते हैं। जब आत्मा को इन्द्रियों के द्वारा किसी वस्तु से सम्बन्ध होता है तो उसमें चैतन्य का संचार होता है। चैतन्य आत्मा का कोई नित्य गुण नहीं है। यह आगन्तुक गुण है जो आत्माके मुक्त होने पर नष्ट हो जाता है। मन परमाणु के सदृश सूक्ष्मतम है, किन्तु आत्मा विभु, अमर तथा

नित्य है। आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त या उनसे अनासक्त होता है। यही विषयों से राग या द्वेष करता है। कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का उपभोग इसी को करना पड़ता है। मिथ्या-ज्ञान, राग-द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर आत्मा अच्छा या बुरा कर्म करता है। उन्हीं के कारण आत्मा को पापमय या दुःखग्रस्त होना पड़ता है। उन्हीं के कारण उसे जन्म-मरण के चक्र में पड़ना पड़ता है। तत्त्वज्ञान के द्वारा जब सभी दुःखों का अन्त हो जाता है तो मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था को अपवर्ग कहते हैं। कुछ दार्शनिक कहते हैं कि यह अवस्था आनन्दमय होती है। किन्तु नैयायिक इसे नहीं मानते। सुख या आनन्द बिना दुःख के नहीं होता, जिस तरह प्रकाश बिना छाया के नहीं हो सकता है। अतः अपवर्ग सुख-दुःख से रहित होता है। यह सुख या आनन्द की अवस्था नहीं है।

नैयायिक ईश्वर के अस्तित्व को अनेक युक्तियों से सिद्ध करते हैं। ईश्वर संसार के सृजन, पोषण तथा संहार के आदि-प्रवर्त्तक हैं। ईश्वर ने विश्व का निर्माण शून्य से नहीं किया, बल्कि परमाणु दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्मा आदि उपादानों से किया है। जीव अपने-अपने पुण्यमय या पापमय कर्मों के अनुसार सुख या दुःख का उपभोग कर सकें, इसके लिये संसार की सृष्टि हुई है। ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये निम्नोक्त युक्ति दी जाती है—पर्वत, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, आदि संसार के जितने पदार्थ हैं, सभी परमाणुओं में विभाजित हो सकते हैं। अतः उन पदार्थों का निर्माण किसी कर्त्ता के द्वारा अवश्य हुआ है। मनुष्य संसार का निर्माता नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की बुद्धि तथा शक्ति सीमित है। वह परमाणु जैसी सूक्ष्म तथा अदृश्य वस्तुओं का, जिनसे सभी भौतिक पदार्थ निर्मित हैं, सम्मिश्रण नहीं कर सकता। इस संसार का निर्माता अवश्य कोई चेतन आत्मा है जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा संसार की नैतिक व्यवस्था का संरक्षक है। वही ईश्वर है। ईश्वर ने इस संसार को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये नहीं बनाया है बल्कि

अन्य प्राणियों के कल्याण के लिये बनाया है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में केवल सुख ही सुख है एवं दुःख का सर्वथा अभाव है। मनुष्य को कर्म करने की स्वतंत्रता है। अतः वह अच्छा या बुरा दोनों प्रकार के कर्म कर सकता है तथा तदनुसार सुख या दुःख का भागी होता है। किन्तु परमात्मा की दया तथा उनके मार्ग-प्रदर्शन से मनुष्य अपने आत्मा तथा विश्व का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर सकता है और तत्पश्चात् अपने दुःखों से मुक्ति पा सकता है।

(५) वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद थे। उनका दूसरा नाम उलूक था। न्याय-दर्शन के साथ वैशेषिक की बड़ी समानता है। इसका भी उद्देश्य प्राणियों का अपवर्ग प्राप्त करना है। यह सभी प्रमेयों को अर्थात् संसार की सभी वस्तुओं को कुल सात पदार्थों में विभक्त करता है। वे पदार्थ ये हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय तथा अभाव।

द्रव्य गुणों तथा कर्मों का आश्रय है तथा उनसे भिन्न है। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा, तथा मन। इनमें प्रथम पाँच भौतिक हैं। उनके गुण क्रमशः गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द हैं। क्षिति, जल, अग्नि तथा वायु क्रमशः चार प्रकारों के परमाणुओं से बने हुए हैं। ये परमाणु भौतिक हैं। इनका विभाजन तथा नाश नहीं हो सकता। परमाणुओं की सृष्टि नहीं होती। वे शाश्वत हैं। किसी भौतिक पदार्थ के सबसे छोटे छोटे टुकड़ों को, जिनका और अधिक विभाजन नहीं हो सकता, परमाणु कहते हैं। आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं। ये एक-एक हैं, नित्य हैं तथा विभु हैं। मन नित्य है किन्तु विभु नहीं है। यह परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म है। यह अंतरिन्द्रिय है। यह बुद्धि, भावना तथा संकल्प जैसी मानसिक क्रियाओं का सहायक होता है। मन में एक साथ एक ही अनुभूति हो सकती है, क्योंकि यह परमाणु की तरह अत्यन्त सूक्ष्म होता है। आत्मा शाश्वत तथा

सर्वव्यापी द्रव्य है। यह चैतन्य की सभी अवस्थाओं का आश्रय है। मनुष्य को मन के द्वारा अपने आत्मा की अनुभूति होती है। सांसारिक वस्तुओं के निर्माता के रूप में ईश्वर अर्थात् परमात्मा का अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है।

गुण उसे कहते हैं जो द्रव्य में पाया जाता है। गुण को गुण नहीं होता, न उसे कर्म ही होता है। द्रव्य निरपेक्ष हैं, किन्तु गुण को द्रव्य की अपेक्षा रहता है। कुल २४ प्रकार के गुण हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, संस्कार, धर्म तथा अधर्म।

कर्म गत्यात्मक होता है। गुण के सदृश यह भी केवल द्रव्यों में पाया जाता है। पाँच प्रकार के कर्म होते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण, तथा गमन।

सामान्य किसी वर्ग के साधारण धर्म को कहते हैं। सभी गौओं में एक समानता है जिसके कारण उन सबों की एक जाति होती है तथा उन्हें अन्य जातियों से पृथक् समझा जाता है। इस सामान्य को गोत्व कहते हैं। गौ के जन्म से न तो 'गोत्व' की उत्पत्ति होती है, न उसके मरण से उसका विनाश ही होता है। अतः 'गोत्व' नित्य है। नित्य द्रव्यों में पार्थक्य के मूल कारण को 'विशेष' कहते हैं। साधारणतः वस्तुओं की भिन्नता उनके अवयवों तथा गुणों के द्वारा की जाती है। किन्तु एक प्रकार के परमाणुओं का पारस्परिक विभेद किस तरह किया जायगा? प्रत्येक परमाणु की अपनी विशेषता होती है। अन्यथा सभी परमाणुओं के पार्थिव होने के कारण उनका विभेद संभव नहीं होता। परमाणुओं की जो अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं, उन्हें विशेष कहते हैं। वर्णन होने के कारण ही इस दर्शन को 'वैशेषिक' दर्शन कहते हैं।

समवाय स्थायी या नित्य सम्बन्ध को कहते हैं। अवयवी का अवयवों के साथ, गुण या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्तियों

के साथ समवाय का सम्बन्ध पाया जाता है। वस्त्र का अस्तित्व उसके धागों में है। धागों के विना वस्त्र नहीं रह सकता है। हरित वर्ण मधुर स्वाद, सुगन्ध आदि गुण तथा सभी प्रकार के कर्म या गति द्रव्य ही में आश्रित हैं। द्रव्य के बिना गुण तथा कर्म नहीं टिक सकते हैं। इस तरह के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं।

नहीं रहने को 'अभाव' कहते हैं। 'यहाँ कोई सर्प नहीं है', वह गुलाब लाल नहीं है', 'शुद्ध जल में गन्ध नहीं होता'—ये वाक्य क्रमशः सर्प, लाल रंग, और गन्ध का उपर्युक्त स्थानों में अभाव व्यक्त करते हैं। अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, ध्वसंभाव, अत्यन्ताभाव, तथा अन्योन्याभाव। प्रथम तीन प्रकार के अभावों को संसर्गाभाव कहते हैं। संसर्गाभाव में दो वस्तुओं के संसर्ग का अभाव रहता है। किसी वस्तु की उत्पत्ति के पहले उपादान में जो उसका अभाव रहता है उसे प्रागभाव कहते हैं। कुम्भकार के द्वारा बर्त्तन के निर्माण के पहले मिट्टी में बर्त्तन का अभाव रहता है। किसी वस्तु के ध्वंस हो जाने के बाद जो उस वस्तु का अभाव हो जाता है, उसे ध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे—घड़े के फूट जाने पर उसके टुकड़ों में घड़े का अभाव होता है। दो वस्तुओं में अतीत, वर्त्तमान तथा भविष्य, अर्थात् सर्वदा के लिये जो सम्बन्ध का अभाव रहता है, उसे अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे वायु में रूप का अभाव। जब दो वस्तुओं में पारस्परिक भेद रहता है, तो उसे अन्योन्याभाव कहते हैं। जैसे घट और पट दो पृथक् वस्तुएँ हैं। घट पट नहीं हैं और न पट ही घट है। एक का दूसरा नहीं होने का नाम अन्योन्याभाव है।

ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय मतों में पूरा साम्य है।

(६) सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शन द्वैतवादी है। कहा जाता है कि महर्षि कपिल इसके प्रवर्त्तक थे। सांख्य के अनुसार दो प्रकार के तत्त्व हैं। पुरुष और प्रकृति। अपने-अपने अस्तित्व के लिये पुरुष और प्रकृति परस्पर

निरपेक्ष हैं। पुरुष चेतन है। चैतन्य इसका गुण नहीं वरं स्वरूप ही है। पुरुष शरीर, मन तथा इन्द्रिय से भिन्न है। यह नित्य है। यह सांसारिक परिवर्त्तनों तथा व्यापारों का अवलोकन अलग से ही करता है। यह स्वयं न तो कोई कार्य करता, न इसमें कोई परिवर्त्तन ही होता है। जिस तरह कुर्सी, पलंग आदि भौतिक वस्तुओं के उपयोग के लिये मनुष्य भोक्ता है, उसी तरह प्रकृति के परिणामों के उपयोग के लिये भोक्ताओं की आवश्यकता है। ये भोक्ता पुरुष हैं जो प्रकृति से भिन्न हैं। प्रत्येक जीव के शरीर में एक-एक पुरुष है। जिस समय कुछ मनुष्य सुखी पाये जाते हैं, उस समय कुछ मनुष्य दुःखी भी रहते हैं। कुछ का देहान्त हो जाता है, फिर भी कुछ जीवित रहते हैं। अतः पुरुष एक नहीं, अनेक हैं।

प्रकृति इस संसार का आदि कारण है। यह एक नित्य और जड़ वस्तु है। यह सर्वदा परिवर्त्तनशील है। इसका लक्ष्य पुरुष के उद्देश्य-साधन के सिवा और कुछ नहीं है। सत्त्व, रज तथा तम, ये प्रकृति के तीन गुण या उपादान हैं। सृष्टि के पहले ये तीन गुण साम्यावस्था में रहते हैं। इन्हें साधारण अर्थ में गुण नहीं समझना चाहिये। ये विशेष अर्थ में गुण कहलाते हैं। जिस प्रकार कोई तिगुनी रस्सी तीन डोरियों की बनी होती है, उसी प्रकार प्रकृति तीन तरह के मौलिक तत्त्वों से बनी हुई है। संसार के विषय सुख, दुःख या मोह के जनक हैं। वस्तुओं के प्रति सुख, दुःख या विषाद होने के कारण हम वस्तुओं के तीन गुणों का अनुमान करते हैं। मीठे भोजन में एक ही व्यक्ति को कभी रुचि होती, कभी अरुचि होती या कभी उदास भाव, अर्थात् रुचि तथा अरुचि दोनों का अभाव रहता है। एक ही व्यंजन में किसी व्यक्ति को अच्छा स्वाद मिलता, किसी को बुरा स्वाद मिलता तथा किसी को वह स्वादहीन सा मालूम पड़ता है। कारण तथा कार्य में वस्तुतः ऐक्य होता है। कार्य कारण का विकसित रूप है। तैल तिल आदि विशेष प्रकार के बीजों का विकसित रूप है। संसार के सभी विषय परिणाम हैं जिनके कारण सुख, दुःख

या विषाद का अनुभव होता है। हम ऊपर कह आये हैं कि प्रकृति जिसका दूसरा नाम प्रधान है, सांसारिक वस्तुओं का मूल कारण है। अतः सत्कार्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार उसमें सुख, दुःख तथा विषाद के कारण अवश्य होंगे। सुख, दुःख तथा विषाद का कारण क्रमशः सत्त्व, रज तथा तम है। इस तरह प्रकृति के अंतर्गत सत्त्व, रज, तथा तम का अस्तित्व प्रतिपादित होता है। सत्त्व प्रकाशक है। रज चल तथा उपष्टम्भक है। तम अचल तथा वरणक या आवरण-कारी है।

(पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। प्रकृति की साम्यावस्था पुरुष के संयोग होने से नष्ट होती है। जगत् की सृष्टि इस क्रम से होती है। प्रकृति से महत् की उत्पत्ति होती है। महत् इस विश्व का महान् अंकुर है। पुरुष का चैतन्य-प्रकाश महत् पर पड़ता है अतः महत् भी चेतन मालूम पड़ता है। इस घटना के कारण मालूम पड़ता है कि प्रकृति मानो सुप्तावस्था से जाग्रत् अवस्था में आयी हो। इसी के साथ-साथ चिंतन का भी प्रादुर्भाव होता है। अतः महत् को बुद्धि भी कहते हैं। यही जगत् की सृष्टिकारिणी बुद्धि है। बुद्धि का रूपान्तर अहंकार में होता है। अहंकार अहंभाव या अभिमान को कहते हैं। आत्मा अभिमान के संयोग होने से अपने को 'कर्त्ता' समझता है। किन्तु वस्तुतः आत्मा स्वयं कर्त्ता नहीं है। अहंकार में जब सत्त्व का बाहुल्य होता है तो उससे पाँच ज्ञानेन्द्रियों पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन की सृष्टि होती है। मन उभयेन्द्रिय है क्योंकि इसके द्वारा ज्ञान तथा कर्म दोनों संभव होते हैं। अहंकार में जब रज की प्रचुरता रहती है तब उससे पाँच तन्मात्रों की उपत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध पाँच तन्मात्र हैं। पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रूप से अग्नि, रस से जल, तथा गन्ध से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। इस कार सांख्य में सब मिलाकर २५ तत्त्व हैं। इनमें पुरुष को छोड़कर सभी तत्त्व प्रकृति के अंतर्गत हैं क्योंकि सभी भौतिक तत्त्वों का मूल कारण

प्रकृति ही है। प्रकृति का कोई कारण नहीं है। महत् अहंकार तथा पंच तन्मात्रों की दो अवस्थाएँ होती हैं। एक तो ये स्वयं परिणाम हैं। दूसरे ये अन्य-अन्य परिणामों के कारण भी हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच महाभूत अपने-अपने कारणों के केवल परिणाम हैं। ये स्वयं किसी ऐसे परिणाम के कारण नहीं हैं जिनका स्वरूप इनसे भिन्न हो। पुरुष न तो किसी का कारण है न किसी का परिणाम ही है। अर्थात् पुरुष न तो प्रकृति है न विकृति।

पुरुष निरपेक्ष तथा अमर है। किन्तु अविद्या के कारण यह अपने को शरीर, इन्द्रिय, तथा मन से पृथक् नहीं समझता। पुरुष और प्रकृति में अविवेक (अर्थात् विभेद नहीं करने) के कारण हमें दुःखों से पीड़ित होना पड़ता है। शरीर के घायल होने से या अस्वस्थ होने से हम अपने को घायल या अस्वस्थ समझते हैं। हमारे मनोगत सुख तथा दुःख आत्मा को भी प्रभावित करते हैं क्योंकि हम मन तथा आत्मा के भेद को भली-भांति समझ नहीं सकते। ज्यों ही हमें विवेक होता है अर्थात् ज्यों ही हम पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार तथा बुद्धि से भेद समझने लगते हैं, त्यों ही हमारे सुखों तथा दुःखों का अन्त हो जाता है। तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग नहीं रहता और यह संसार के घटना-क्रम का साक्षी या द्रष्टामात्र रह जाता है। इस अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। मुक्ति जीवन में रहते भी प्राप्त हो सकती है। इसे जीवन्मुक्ति कहते हैं। देहान्त के बाद जो मुक्ति प्राप्त होती है उसे विदेह-मुक्ति कहते हैं। केवल विवेक ज्ञान होने से ही हमें आत्मज्ञान नहीं होता और न हम अपने दुःखों से ही पूर्णतया मुक्त होते हैं। इसके लिये बहुत अधिक आध्यात्मिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। इस अभ्यास के लिये तत्त्वज्ञान के प्रति पूरी श्रद्धा तथा उसके अनवरत चिंतन की अवश्यकता है। विवेक-ज्ञान होने पर हम पुरुष को विशुद्ध चैतन्य एवं तन-मन, देश-काल तथा कारण-कार्य से पूर्णतया पृथक् समझने लगते हैं। पुरुष अनादि और अनंत है। यह निरपेक्ष अमर तथा नित्य है।

आत्मज्ञान के लिये जो आध्यात्मिक अभ्यास की आवश्यकता है उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन योग-दर्शन में दिया जायगा।

सांख्य-दर्शन निरीश्वर है। इसके अनुसार ईश्वर का अस्तित्व किसी प्रकार सिद्ध नहीं किया जा सकता है। संसार की सृष्टि के लिये ईश्वर का अस्तित्व आवश्यक नहीं है क्योंकि पूरे संसार के निर्माण के लिये प्रकृति ही पर्याप्त है। शाश्वत तथा अपरिवर्त्तनशील ईश्वर संसार की सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कारण तथा परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत हो जाता है। ईश्वर संसार में परिणत नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर परिवर्त्तनशील नहीं माना जाता है। सांख्य के भाष्यकार विज्ञान-भिक्षु यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को एक विशिष्ट पुरुष के रूप में मानता है। उनका कथन है कि ईश्वर प्रकृति का द्रष्टामात्र है, स्रष्टा नहीं।

(७) योग-दर्शन

महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के प्रवर्त्तक हैं। योग तथा सांख्य में बहुत अधिक साम्य है। योग सांख्य के प्रमाणों और तत्त्वों को मानता है। यह सांख्य के २५ तत्त्वों के साथ-साथ ईश्वर को भी मानता है। योग-दर्शन का प्रमुख विषय योगाभ्यास है। सांख्य के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख साधन विवेक ज्ञान है। विवेक ज्ञान की प्राप्ति प्रधानतः योगाभ्यास से ही हो सकती है। योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहते हैं। चित्त की पाँच प्रकार की भूमियाँ हैं। पहली भूमि 'क्षिप्त' कहलाती है। क्योंकि इसमें चित्त सांसारिक वस्तुओं में क्षिप्त अर्थात् आसक्त रहता है। दूसरी भूमि 'मूढ़' कहलाती है। क्योंकि इसमें चित्त की अवस्था निद्रा के सदृश अभिभूत रहती है। तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' कहलाती है। यह अपेक्षाकृत शान्त अवस्था है। इन चित्त-भूमियों में योगाभ्यास संभव नहीं है। चौथी तथा पाँचवीं भूमियाँ 'एकाग्र' तथा 'निरुद्ध' कहलाती हैं। एकाग्र अवस्था में चित्त किसी ध्येय में स्थि

केन्द्रीभूत रहता है। निरुद्धावस्था में चिंतन का भी अन्त हो जाता है। एकाग्र तथा निरुद्ध योगाभ्यास में सहायक हैं। योग दो प्रकार का होता है। संप्रज्ञात तथा असंप्रज्ञात। संप्रज्ञात उस योग या समाधि को कहते हैं जिसमें चित्त ध्येय विषय में पूर्णतया तन्मय हो जाता है, जिससे चित्त को उस विषय का पूर्ण तथा स्पष्ट ज्ञान होता है। असंप्रज्ञात उस योग को कहते हैं जिसमें मन की सभी क्रियाओं का निरोध हो जाता है। फलस्वरूप, ध्येय विषय के साथ-साथ अन्य सभी ज्ञान का लोप हो जाता है।

योगाभ्यास के आठ अंग हैं जो 'योगाङ्ग' कहलाते हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, तथा समाधि। हिंसा, असत्य, स्तेय, व्यभिचार, तथा परिग्रह से मन को नियंत्रित रखना 'यम' कहलाता है। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, तथा ईश्वर-प्रणिधान, इन आचारों का अभ्यास 'नियम' कहलाता है। आनंदप्रद शारीरिक स्थिति को 'आसन' कहते हैं। नियंत्रित रूप से श्वास-ग्रहण, धारण, तथा त्याग को 'प्राणायाम' कहते हैं। इद्रियों को विषयों से हटाने का नाम 'इन्द्रियसंयम' अर्थात् 'प्रत्याहार' है। चित्त को शरीर के अन्दर या बाहर की किसी वस्तु पर केन्द्रीभूत करने को 'धारणा' कहते हैं। किसी विषय का सुदृढ़ तथा अविराम चिंतन 'ध्यान' कहलाता है। 'समाधि' चित्त की वह अवस्था है जिसमें ध्यानशील चित्त ध्येय विषय में तल्लीन होकर आत्मविस्मृत हो जाता है।

योगदर्शन को सेश्वर-सांख्य कहते हैं और कपिलकृत सांख्य को निरीश्वर-सांख्य। योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिये तथा आत्म-ज्ञान के लिये ईश्वर ही ध्यान का सर्वोत्तम विषय है। ईश्वर पूर्ण, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वदोषरहित है। योग के अनुसार ईश्वर के अस्तित्व के लिये निम्नोक्त प्रमाण दिये जाते हैं—जहाँ तारतम्य है वहाँ सर्वोच्च का होना नितान्त आवश्यक है। ज्ञान में न्यूनाधिक्य है। अतः पूर्ण ज्ञान तथा सर्वज्ञता।

का होना निःसंदेह है। जो पूर्ण ज्ञानी या सर्वज्ञ है वही ईश्वर है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से संसार की सृष्टि का प्रारम्भ होता है। संयोग का अन्त होने पर प्रलय होता है। पारस्परिक संयोग या वियोग पुरुष और प्रकृति के लिये स्वाभाविक नहीं है। अतः एक पुरुष-विशेष का अस्तित्व परमावश्यक है जो पुरुषों के पाप तथा पुण्य के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति में संयोग या वियोग स्थापित करता है।

(८) मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि जैमिनि थे। मीमांसा को पूर्व-मीमांसा भी कहते हैं। इसका मुख्य उद्देश्य वैदिक-कर्मकांड का युक्तिपूर्वक प्रतिपादन करना है। इसी के लिये मीमांसा जैसे दर्शन की संस्थापना हुई है जो यज्ञादि कर्म सम्बन्धी विचारों का पोषण करता है।

कर्मकांड का आधार वेद है। मीमांसा के अनुसार वेद मनुष्य-रचित नहीं वरं नित्य स्वयंभूत तथा अपौरुषेय है। इसलिये वेद पुरुषकृत दोषों से रहित है। वेद का प्रकाश ऋषियों के द्वारा है। वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये मीमांसा-दर्शन में प्रमाणों का सविस्तार विचार हुआ है। इसमें यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि सभी ज्ञान स्वतःप्रमाण हैं। पर्याप्त सामग्री रहने से ही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन्द्रियों के निर्दोष होन से वस्तुओं के सन्निकट रहने से तथा अन्य सहकारी कारणों के उपस्थित रहने से ही प्रत्यक्ष-ज्ञान हो जाता है। पर्याप्त सामग्री रहने से अनुमान भी हो जाता है।

जब हम भूगोल की कोई पुस्तक पढ़ते हैं तो हमें उस समय शब्द-प्रमाण के द्वारा परोक्ष देशों का भी ज्ञान हो जाता है। इन प्रमाणों के द्वारा अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के द्वारा जो ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी सत्यता हम निर्विवाद मान लेते हैं, इसके लिये हम किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते। यदि ज्ञान में कोई संदेह

रहे तो उसे ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ज्ञान में विश्वास का होना परमावश्यक है। बिना विश्वास का ज्ञान यथार्थतः ज्ञान नहीं है। वेद के अध्ययन से हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है और उस में हमारा दृढ़ विश्वास भी रहता है। अतः वैदिक ज्ञान अन्य ज्ञानों की तरह स्वयं प्रमाणित है। उसमें यदि कहीं कोई संदेह की उत्पत्ति होती है तो उसका निराकरण मीमांसा की पंक्तियों के द्वारा होता है। बाधाओं के दूर हो जाने पर वैदिक ज्ञान स्वयं प्रकटित हो जाता है। अतः वेद की प्रामाणिकता असंदिग्ध है।

वेद का विधान ही धर्म है। वेद जिसका निषेध करता है वह अधर्म है। विहित कर्मों का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है। धर्म का आचरण कर्त्तव्य समझ कर निष्काम भाव से करना चाहिये। वेद विहित कर्मों को किसी फल या पुरस्कार की प्रत्याशा में नहीं करना चाहिये। वरं उन्हें वेद का आदेश समझ कर ही करना चाहिये। नित्य कर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वार्जित कर्मों का नाश होता है। और देहान्त होने पर मुक्ति मिलती है। इस तरह का निष्काम आचरण ज्ञान तथा संयम की सहायता से हो सकता है। प्राचीन मीमांसा के अनुसार स्वर्ग या विशुद्ध सुख की प्राप्ति ही परम पुरुषार्थ या मोक्ष है। किन्तु आगे चल कर मोक्ष से केवल जन्म-नाश तथा दुःख का अन्त समझा जाने लगा है।

आत्मा अमर तथा नित्य है। इसका नाश नहीं हो सकता। वेद के अनुसार स्वर्ग-प्राप्ति के लिये धर्म का आचरण करना चाहिये। यदि आत्मा की मृत्यु हो जाय तो स्वर्ग की कामना या स्वर्ग-प्राप्ति निरर्थक हो जाती है। जैन दार्शनिकों की तरह मीमांसक भी आत्मा की नित्यता के लिये स्वतंत्र युक्तियाँ देते हैं। मीमांसक चार्वाक के मत को कि आत्मा शरीर से भिन्न नहीं है, नहीं मानते हैं। किन्तु वे यह नहीं स्वीकार करते कि चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है। चैतन्य की उत्पत्ति शरीर के साथ आत्मा के संयोग से होती है। विशेषतः जब किसी विषय का ज्ञानेन्द्रियों के साथ संयोग होता है तब

चैतन्य की उत्पत्ति होती है। मुक्त आत्मा विदेह होता है तथा चेतनाविहीन होता है। किन्तु उसमें चैतन्य की शक्ति रहती है।

आत्मा जब देहयुक्त रहता है तब उसे कई प्रकार के ज्ञान प्राप्त हो सकते हैं। मीमांसा की एक शाखा के प्रवर्त्तक प्रभाकर थे। प्रभाकर-मीमांसा के अनुसार पाँच प्रकार के प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द की व्याख्या न्याय तथा मीमांसा में प्रायः एक सी है। उपमानसम्बन्धी केवल एक भिन्नता है। मीमांसा के अनुसार उपमान निम्नोक्त ढंग से होता है। कोई व्यक्ति जिसने हनुमान देखा है जंगल जाता है। वह जंगल में बन्दर देखता है और कहता है कि यह बन्दर हनुमान के सदृश है। यह उक्ति प्रत्यक्ष के द्वारा प्रमाणित होती है। तत्पश्चात् यदि वह व्यक्ति कहे कि "मैंने जो अतीत में हनुमान देखा है, वह इस बन्दर के समान है" तो इसे हम प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कह सकते। यह ज्ञान उपमान के द्वारा होता है क्योंकि हनुमान, जिसके सम्बन्ध में उपर्युक्त वाक्य प्रतिपादित है, वहाँ उपस्थित नहीं है। जब हम किसी विरोधात्मक विषय की व्याख्या नहीं कर सकते हैं तो हम अर्थापत्ति की सहायता लेते हैं। यदि कोई मनुष्य दिन में भोजन नहीं करे और वह मोटा होता जाय तो हमें मानना होगा कि वह रात में अवश्य भोजन करता है। यदि कोई मनुष्य जीवित हो और घर पर न रहे तो अर्थापत्ति के द्वारा जाना जा सकता है कि वह कहीं अन्यत्र है। मीमांसा की दूसरी एक शाखा कुमारिल भट्ट ने स्थापित की है। भट्ट-मीमांसा के अनुसार उपर्युक्त पाँच प्रमाणों के अतिरिक्त एक और प्रमाण है। इस छठे प्रमाण को अनुपलब्धि कहते हैं। किसी घर में प्रवेश करने पर तथा चारों तरफ देख लेने पर यदि कोई व्यक्ति कहे कि इस घर में कोई वस्त्र नही है तो यह नहीं कहा जा सकता कि वस्त्राभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हुआ। किसी विषय का प्रत्यक्ष तब होता है जब उस विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग होता है। उपर्युक्त उदाहरण में वस्त्राभाव

का ज्ञान हुआ है। अभाव के साथ इन्द्रिय का संयोग नहीं हो सकता। अतः अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि के द्वारा ही होता है। वस्त्राभाव का ज्ञान वस्त्र-भिन्न वस्तुओं के प्रत्यक्ष से नहीं होता, वरं वस्त्र के दर्शनाभाव से होता है।

मीमांसा भौतिक जगत् को मानती है। भौतिक जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष से प्रमाणित होती है। मीमांसा वाह्य सत्तावादी है। संसार के अतिरिक्त यह आत्माओं के अस्तित्व को भी मानती है। किन्तु यह किसी जगत्-स्रष्टा, परमात्मा या ईश्वर को नहीं मानती। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्मा के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्वों से होता है। कर्म एक स्वतंत्र शक्ति है जिससे संसार परिचालित होता है। मीमांसा के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म के फल का प्रादुर्भाव भविष्य में उपयुक्त अवसर पर होता है। अतः इस लोक में किये गये कर्मों के फल का उपभोग परलोक में किया जा सकता है।

(६) वेदान्त-दर्शन

वेदान्त-दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। उपनिषदों में वैदिक विचार-धारा विकास के शिखर पर पहुंच गई है। अतः उपनिषदों को वेदान्त कहना अर्थात् वेदों का अन्त कहना बहुत ही यथार्थ है। जैसा हम पहले भी कह आये हैं, वेदान्त-दर्शन का उत्तरोत्तर विकास हुआ है। इसके मूल सिद्धान्त को हम पहले उपनिषदों में पाते हैं। फिर उनको बादरायण ने अपने ब्रह्मसूत्र में संकलित किया है। उसके बाद भाष्यकारों ने उन सूत्रों के भाष्य लिखे हैं। भाष्यों में शंकर तथा रामानुज के भाष्य अधिक विख्यात हैं। अन्य दर्शनों की अपेक्षा वेदान्त-दर्शन से, विशेषतः शांकर वेदान्त से भारतीयों का जीवन बहुत अधिक प्रभावित हुआ है। शांकर वेदान्त का प्रभाव भारतवर्ष में अभी भी किसी न किसी रूप में विद्यमान है।

ऋग्वेद के एक सूक्त में ऐसे पुरुष की कल्पना की गई है जो समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है तथा ब्रह्माण्ड से भी परे है। इस सूक्त में संसार के जड़ तथा चेतन सभी पदार्थों को, मनुष्यों को, तथा देवताओं को उस परम पुरुष का अंग माना गया है। इस ऐक्य भाव का विकास आगे चलकर उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में उसका पुरुष रूप नहीं रहा। उपनिषदों में उसे सत्, आत्मन् या ब्रह्मन् कहते हैं। यहाँ सत, आत्मन् तथा ब्रह्मन् एकार्थक शब्द हैं। संसार इसी सत् से उत्पन्न हुआ है, इसी पर आश्रित है, तथा प्रलय होने पर इसीमें विलीन हो जाता है। संसार का नानात्व असत्य है। उसकी एकता ही एकमात्र सत्य है। *सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन।* उपनिषदों के ये वाक्य यह सिद्ध करते हैं कि संसार में एक ही सत्ता है और इसका नानात्व असत्य है। आत्मा या ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है। यह अनन्त ज्ञान तथा अनन्त आनन्द है।

शंकर ने उपनिषदों की व्याख्या इस प्रकार की है। उनके अनुसार उपनिषदों में विशुद्ध अद्वैत की शिक्षा दी गई है। ब्रह्म एकमात्र सत्य है। इसका अर्थ केवल यह नहीं कि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नहीं है, बल्कि ईश्वर के अंतर्गत भी कोई दूसरी सत्ता नहीं है। *नेह नाना अस्ति किंचन, तत् त्वम् असि, अहं ब्रह्मास्मि, सर्वं खलु इदं ब्रह्म* इत्यादि उक्तियाँ उपनिषद् की उक्तियाँ हैं। यदि ब्रह्म के अंतर्गत अनेक सत्ताओं का समावेश माना जाय तो इन उक्तियों की, यहाँ तक कि उपनिषदों की समुचित व्याख्या नहीं की जा सकती है। यह सही है कि कुछ उपनिषदों में इस बात का उल्लेख है कि ब्रह्म या आत्मा के द्वारा संसार की सृष्टि हुई है। किन्तु अन्य उपनिषदों में यहाँ तक कि वेदों में भी, संसार की सृष्टि की तुलना इन्द्रजाल से की गई है। ईश्वर को मायावी माना गया है जो अपनी माया-शक्ति से संसार की रचना करता है।

शंकर का कथन है कि यदि पारमार्थिक सत्ता एक है तो संसार की सृष्टि वस्तुतः सृष्टि नहीं है। ईश्वर अपनी माया-शक्ति के द्वारा

संसार का केवल एक स्वांग रचता है। साधारण बुद्धिवालों के लिये मायावाद को बोधगम्य बनाने के निमित्त शंकर दैनिक जीवन के साधारण भ्रमों की सहायता लेते हैं। कभी-कभी रस्सी साँप के रूप में मालूम पड़ती है। चमकता हुआ सीप चाँदी के जैसा दिखायी पड़ता है। ऐसे अनुभव भ्रम कहलाते हैं। सभी प्रकार की भ्रान्तियों में एक अधिष्ठान रहता है जो सत्य होता है। ऊपर के उदाहरणों में रस्सी तथा सीप ऐसे अधिष्ठान हैं। अज्ञान के कारण ऐसे अधिष्ठानों पर अन्य वस्तुओं का अध्यास या आरोप होता है। अध्यस्त वस्तु सत्य नहीं होती। ऊपर के उदाहरणों में साँप तथा रजत अध्यस्त हैं। अज्ञान से अधिष्ठान का केवल आवरण ही नहीं होता वरं विक्षेप भी होता है। विश्व की अनेकरूपता की व्याख्या इसी प्रकार की जा सकती है। ब्रह्म एक है, अतः अविद्या के कारण उसमें अनेक की प्रतीति होती है। अविद्या के कारण हम ब्रह्म का सच्चा स्वरूप नहीं जान सकते हैं। हम उसे नाना रूप में देखते हैं। बाजीगर एक मुद्रा को कई मुद्राओं में परिणत हुआ दिखलाता है। इस भ्रमात्मक प्रतीति का कारण जादूगर के लिये तो उसकी जादू दिखलाने की शक्ति है। किन्तु हमारे लिये उसका कारण हमारा अज्ञान है। अज्ञानवश हम एक मुद्रा को कई मुद्राओं के रूप में देखते हैं। इसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म एक है, फिर भी माया-शक्ति के कारण उसके अनेक रूप दिखायी पड़ते हैं। साथ ही साथ हमारा अज्ञान भी ब्रह्म की अनेकरूपता का कारण है। हमें यदि अज्ञान न हो तो हम ब्रह्म की अनेकरूपता के भ्रम में न पड़ें। अतः माया और अविद्या वस्तुतः एक हैं। दृष्टि-भेद से दो मालूम पड़ती हैं। यही कारण है कि माया को अज्ञान भी कहते हैं। कहा जा सकता है कि शंकर विशुद्ध अद्वैत का प्रतिपादन नहीं कर सके क्योंकि वे ईश्वर तथा माया जैसे दो तत्त्वों को मानते हैं। किन्तु शंकर के अनुसार माया ईश्वर की ही एक शक्ति है। जो सम्बन्ध आग तथा उसकी जलाने की शक्ति में है वही सम्बन्ध ईश्वर तथा माया में है।

उपर्युक्त कथन से मालूम पड़ता है कि ईश्वर माया-शक्ति से विशिष्ट है। किन्तु ऐसा कहना भी बहुत समीचीन नहीं है। यदि संसार की अनेकरूपता को सत्य माना जाय तथा ईश्वर को संसार की दृष्टि से देखा जाय तो अवश्य ही ईश्वर की प्रतीति स्रष्टा या मायावी के रूप में होगी। किन्तु जैसे ही संसार के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ईश्वर को स्रष्टा के रूप में देखना अर्थहीन हो जाता है। जो व्यक्ति जादूगर के खेल से धोखा नहीं खाता, उसके छल को समझता है, उसके लिये वह जादूगर जादूगर नहीं है। उसके लिये उस जादूगर के पास धोखा देने की कला भी नहीं है। इसी प्रकार जो मनुष्य विश्व को पूर्णतया ब्रह्ममय देखता है, उसके लिये ब्रह्म में माया या सृष्टि-शक्ति नहीं रह जाती है।

उपर्युक्त विचारों को युक्तिपूर्ण बनाने के लिये शंकर दो दृष्टियों का विभेद करते हैं—व्यावहारिक दृष्टि तथा पारमार्थिक दृष्टि। व्यावहारिक दृष्टि साधारण मनुष्यों के लिये है जो संसार को सत्य मानते हैं। हमारा व्यावहारिक जीवन इसी दृष्टि पर निर्भर है। इसके अनुसार संसार सत्य है। ईश्वर इसका सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक है। इस दृष्टि से ईश्वर के अनेक गुण हैं। अर्थात् वह सगुण है। शंकर इस दृष्टि के अनुसार ब्रह्म को सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं। इसके अनुसार आत्मा एक शरीरबद्ध सत्ता है। इसमें अहंभाव की उत्पत्ति होती है।

पारमार्थिक दृष्टि ज्ञानियों की है जो यह समझ जाते हैं कि संसार मायिक है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। संसार की असत्यता का ज्ञान हो जाने पर ब्रह्म को स्रष्टा नहीं माना जा सकता। ब्रह्म के लिये सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ब्रह्म में स्वगतभेद भी नहीं रहता है। इस पारमार्थिक दृष्टि के अनुसार ब्रह्म निर्विकल्पक तथा निर्गुण हो जाता है। इसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। इसके अनुसार शरीर भी भ्रान्ति-मूलक हो जाता है और आत्मा तथा ब्रह्म में कोई भेद नहीं रह जाता है।

यह पारमार्थिक दृष्टि अविद्या के दूर होने पर ही संभव है। अविद्या का नाश वेदान्त के ज्ञान होने पर ही होता है। अविद्या को दूर करने के लिये मनुष्य में इन्द्रिय तथा मन का संयम, भोग्य वस्तुओं से विराग, वस्तुओं की अनित्यता का ज्ञान तथा मुमुक्षुत्व अर्थात् मुक्ति के लिये प्रबल इच्छा का होना आवश्यक है। तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को किसी योग्य गुरु से वेदान्त का श्रवण करना चाहिये और उसके सिद्धान्तों का मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये। तत्पश्चात् शिष्य के योग्य हो जाने पर गुरु उसे कहता है—*तत् त्वम् असि* (तुम ब्रह्म हो)। गुरु की इस उक्ति का वह मनन करता है और अन्त में उसे ज्ञान होता है कि *अहं ब्रह्मास्मि* (मैं ब्रह्म हूँ)। यही पूर्णज्ञान है और इसीको मोक्ष कहते हैं। ऐसा ज्ञानी तथा मुक्त जीव शरीर में तथा संसार में रहकर भी अनासक्त रहता है। सांसारिक वस्तुओं को वह असत्य समझता है। उनके प्रति उसे कोई आसक्ति नहीं होती। वह संसार में रहकर भी संसार से विरक्त रहता है। किसी प्रकार की आसक्ति या किसी प्रकार की भ्रांति उसकी बुद्धि को विचलित या प्रभावित नहीं कर सकती। मिथ्याज्ञान के कारण वह पहले अपने को ब्रह्म से पृथक् समझता था। मिथ्याज्ञान के दूर होने पर उसके दुःखों का भी अन्त हो जाता है। जिस तरह ब्रह्म आनन्द-मय है, उसी तरह मुक्त आत्मा भी आनन्दमय हो जाता है।

उपनिषदों की व्याख्या रामानुज इस प्रकार करते हैं। ईश्वर ही पारमार्थिक सत्ता है। ईश्वर में अचित् या अचेतन प्रकृति और चित् या चेतन आत्माओं का अस्तित्व है। ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है। इसमें अच्छे अच्छे सभी गुण वर्त्तमान हैं। ईश्वर में अचित् सर्वदा वत्तमान रहता है। ईश्वर ने अचित् से इस संसार की उसी प्रकार उत्पत्ति की है जिस प्रकार मकड़ा अपने शरीर से अपने जाल की सृष्टि करता है। आत्मा भी सर्वदा ईश्वर में वर्त्तमान रहते हैं। वे अणु हैं। उनका स्वरूप स्वभावतः चिन्मय है। वे स्वयं प्रकाशमान हैं।

कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर-धारण करना पड़ता है। शरीर

में सीमित रहना ही बंधन है। आत्मा का शरीर से पूरा-पूरा सम्बन्ध-विच्छेद मोक्ष कहलाता है। अज्ञान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्म ही बंधन का कारण है। बंधन की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप को नहीं पहचान सकता। वह शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है। अतः उसके आचरण भी उसी प्रकार के होते हैं। वह इन्द्रिय-सुख के लिये लालायित रहता है। वह संसार में आसक्त हो जाता और इसी आसक्ति के कारण उसे वारंवार जन्म-ग्रहण करना पड़ता है। अज्ञान का नाश वेदान्त के अध्ययन से होता है। इसके अध्ययन से मनुष्य को ज्ञान होता है कि मनुष्य का आत्मा उसके शरीर से भिन्न है। यह ईश्वर का एक अंश है, अतः इसका अस्तित्व ईश्वर पर ही निर्भर है। अनासक्त भाव से वेदविहित धर्मों का आचरण करने से कर्मों की संचित शक्ति नष्ट हो जाती है और अनन्त ज्ञान प्राप्त होता है। साथ-साथ यह ज्ञान भी प्राप्त होता है कि ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है जो प्रेम के योग्य है। मनुष्य अहर्निश ईश्वर की भक्ति करने लगता है तथा अपने को ईश्वर में अर्पित कर देता है। ईश्वर भक्ति से प्रसन्न होते हैं और भक्त को बंधन से मुक्त कर देते हैं। मुक्त आत्मा देहान्त के बाद कभी जन्म-ग्रहण नहीं करता। वह ईश्वर-सदृश हो जाता है। ईश्वर के समान उसका भी चैतन्य विशुद्ध तथा दोषरहित हो जाता है। किन्तु ये एक नहीं हो जाते क्योंकि आत्मा अणु तथा ईश्वर विभु है। अणु विभु नहीं हो सकता।

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही एकमात्र सत्ता है। ईश्वर के अतिरिक्त और कोई सत्ता नही है। किन्तु ईश्वर के अंतर्गत अनेक सत्ताएँ हैं। संसार की सृष्टि सत्य है। अतः रामानुजीय दर्शन को विशुद्ध अद्वैत नहीं कह सकते हैं। इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। यह अद्वैतवाद इसलिये है कि यह ईश्वर को ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता मानता है। किन्तु ईश्वर अन्य सत्ताओं से अर्थात् चिन्मय आत्माओं से तथा अचित् पदार्थों से विशिष्ट या समन्वित है, इसलिये इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं।

२

चार्वाक-दर्शन

उत्पत्ति और प्रतिपाद्य विषय

जड़वाद का अर्थ

जड़वाद उस सिद्धान्त को कहते हैं जिसके अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्त्व है। इसके अनुसार मन तथा चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से ही होती है। जड़वादियों की एक साधारण प्रवृत्ति यह है कि वे ईश्वर, धर्म, आत्मा आदि उच्च तत्त्वों को जड़ जैसे निम्न तत्त्वों में परिणत करने का प्रयत्न करते हैं। वे जड़ ही को सभी पदार्थों का मूल समझते हैं। अतः जड़वाद की दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि से बिलकुल प्रतिकूल है।

भारतीय जड़वाद का कोई क्रमबद्ध ग्रंथ प्राप्य नहीं है

जड़वाद भारतवर्ष में किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही प्रचलित है। इसका उल्लेख वेदों में, बौद्ध-ग्रंथों में, पुराणों में तथा दार्शनिक ग्रंथों में भी पाया जाता है। किन्तु जड़वाद पर कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता। अन्य दर्शनों की तरह इसके समर्थकों का न तो कोई सुसंगठित सम्प्रदाय ही मिलता है और न कोई ग्रंथ ही। लेकिन प्रत्येक भारतीय दर्शन में चार्वाक-मत अर्थात् जड़वाद का खंडन किया गया है। मुख्यतः इसीसे चार्वाक-मत का परिचय मिलता है।

प्राचीन भारतीय साहित्य में जड़वादी के लिये प्रायः 'चार्वाक' शब्द व्यवहृत होता था। चार्वाक शब्द का मूल अर्थ क्या था इसका पता नहीं है। कुछ विद्वानों का मत है कि चार्वाक एक ऋषि का नाम

था जिन्होंने जड़वाद का प्रतिपादन किया था। अतः उनके अनुयायी भी चार्वाक कहलाये। इस तरह जड़वादी का दूसरा नाम चार्वाक हो गया। अन्य विद्वानों का कथन है कि चार्वाक किसी व्यक्ति का नाम नहीं था। चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निष्पन्न है। 'चर्व' का अर्थ चबाना या भोजन करना है। चूंकि चार्वाक मत में खाने पीने पर ज्यादा जोर दिया जाता है इसलिये इसका नाम चार्वाक पड़ा है। चार्वाकों का कहना था—पिब, खाद च वरलोचने इत्यादि*।

अन्य विद्वान् कहते हैं कि जड़वादियों को चार्वाक नाम इसलिये दिया गया है कि उनके वचन (वाक्) बड़े मीठे होते थे। 'चारु' (सुन्दर) 'वाक्' होने के कारण वे चार्वाक कहलाये। कुछ अन्य विद्वान्† यह कहते हैं कि जड़वाद के प्रवर्त्तक वृहस्पति थे। इस विचार के समर्थन में निम्नलिखित प्रमाण दिये जाते हैं। (१) लोक के पुत्र वृहस्पति जिन वैदिक ऋचाओं के ऋषि हैं उनमें स्वतंत्र विचार और विद्रोह की लहर है। (२) महाभारत तथा अन्य कतिपय ग्रंथों में इस बात का उल्लेख पाया जाता है कि जड़वादी विचारों का समर्थन वृहस्पति ने किया है। (३) कतिपय विद्वानों ने कुछ ऐसे सूत्रों तथा श्लोकों का उल्लेख किया है जिन्हें वे वृहस्पतिप्रणीत समझते हैं। कुछ विद्वानों का तो कथन है कि देवताओं के गुरु वृहस्पति ने चार्वाक मत का प्रचार देवताओं के शत्रुओं में अर्थात् दानवों में किया था। उनके प्रचार का अभिप्राय यह था कि चार्वाक मत के उपदेशों के अनुसार चलने से दानवों का नाश हो जाय।

जड़वादी को चार्वाक या लोकायतिक कहते हैं

भारतीय जड़वाद के प्रवर्त्तक जो कोई भी हों, वर्त्तमान समय में 'चार्वाक' 'जड़वादी' का पर्यायवादी शब्द हो गया है। जड़वाद को 'लोकायतमत' भी कहते हैं, क्योंकि यह लोगों में आयत या विस्तृत है। इसलिये जड़वादी को लोकायतिक भी कहते हैं।

---

* षड्-दर्शन-समुच्चय—लोकायतमतम्।

† षड्-दर्शन-समुच्चय तथा सर्व-दर्शन-संग्रह देखिये।

यों तो जड़वादी विचारों का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में जहाँ-तहाँ पाया जाता है, फिर भी हम उन विचारों को एक सुगठित रूप दे सकते हैं तथा उनमें जो प्रमाण-विज्ञान, तत्त्व-विज्ञान तथा नीति-विज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त हैं उनका पृथक्-पृथक् वर्णन कर सकते हैं।

२. प्रमाण-विचार

चार्वाक दर्शन मुख्यतया अपने प्रमाण-सम्बन्धी विचारों पर ही अवलम्बित है। प्रमाण-विज्ञान की प्रधान समस्याएँ ये हैं—हमारे तत्त्व-ज्ञान की सीमा क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति एवं विकास कैसे होता है? ज्ञान-प्राप्ति के लिये क्या-क्या प्रमाण हैं? विभिन्न प्रमाणों का विचार भारतीय प्रमाण-विज्ञान का एक प्रधान अंग है। तत्त्व-ज्ञान या यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। जिसके द्वारा प्रमा संभव हो उसको प्रमाण कहते हैं। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। इनके अनुसार केवल इन्द्रियों के द्वारा ही विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इन्द्रिय-ज्ञान ही एकमात्र यथार्थज्ञान है। इस मत के प्रतिपादन के लिये चार्वाक अनुमान तथा शब्द जैसे प्रमाणों का खंडन करते हैं।

प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण है

(१) अनुमान निश्चयात्मक नहीं है

अनुमान को हम प्रमाण तभी मान सकते हैं जब इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान संशयरहित हो तथा वास्तविक हो। किन्तु अनुमान में इन बातों का सर्वथा अभाव है। जब हम धूमवान् पर्वत को देखकर इस निश्चय पर पहुंचते हैं कि पर्वत वह्निमान् है तो हम प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष पर चले जाते है। नैयायिकों के अनुसार इस प्रकार का प्रमाण सर्वथा युक्तिपूर्ण है क्योंकि धूम तथा अग्नि में व्याप्ति का सम्बन्ध वर्त्तमान है। अतः हम कह सकते हैं कि

अनुमान संदेहात्मक है

क्योंकि यह व्याप्ति पर निर्भर करता है

जितने धूमवान् पदार्थ हैं, वे सभी वह्निमान् हैं ।

पर्वत धूमवान् है ।

अतः पर्वत वह्निमान् है ।

चार्वाकों का कहना है कि अनुमान तभी युक्तिपूर्ण तथा निश्चयात्मक हो सकता है जब व्याप्ति-वाक्य सर्वथा निःसंदेह हो ; क्योंकि व्याप्ति वाक्य में ही लिङ्ग का साध्य के साथ पूर्णव्यापक सम्बन्ध स्थापित रहता है । धूमवान् पर्वत को निश्चयात्मक ढंग से वह्निमान् तभी मान सकते हैं जब सभी धूमवान् पदार्थ वास्तविक में वह्निमान् हों । सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं, ऐसा हम तभी सिद्ध कर सकते हैं जब हम सभी धूमवान् पदार्थों को और उनके साथ वह्नि के सम्बन्ध को भी देख सकें । किन्तु यह सर्वथा असंभव है । भूत तथा भविष्य की तो बात ही क्या, वर्त्तमान समय में भी संसार के भिन्न-भिन्न भागों में जो धूमवान् पदार्थ हैं उन्हें भी हम नहीं देख सकते । अतः यह स्पष्ट है कि हम प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते । अनुमान के द्वारा भी हम इसे स्थापित नहीं कर सकते, क्योंकि जिस अनुमान के द्वारा हम इसकी स्थापना करेंगे उसकी सत्यता भी तो व्याप्ति पर ही निर्भर करती है । इस तरह यहाँ अन्योन्याश्रय दोष हो जाता है । व्याप्ति की स्थापना हम शब्द के द्वारा भी नहीं कर सकते हैं क्योंकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है । दूसरी बात यह है कि यदि अनुमान सदा शब्द-प्रमाण पर ही निर्भर हो तो फिर कोई भी व्यक्ति अपने आप से अनुमान नहीं कर सकता । उसे सर्वदा किसी विश्वासयोग्य व्यक्ति पर निर्भर करना होगा ।

व्याप्ति संभव नहीं है

यहाँ यह प्रत्युत्तर दिया जा सकता है कि हम सभी धूमवान् तथा वह्निमान् पदार्थों को तो नहीं देख सकते हैं, किन्तु उनके सामान्य लक्षणों को अर्थात् 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' को अवश्य देख

सकते हैं। अतः सभी धूमवान् पदार्थों तथा वह्निमान् पदार्थों को बिना देखे भी 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' में नियत सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। इस तरह सन्बन्ध स्थापित करके किसी भी धूमवान् पदार्थ को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह वह्निमान् है। चार्वाक इस युक्ति का भी खंडन करते हैं। उनका यह कहना है कि यदि धूमत्व तथा वह्नित्व इन दो सामान्यों में सम्बन्ध स्थापित कर भी दिया जाय और उसको हम स्वीकार भी कर लें तो इससे यह कैसे सिद्ध होता है कि धूम-व्यक्ति (अर्थात् प्रत्येक धूम) के साथ वह्नि का सन्बन्ध है? ऊपर के कथनानुसार तो केवल धूमत्व तथा वह्नित्व में सम्बन्ध स्थापित किया है। और केवल इसी सम्बन्ध को हमने स्वीकार किया गया है। हमने यह तो स्वीकार नहीं किया है कि सभी धूम के साथ वह्नि विद्यमान हैं। कोई विशेष धूमवान् वह्निमान् है—यह तबतक सिद्ध नहीं किया जा सकता जबतक हम उस धूम-विशेष का उस वह्नि-विशेष के साथ सम्बन्ध न देख लें। वस्तुतः प्रत्यक्ष के द्वारा धूमत्व का ज्ञान संभव ही नहीं है। धूमत्व तो एक जाति या सामान्य है जो सभी धूमवान् पदार्थों में वर्त्तमान है। अतः जबतक सभी धूमवान् पदार्थों का प्रत्यक्ष न हो तबतक उनके सामान्य का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु सभी धूमवान् पदार्थों का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं है। अतः 'धूमत्व' केवल उन धूमवान् पदार्थों का सामान्य समझा जायगा जिन्हें हमने देखा है। अर्थात् धूमत्व अप्रत्यक्ष धूमवान् पदार्थों का सामान्य नहीं माना जा सकता। इससे यह स्पष्ट है कि कुछ व्यक्तियों को देखकर व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि यदि संसार में कोई निश्चित सर्वव्यापक नियम नहीं है तो सांसारिक वस्तुओं में नियमितता क्यों पायी जाती है? आग सर्वदा गर्म क्यों रहती है? जल सदा शीतल क्यों रहता है? चार्वाक इसका उत्तर यह देते हैं कि यह वस्तुओं का स्वभाव है। वस्तुओं के प्रत्यक्ष धर्म को समझने के लिये किसी

अप्रत्यक्ष नियम की कल्पना करना अनावश्यक है। यह सर्वथा अनिश्चित है कि वस्तुओं में जो नियम अतीत में पाया गया है वह भविष्य में भी पाया जायगा।

आधुनिक तर्क-विज्ञान से यह प्रश्न आ सकता है कि क्या धूम तथा वह्नि की व्याप्ति कारण-कार्य-सम्बन्ध के अनुसार स्थिर नहीं की जा सकती है? चार्वाक इसका यह उत्तर देंगे कि कारण-कार्य-सम्बन्ध भी एक व्याप्ति है। अतः इसकी स्थापना भी उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण संभव नहीं है।

कारण-कार्य-संबंध की स्थापना भी नहीं हो सकती है

चार्वाक साथ-साथ यह भी उत्तर देंगे कि दो वस्तुओं को कई बार साथ-साथ देखकर हम कारण-कार्य-सम्बन्ध या अन्य किसी व्याप्ति की स्थापना नहीं कर सकते हैं। क्योंकि ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने के लिये यह जान लेना आवश्यक होता है कि उन दोनों वस्तुओं का साहचर्य (एक साथ रहना) किसी अलक्षित कारण या अन्य उपाधि पर तो निर्भर नहीं करता। कोई व्यक्ति कई बार अग्नि को धूम के साथ देखता है। उसके बाद वह केवल अग्नि को देखकर धूम का अनुमान करता है। यहाँ दोष की संभावना रह जाती है। क्योंकि यहाँ उपाधि की अवहेलना की गई है। जैसे—इंधन की आर्द्रता। अग्नि के साथ धूम तभी हो सकता है जब इंधन आर्द्र रहे। जब तक दो वस्तुओं का सम्बन्ध उपाधि-रहित नहीं हो तब तक वह अनुमान का सही आधार नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्ष के द्वारा यह सिद्ध नहीं हो सकता कि कोई व्याप्ति पूर्णतया उपाधि-रहित है, क्योंकि प्रत्यक्ष व्यापक नहीं हो सकता। यह संभव नहीं है कि प्रत्यक्ष के द्वारा सभी उपाधियों का ज्ञान प्राप्त हो। उपाधि-निरास के लिये अनुमान या शब्द की सहायता लेना भी अनुचित होगा, क्योंकि वे तो स्वयं संदिग्ध हैं। और जो स्वयं असिद्ध है वह दूसरे का साधन कैसे कर सकता है? **स्वयम् असिद्धः कथं परान् साधयति!**

यह सत्य है कि हम अनुमान के अनुसार निःशंक अपना का करते हैं। लेकिन इसका अर्थ केवल यह होता है कि हम बिना विचारे अनुमान की सत्यता मान लेते हैं और उसी भ्रांत धारणा पर काम करते हैं। (यह ठीक है कि कभी-कभी हमारे अनुमान सही निकल आते हैं। किन्तु हमें यह नहीं भूल जाना चाहिये कि अनेक बार वे गलत भी पाये जाते हैं। अतः हम नहीं कह सकते कि अनुमान अवश्य ही प्रामाणिक होता है। अनुमानों का प्रामाणिक होना स्वाभाविक धर्म नहीं है। कुछ अनुमान प्रामाणिक होते, कुछ नहीं भी होते हैं।)

कभी-कभी कुछ अनुमान सही निकल आते हैं

(२) शब्द भी प्रमाण नहीं है

क्या योग्य या प्रवीण व्यक्तियों का शब्द प्रमाण नहीं है? क्या विश्वासयोग्य पुरुषों से प्राप्त ज्ञान के अनुसार हम अपने कार्य नहीं करते हैं? यहाँ चार्वाक यह उत्तर देते हैं कि विश्वासयोग्य व्यक्तियों से प्राप्त ज्ञान शब्द के रूप में मिलता है और शब्दों का सुनना तो प्रत्यक्ष है। इस तरह शब्द-ज्ञान तो प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। इसलिये इसको प्रामाणिक मानना चाहिये। किन्तु यदि शब्द से ऐसी वस्तुओं का बोध हो जो प्रत्यक्ष से बाहर हो अर्थात् यदि शब्द से अप्रत्यक्ष वस्तुओं का बोध होता हो तो इसको दोषरहित नहीं कहा जा सकता। तथाकथित शब्द-प्रमाण से प्रायः हम लोगों को मिथ्याज्ञान प्राप्त होता है। अनेक व्यक्तियों को वेद में पूरा विश्वास है। किन्तु वेद क्या है? वेद तो उन धूर्त पुरोहितों का कृत्य है जिन्होंने अज्ञान तथा विश्वासपरायण मनुष्यों को धोखे में डालकर अपनी जीविका का प्रबन्ध किया है। इन पुरोहितों ने झूठी-झूठी आशाएँ तथा झूठे-झूठे प्रलोभन देकर मनुष्यों को वैदिक कर्मों के अनुसार चलने

अप्रत्यक्ष वस्तुओं के सम्बन्ध में शब्द विश्वसनीय नहीं हो सकता

वेद भी विश्वासयोग्य नहीं है

को प्रेरित किया है। इन कर्मों से लाभ केवल पुरोहितों को होता है। क्योंकि कर्मों को कराने का भार उन्हें ही रहता है।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। यदि हम अनुभवी तथा योग्य व्यक्ति के शब्दों में विश्वास न कर सकेंगे, तो क्या हमारा ज्ञान अत्यन्त संकुचित न रहेगा और हमारे कार्यों में बाधा न पहुंचेगी ? यहाँ चार्वाक निम्नोक्त उत्तर देते हैं। शब्द से प्राप्त जितने भी ज्ञान हैं, वे सभी अनुमान-सिद्ध हैं। किसी भी शब्द को हम इसलिये मानते हैं कि वह विश्वासयोग्य होता है। अतः शब्द से ज्ञान प्राप्त करने के लिये एक अनुमान की आवश्यकता होती है। वह अनुमान इस तरह का होता है—

अनुमान-सिद्ध शब्द अनुमान की तरह ही संदिग्ध है

सभी विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वाक्य मान्य हैं।
यह विश्वासयोग्य व्यक्ति का वाक्य है।
अतः यह मान्य है।

इससे यह स्पष्ट है कि शब्द के द्वारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान अनुमान पर अवलम्बित होता है। इसलिये शब्द की प्रामाणिकता उसी प्रकार संदिग्ध है जिस प्रकार अनुमान की। अनुमान की तरह हम शब्द को भी गलती से विश्वासयोग्य मानकर उसके अनुसार अपने कार्य करते हैं। कभी-कभी इस विश्वास के अनुसार कार्य करने से सफलता मिल जाती है, किन्तु अनेक बार नहीं भी मिलती है। अतः शब्द ज्ञान-प्राप्ति का यथार्थ और निर्भर योग्य साधन नहीं माना जा सकता।

संक्षेप में चार्वाक का कहना यह है। चूंकि यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अनुमान तथा शब्द विश्वासयोग्य है, इसलिये प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है।

(३) तत्त्व-विचार

तत्त्व-विज्ञान में संसार के मूल-तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार होता है। तत्त्वों के सम्बन्ध में चार्वाकों का मत उनके प्रमाण-सम्बन्धी

विचारों पर अवलम्बित है। चूंकि प्रत्यक्ष ही एक-मात्र प्रमाण है इसलिये हम केवल उन्हीं वस्तुओं के अस्तित्व को मान सकते हैं जिनका प्रत्यक्ष हो सकता है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, जीवन की नित्यता, अदृष्ट आदि विषयों को हम नहीं मान सकते, क्योंकि इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है। हमें केवल जड़-द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः हम केवल उन्हीं को मान सकते हैं। इस प्रकार चार्वाक जड़वाद का प्रतिपादन करते हैं। इनके मत के अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्त्व है।

जड़ ही एकमात्र सत्ता है

(१) संसार चार भूतों से निर्मित है

जड़-जगत् के निर्माण के सम्बन्ध में अन्यान्य भारतीय दार्शनिकों का मत है कि यह पंचभूतों से निर्मित है। वे पंचभूत ये हैं—आकाश, वायु, अग्नि, जल, तथा पृथ्वी। किन्तु चार्वाक आकाश के अस्तित्व को नहीं मानते। क्योंकि इसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है, प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं होता है। इस तरह हम देखते हैं कि संसार चार प्रकार के प्रत्यक्ष भूतों से ही निर्मित है। इन तत्त्वों से केवल निर्जीव पदार्थों की ही उत्पत्ति नहीं हुई है। किन्तु उद्भिज् आदि सजीव द्रव्य भी इन्हीं से उत्पन्न हुए हैं। प्राणियों का जन्म तत्त्वों के संयोग से होता है। मृत्यु के बाद वे फिर भूतों में ही मिल जाते हैं।

चार प्रकार के जड़-तत्त्व हैं

(२) आत्मा नहीं है

हम ऊपर कह आये हैं कि चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का हो सकता है—बाह्य तथा मानस। मानस प्रत्यक्ष के द्वारा हम आन्तरिक भावों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस तरह आन्तरिक भावों के ज्ञान से चैतन्य का भी प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य बाह्य जड़-द्रव्यों में नहीं पाया जाता है। तो क्या हम नहीं कह सकते कि हमारे अन्तर्गत एक अभौतिक सत्ता है जिसे हम आत्मा कहते हैं और जिसका गुण चैतन्य है?

चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है

चार्वाक स्वीकार करते हैं कि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। किन्तु वे यह नहीं मानते कि चैतन्य किसी अभौतिक तत्त्व अर्थात् आत्मा का गुण है। आत्मा का तो कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। जड़-तत्त्वों से बने जो हमारे शरीर हैं केवल उन्हीं का तो प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य हमारे शरीर के अन्तर्गत है, इसलिये चैतन्य को शरीर का ही गुण मानना चाहिये। चेतन शरीर को ही आत्मा कहना चाहिये। *चैतन्यविशिष्ट देह एव आत्मा*। आत्मा एवं शरीर के तादात्म्य का ज्ञान दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त होता है। 'मैं मोटा हूँ', 'मैं लंगड़ा हूँ', 'मैं अन्धा हूँ'—ये वाक्य आत्मा और शरीर की एकता को ही प्रमाणित करते हैं। यदि आत्मा शरीर से भिन्न हो तो इन वाक्यों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि चैतन्य का अस्तित्व तो किसी भी जड़-तत्त्व में नहीं पाया जाता। और जब तत्त्वों में ही इसका अभाव होगा तो उनके योग से बने हुए शरीर में इसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? चार्वाक इसका यह उत्तर देते हैं। जड़ तत्त्वों के संयोग से किसी वस्तु का निर्माण होता है। यह संभव है कि तत्त्वों में यदि किसी गुण-विशेष का अभाव भी रहे तो उसकी उत्पत्ति उस निर्मित वस्तु में हो जा सकती है। पान, चूना, सुपारी में लाल रंग का अभाव है। किन्तु इनको जब एक साथ चबाया जाता है तो उनमें लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखने से भी उसमें नये-नये गुणों का आविर्भाव होता है। गुड़ में मादकता का अभाव है। किन्तु गुड़ के उफन जाने पर वह मादक हो जाता है। इसी प्रकार जड़-तत्त्वों का भी सम्मिश्रण यदि एक विशेष ढंग से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमें एक नये गुण चैतन्य का आविर्भाव होता है*। शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है।

* किण्वादिभ्यः मदशक्तिवत्

शरीर से भिन्न यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं है तो उसके अमर या नित्य होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है। और उसे ही जीवन का अन्त समझना चाहिये। पूर्वजीवन, भविष्यजीवन, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, कर्मभोग—ये सभी विश्वास निराधार हैं।

(३) ईश्वर नहीं है

आत्मा की तरह ईश्वर के अस्तित्व में भी विश्वास नहीं किया जा सकता, क्योंकि ईश्वर का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। जड़-तत्त्वों के सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति हुई है। इसके लिये किसी स्रष्टा की कल्पना अनावश्यक है।

ईश्वर की कल्पना अनावश्यक है

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि क्या संसार की सृष्टि के लिये जड़-तत्त्वों का सम्मिश्रण आपसेआप हो जाता है? किसी भी वस्तु के लिये उपादान कारण के साथ-साथ निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। मिट्टी के घड़े को बनाने में मिट्टी की आवश्यकता है। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। किन्तु मिट्टी के अतिरिक्त एक निमित्त कारण अर्थात् कुम्भकार की आवश्यकता है जो मिट्टी को घड़े का रूप देता है। चार्वाक के अनुसार जो चार भूत हैं वे संसार के केवल उपादान कारण हैं। इसके अतिरिक्त एक निमित्त कारण अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता होती है। जो इन उपादानों को लेकर इस विचित्र संसार की सृष्टि करता है। इसके उत्तर में चार्वाक कहते हैं कि जड़-तत्त्वों का स्वयं अपना-अपना स्वभाव है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही वे संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इस जगत् की सृष्टि किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये हुई है। अधिक युक्ति-संगत यही है कि इसकी उत्पत्ति जड़-तत्त्वों के आकस्मिक संयोग से हुई है। अतः चार्वाक ईश्वर को नहीं मानते। वे अनीश्वरवादी हैं।

चार्वाक के अनुसार जड़भूतों के अन्तर्निहित स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति हो जाती है। इसलिये चार्वाकमत 'स्वभाववाद' भी कहलाता है। इसे यदृच्छावाद भी कहते हैं। क्योंकि इसके अनुसार संसार की उत्पत्ति किसी प्रयोजन-साधन के लिये नहीं हुई है। संसार तो जड़-तत्त्वों का आकस्मिक संयोग है। चार्वाक मत प्रत्यक्षवाद भी कहा जा सकता है क्योंकि यह केवल प्रत्यक्ष वस्तुओं के अस्तित्व को मानता है।

(४) चार्वाक के नैतिक विचार

मानव-जीवन का चरम लक्ष्य क्या है? कौन ऐसा चरम लक्ष्य है जिसको मनुष्य प्राप्त कर सकता है? किस सिद्धान्त के अनुसार नैतिक विचारों का निर्णय होता है? नीति-विज्ञान में ऐसे ही प्रश्नों पर विचार किया जाता है। चार्वाक अपने तत्त्व-विज्ञान के अनुसार ही नैतिक प्रश्नों का भी विचार करते हैं।

स्वर्ग मिथ्या कल्पना है

मीमांसक प्रभृति कुछ दार्शनिक स्वर्ग को मानव-जीवन का चरम-लक्ष्य मानते हैं। स्वर्ग पूर्ण आनन्द की अवस्था को कहते हैं। इहलोक में वैदिक आचारों के अनुसार चलने से परलोक में स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है। चार्वाक इसे नहीं मानते हैं, क्योंकि यह परलोक के विश्वास पर अवलम्बित है। इनके अनुसार तो परलोक का कोई प्रमाण ही नहीं है। स्वर्ग और नरक पुरोहितों की मिथ्या कल्पनाएँ हैं। पुरोहित-वर्ग अपने व्यावसायिक लाभ के लिये लोगों को नाना प्रकार के भय और प्रलोभन देकर वैदिक आचारों को करने के लिये वाध्य करता है। बुद्धिमान् पुरुष उनसे प्रतारित नहीं हो सकते हैं।

दुःखों से मुक्ति पाना संभव नहीं है

अन्यान्य दार्शनिक मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं। दुःखों का पूर्णविनाश मोक्ष है। कुछ विचारकों का मत है कि मोक्ष मृत्यु के उपरान्त ही मिल सकता है। किन्तु कुछ लोगों का कहना है कि यह इसी जीवन में मिल सकता है। चार्वाक इनमें से किसी मत को नहीं

मानते हैं। उनका कहना यह है कि यदि मोक्ष का अर्थ आत्मा का शारीरिक बंधन से मुक्त होना है तो यह कदापि संभव नहीं है। क्योंकि आत्मा नाम की कोई सत्ता ही नहीं है । मोक्ष का अर्थ यदि जीवन-काल में ही दुःखों का अन्त होना समझा जाय, तब भी यह संभव नहीं है । क्योंकि शरीर-धारण तथा सुख-दुःख में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दुःख को कम किया जा सकता है तथा सुख की वृद्धि हो सकती है, किन्तु दुःखों का पूर्णविनाश तो मृत्यु से ही हो सकता है। बृहस्पति-सूत्र में कहा है—*मरणम् एव अपवर्गः* । कुछ व्यक्ति अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को दबाकर सुख-दुःख से रहित अवस्था को प्राप्त करना चाहते हैं। वे ऐसा इसलिये करते हैं कि बहुधा सुख के साथ दुःख भी मिला रहता है। ऐसे व्यक्ति मूर्ख हैं। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अन्न को इसलिये नहीं छोड़ता कि उसमें भूसा लगा हुआ है। काँटों के कारण मछली खाना नहीं छोड़ा जा सकता। पशुओं के द्वारा ध्वंस हो जाने के डर से कृषि नहीं छोड़ी जा सकती है। भिक्षुओं से माँगे जाने के डर से भोजन पकाना नहीं बन्द किया जा सकता। हम लोगों का अस्तित्व शरीर में तथा वर्त्तमान जीवन तक ही सीमित है। अतः इस शरीर के द्वारा जो सुख प्राप्त हो सकता है वही हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिये। परलोक-सुख की झूठी आशा में रहकर हमें इस जीवन के सुख को भी ठुकरा नहीं देना चाहिये। "कल मयूर मिलेंगा इस आशा में कोई हाथ में आये कबूतर को नहीं छोड़ता।"* सन्दिग्ध स्वर्णमुद्रा से निश्चित कौड़ी ही अधिक मूल्यवान् है। हस्तगत धन को परहस्तगत करना मूर्खता है। अतः मनुष्य का लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह वर्त्तमान जीवन में अधिक से अधिक कितना सुख प्राप्त कर सकता है और अपने दुःखों को अधिक से अधिक कितना कम कर सकता है। सफल जीवन वही है जिसमें अधिक से अधिक सुखभोग होता है। अच्छा

* वरमद्य कपोतः श्वो मयूरात्।

काम वही है जिससे दुःख की अपेक्षा अधिक सुख मिलता है बुरा काम वही है जिससे सुख की अपेक्षा अधिक दुःख मिलता है। चार्वाक के इस मत को हम सुखवाद (Hedonism) कह सकते हैं। सुखवाद के अनुसार सुखभोग ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

सुख ही जीवन का लक्ष्य है

कुछ भारतीय दार्शनिक कहते हैं कि पुरुषार्थ चार हैं— अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष। चार्वाक धर्म और मोक्ष को स्वीकार नहीं करते। मोक्ष का अर्थ पूर्ण दुःख-विनाश है जो मृत्यु होने से ही संभव हो सकता है। कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति अपनी मृत्यु की कामना नहीं कर सकता। पाप और पुण्य का भेद शास्त्रों में किया गया है। शास्त्र विश्वासयोग्य नहीं है। अतः धर्म और मोक्ष को हम जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं मान सकते। हम केवल अर्थ और काम को अपने जीवन का लक्ष्य मान सकते हैं। बुद्धिमान व्यक्तियों को अर्थ और काम के लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। इन दोनों में काम ही अन्तिम लक्ष्य हो सकता है। अर्थ अन्तिम लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो काम-प्राप्ति के लिये केवल एक साधन है।

धर्म और मोक्ष को जीवन का लक्ष्य नहीं माना जा सकता

अर्थ काम का साधन है

इस तरह हम देखते हैं कि चार्वाक शास्त्रों को, पुण्य और पाप के भेद को, तथा परलोक-जीवन को नहीं मानते हैं। इसीलिये वे यागादि कर्मों का भी विरोध करते हैं। इनके अनुसार स्वर्ग पाने के लिये, नरक से बचने के लिये या प्रेतात्माओं की तृप्ति के लिये वैदिक कर्म करना सर्वथा व्यर्थ है। ये तो वैदिक कर्मों का उपहास करते हैं*।

वैदिक क्रिया-कर्म व्यर्थ है

---

*न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकाः।
अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।

वे कहते हैं कि यदि श्राद्ध में अर्पित किया हुआ अन्न प्रेतात्मा की भूख मिटा सकता है तो कोई पथिक भोजन की वस्तु साथ-साथ क्यों लिये फिरता है ? उसका कुटुम्ब क्यों नहीं उसकी भूख-शान्ति के लिये उसके घर पर ही भोजन अर्पित कर देता है ? नीचे की कोठरियों में अर्पित किये हुए भोजन से ऊपर रहनेवालों की भूख क्यों नहीं मिट जाती है ? पुरोहितों का यदि वास्तविक विश्वास है कि यज्ञ में बलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग पहुँच जाता है तो वे क्यों नहीं पशुओं के बदले अपने माँ-बाप की बलि कर देते हैं ?* और इस तरह क्यों नहीं उनके लिये स्वर्ग-प्राप्ति का निश्चित प्रबन्ध कर देते हैं ?

इस प्रकार हम देखते हैं कि चार्वाकों के लिये लौकिक आचार-व्यवहार के अतिरिक्त और कोई धर्म नहीं है और लौकिक-व्यवहार भी सुख के लिये ही है। चार्वाक का नैतिक विचार उनके जड़वाद का ही परिणाम है।

५. उपसंहार

ग्रीस के दार्शनिक एपीक्यूरस (Epicuris) के अनुयायियों की तरह भारत के चार्वाकों को भी लोगों ने घृणा की दृष्टि से देखा है। लोगों ने उन्हें समझने का अधिक प्रयत्न नहीं किया है। सर्व साधारण में तो चार्वाक शब्द भी घोर निन्दनीय हो गया है। किन्तु दार्शनिकों को यह स्मरण रखना चाहिये कि भारतीय दर्शन चार्वाक मत का कितना ऋणी है। संशयवाद और अज्ञेयवाद तो स्वतंत्र विचार के

भारतीय दर्शन को चार्वाक की देन

त्रयोवेदस्य कर्त्तारो भण्डधूर्त्तनिशाचराः।
जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।
* गच्छतामिह जन्तूनां वृथा पाथेयकल्पना।
गेहस्थकृतश्राद्धेन पथितृप्तिरवारिता।
*पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ?

परिचायक हैं जो विना समीक्षा किये हुए प्रचलित मतों को नहीं मानते हैं। दर्शन-शास्त्र स्वतंत्र विचार से उत्पन्न है। दर्शन-शास्त्र के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने को सुदृढ़ बनाने के निमित्त संशयवादियों के आक्षेपों को दूर करे। संशयवादी जन-साधारण के विचारों को दोषयुक्त वताकर नयी-नयी समस्यायें खड़ा करता है। ऐसी-ऐसी समस्याओं का समाधान कर दर्शन और भी पुष्ट और समृद्ध हो जाता है। कांट एक प्रख्यात पाश्चात्य दार्शनिक थे। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि वे संशयवाद के ऋणी हैं। उन्होंने कहा है कि ह्यूम के संशयवाद ने मुझे हठविश्वास की निद्रा से जगाया है। इसी तरह हम कह सकते हैं कि चार्वाक-मत ने भारतीय-दर्शन को हठ विश्वास से बचाया है। हम इसकी चर्चा ऊपर कर चुके हैं कि सभी भारतीय दर्शनों ने चार्वाक के आक्षेपों को दूर करने का प्रयत्न किया है। चार्वाक-मत ही मानो उनके विचारों के मूल्यांकन की कसौटी थी। अतः चार्वाकमत में दो महत्त्व-पूर्ण बातें पाई जाती हैं। एक तो चार्वाक ने अनेक दार्शनिक समस्याएँ उपस्थित कीं। दूसरे इसके कारण अनेक दार्शनिक हठ-विश्वास से बच सके और अपने विचारों का युक्ति-पूर्वक विवेचन कर सके।

सुखवाद के कारण ही चार्वाक इतने अपमानित हुए हैं। किन्तु सुख-भोग कोई घृणा का विषय नहीं है। अन्य लोगों ने भी सुख को किसी न किसी रूप में वांछनीय माना है। यह गर्हित तभी होता है जब यह अश्लील होता तथा स्वार्थपूर्ण होता है। कुछ चार्वाक निकृष्ट इन्द्रिय-सुख को ही जीवन का आदर्श मानते थे। किन्तु चार्वाकों के दो वर्ग थे—धूर्त चार्वाक तथा सुशिक्षित चार्वाक। अतः यह स्पष्ट है कि सभी चार्वाक धूर्त तथा अशिक्षित नहीं होते थे। उनमें से अनेक सुशिक्षित होते थे जो उत्कृष्ट सुखों का अनुसरण करते थे। इसके लिये वे ललित कलाओं का अभ्यास करते थे। कामसूत्र के प्रणेता वात्स्यायन के अनुसार चौसठ ललित कलाएँ होती हैं। सभी चार्वाक

स्वार्थान्ध नहीं होते थे।' स्वार्थसुखवाद सामाजिक व्यवस्था के लिये घातक होता है। यदि मनुष्य दूसरों के लिये अपने सुख का कुछ भी परित्याग न करे तो सामाजिक जीवन संभव ही नहीं हो सकता है। कुछ चार्वाक राजा को ईश्वर मानते थे। इससे यह स्पष्ट है कि वे समाज तथा उसके प्रमुख की आवश्यकता को मानते थे। लोकायतिक-दर्शन में दण्ड नीति तथा वार्त्ता का भी विचार पाया जाता है। अतः प्राचीन भारत के चार्वाकों में शिष्ट लोग भी थे। वर्त्तमान यूरोप के प्रत्यक्ष-वादियों में भी ऐसे लोग हैं, तथा प्राचीन ग्रीस में डिमोक्रिटस के अनुयायियों में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं था। काम-सूत्र के दूसरे अध्याय में वात्स्यायन ने नैतिक विषयों पर विचार किया है। वहाँ उन्होंने शिष्टसुखवाद का वर्णन किया है। उन्होंने अपना मत भी प्रकट किया है तथा उसे युक्ति-संगत बनाने की चेष्टा की है×। वात्स्यायन ईश्वरवादी थे। वे परलोक को मानते थे। अतः वे साधारण अर्थ में जड़वादी नहीं थे। किन्तु व्यापक अर्थ में हम उन्हें भी जड़वादी कह सकते हैं। जो व्यक्ति उच्च विषयों को निम्न समझते हैं वे सभी व्यापक अर्थ में जड़वादी हैं॥ वात्स्यायन तीन ही पुरुषार्थ मानते हैं—धर्म, अर्थ तथा काम। इनका यथोचित समन्वय आवश्यक है +। वे कहते हैं कि धर्म और अर्थ को काम-प्राप्ति का साधनमात्र समझना चाहिये। धर्म और अर्थ अन्तिम लक्ष्य नहीं हैं। अन्तिम लक्ष्य केवल काम है। वात्स्यायन का सुखवाद इसलिये शिष्ट

× कुछ विद्वानों के अनुसार वात्स्यायन का समय ईसवी युग के आरम्भ के लगभग है। वात्स्यायन ने कहा है कि मेरे पहले प्रायः बारह ग्रंथकार हो गये हैं जिनके विचारों का संक्षिप्त वर्णन मैं कर रहा हूँ। इन ग्रंथकारों की कृतियाँ आजकल अलभ्य हैं। वात्स्यायन के कथन से यह पता चलता है कि इन्होंने जिस मत का विवेचन किया है वह कितने प्राचीन काल से आ रहा था।

॥ James Pragmatism पृ० ६३ देखिये।

+ परस्परस्य अनुपघातकम् त्रिवर्गं सेवेत, —कामसूत्र, अध्याय २।

समझा जाता है कि वे ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिक वृत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। इनके विना मनुष्य का सुखभोग पाशविक सुखभोग से कुछ भी भिन्न नहीं है। वात्स्यायन के अनुसार पंचेन्द्रियों की तृप्ति ही काम या सुख का मूल है। शरीर-रक्षा के लिये जिस तरह भूख की शान्ति नितान्त आवश्यक है, उसी तरह इन्द्रियों की तृप्ति भी परमावश्यक है ❀। किन्तु इन्द्रियों को चौसठ ललित कलाओं के अभ्यास के द्वारा शिष्ट तथा संयत बनाना चाहिये। कोई व्यक्ति इन ललित कलाओं का अभ्यास करने का अधिकारी तभी होता है यदि उसने बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य का पालन किया हो तथा वेदों का अध्ययन किया हो। शिक्षा के विना मनुष्य का सुखभोग पाशविक सुखभोग से भिन्न नहीं हो सकता। अनेक सुखवादी ऐसे होते हैं जो वर्त्तमान सुख का कुछ भी परित्याग नहीं करते। वे जीवन में उचित सुखभोग करने के लिये बाल्यकाल में किसी कला का अभ्यास नहीं करते। वात्स्यायन कहते हैं कि ऐसा अधैर्य घातक होता है। ऐसी मनोवृत्ति रखनेवाला कृषि-उद्योग या बीज-वपन भी छोड़ दे सकता है। क्योंकि इसका फल तो शीघ्र नहीं वरन् कालान्तर में मिलता है। वात्स्यायन के अनुसार हमें अपनी सुख-लिप्सा को संयत रखना चाहिये। इसको उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टान्तों के द्वारा स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उन्होंने यह दिखलाया है कि यदि हमारी प्रवृत्तियाँ धर्म और अर्थ के अनुकूल न हों तो वे सर्वनाश का कारण होती हैं और सुखभोग की सभी संभावनाओं को नष्ट कर देती हैं। आधुनिक वैज्ञानिक की तरह वात्स्यायन भी यह कहते हैं कि हमें सुखभोग की अवस्थाओं तथा साधनों का वैज्ञानिक विवेचन करना चाहिये। कोई कार्य सफल तभी हो सकता है जब उसका ढंग वैज्ञानिक होता है। यह सही है कि जन-साधारण वैज्ञानिक अध्ययन नहीं करते हैं। किन्तु उनके बीच जो वैज्ञानिक होते हैं उनके विचार अज्ञात रूप से जन-साधारण तक

❀कामसूत्र के भाष्यकार यशोधर कहते हैं कि इन्द्रियों को अतृप्त रखने से उन्माद आदि हो जाने की संभावना रहती है।

पहुँच ही जाते हैं। साधारण जनता उनसे लाभ उठा ही लेती है। इस तरह हम देखते हैं कि वात्स्यायन एक उच्च कोटि के सुखवादी थे। ऐसे लोग ही शिष्ट चार्वाक में परिगणित हो सकते हैं।

चार्वाक के प्रमाण-विज्ञान की देन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चार्वाक के नाम से उनके विपक्षियों ने अनुमान के खंडन के लिये जो युक्तियाँ दी हैं, वे कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इस तरह की युक्तियाँ आधुनिक पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में भी पायी जाती हैं। हम देख चुके हैं चार्वाक के अनुसार अनुमान से यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। पाश्चात्य देशों के प्रैग्मेटिस्ट (Pragmatist) तथा लॉजीकल पॉजीटिभिस्ट (Logical Positivist) आदि अनेक सम्प्रदायों के विद्वानों का भी ऐसा ही मत है।

३

जैन दर्शन

१. विषय-प्रवेश

जैनों के अनुसार जैन-मत के प्रवर्त्तक चौबीस तीर्थङ्कर थे। अत्यन्त प्राचीन काल से ही इन तीर्थङ्करों की एक लम्बी परम्परा चली आ रही थी। ऋषभदेव इस परम्परा के प्रथम तीर्थङ्कर माने जाते हैं। वर्द्धमान या महावीर इसके चौबीसवें या अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में (गौतम बुद्ध से कुछ वर्ष पहले) हुआ था। वर्द्धमान से पूर्व (अर्थात् २३वें तीर्थङ्कर) पार्श्वनाथ थे। इनका समय ईसा से लगभग ६ सौ वर्ष पूर्व माना जाता है। अन्य २२ तीर्थङ्कर प्रागैतिहासिक युग के हैं। तीर्थङ्करों को जिन भी कहते हैं। 'जिन' ❀ शब्द का अर्थ विजेता या जीतनेवाला है। तीर्थङ्करों को 'जिन' नाम इसलिये दिया गया है कि इन्होंने राग-द्वेष को जीत कर निर्वाण प्राप्त किया है।

जैनमत के प्रवर्त्तक

जैन ईश्वर को नहीं मानते हैं। वे तीर्थङ्करों अर्थात् जैनमत के प्रवर्त्तकों की ही उपासना करते हैं। तीर्थङ्कर मुक्त होते हैं। मोक्ष पाने के पूर्व ये भी बंधन में थे। किन्तु साधना के द्वारा ये मुक्त, सिद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा आनन्दमय हो गये हैं। जैनों का यह विश्वास है कि

जैन मत में तीर्थङ्करों का स्थान

❀ पूरी व्याख्या के लिये भद्रबाहु का कल्पसूत्र (Jacobi, Jaina Sutras, प्रथम भाग) तथा Mrs. Stevenson का The Heart of Jainism (चतुर्थ अध्याय) देखिये।

बंधनग्रस्त सभी जीव जिनों के दिखलाये मार्ग पर चल सकते हैं और उनकी तरह पूर्णज्ञान, पूर्णशक्ति, तथा पूर्णआनन्द प्राप्त कर सकते हैं। जैनमत का यह आशावाद प्रत्येक जैन में आत्मविश्वास का संचार करता है। तीर्थङ्करों के द्वारा यह प्रमाणित हो चुका है कि प्रत्येक जीव अपने आन्तरिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः जैन इसे कल्पनामात्र नहीं समझते हैं।

जैनों के दो सम्प्रदाय-श्वेताम्बर तथा दिगम्बर

कालान्तर में जैनों के दो सम्प्रदाय हो गये—श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। इन सम्प्रदायों में मूल-सिद्धान्तों का भेद नहीं है। बल्कि उनका भेद आचार-विचार सम्बन्धी कुछ गौण बातों को लेकर है। दोनों ही सम्प्रदायों के लोग तीर्थङ्करों के उपदेशों को अवश्य मानते हैं। किन्तु श्वेताम्बर की अपेक्षा दिगम्बर में अधिक कट्टरता पायी जाती है। जहाँ श्वेताम्बर यह कहते हैं कि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का बिलकुल नाश नहीं हो सकता, वहाँ दिगम्बरों का कहना है कि संन्यासियों को विषयों का बिलकुल परित्याग कर देना चाहिये। यहाँ तक कि उन्हें वस्त्रों का भी व्यवहार नहीं करना चाहिये। किन्तु श्वेताम्बर इसे नहीं मानते। उनके अनुसार श्वेत वस्त्र का व्यवहार विहित समझा जाता है ❀। दिगम्बरों के अनुसार तो पूर्णज्ञानी महात्माओं को भोजन की भी आवश्यकता नहीं है। वे यह भी कहते हैं कि स्त्रियाँ जब तक पुरुषरूप में जन्म-ग्रहण न करें तब तक वे मुक्ति नहीं पा सकती हैं। किन्तु श्वेताम्बर इन विचारों को नहीं मानते हैं।

जैन-साहित्य

जैन-दर्शन का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है। यह अधिकांशतः प्राकृत में है। प्रामाणिक ग्रन्थों को, जिनमें जैनमत के मौलिक सिद्धान्त संग्रहीत हैं, सभी सम्प्रदायों के लोग मानते हैं। कहा जाता है कि इन सिद्धान्तों के उपदेष्टा

❀ दिगम्बर का अर्थ नग्न तथा श्वेताम्बर का अर्थ 'श्वेत वस्त्रधारी' है।

चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर हैं। उन सिद्धान्तों की संख्या बहुत अधिक है, इसलिये उनका उल्लेख यहाँ संभव नहीं है। प्राचीन जैन-साहित्य अधिकांशतः लुप्त हो गया है। आगे चलकर अन्य दर्शनों ने जब जैनमत की आलोचना की, तब जैनों ने अपने मत के संरक्षण के लिये संस्कृत भाषा को अपनाया। इस प्रकार संस्कृत में भी जैन-साहित्य का विकास हुआ है।

Realistic Pluralistic

जैन-दर्शन की रूप-रेखा

जैनमत दार्शनिक दृष्टि से वस्तुवादी तथा बहुसत्तावादी है। इसके अनुसार जितने द्रव्यों को हम देखते हैं सभी सत्य हैं। संसार में दो तरह के द्रव्य हैं—जीव और अजीव। प्रत्येक सजीव-द्रव्य में, चाहे उसका शरीर किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, जीव अवश्य रहता है। इसलिये जैन अहिंसा-सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। अहिंसा-सिद्धान्त के अतिरिक्त जैन-मत की एक और विशेषता है। वह है अन्य मतों के प्रति उसका समादर-भाव। इस समादर-भाव का कारण जैनमत का अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद है। अनेकान्तवाद के अनुसार किसी भी वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म पाये जाते हैं। स्याद्वाद के अनुसार कोई भी विचार निरपेक्ष सत्य नहीं होता। एक ही वस्तु के सम्बन्ध में दृष्टि, अवस्था आदि भेदों के कारण भिन्न-भिन्न विचार सत्य हो सकते हैं।

हम यहाँ जैन-दर्शन के प्रमाण, मूलतत्त्व तथा धर्म और आचार सम्बन्धी विषयों का पृथक्-पृथक् विवेचन करेंगे।

(२) प्रमाण-विचार

(१) ज्ञान और उसके भेद

जैनों के अनुसार चैतन्य ही प्रत्येक जीव का स्वरूप है। चार्वाक की तरह ये यह नहीं मानते कि चैतन्य कोई आकस्मिक गुण है। जैन-दर्शन में जीव या आत्मा की उपमा सूर्य के साथ दी गई है। जिस तरह सूर्य का प्रकाश सूर्य को भी प्रकाशित करता है, उसी तरह

आत्मा अपने को तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। जैनों ने कहा है, 'ज्ञानं स्वपरभासी'। जिस तरह सूर्य किसी आवरण के कारण प्रकाश नहीं दे सकता, उसी तरह आत्मा भी बंधन में पड़ जाने के कारण अनंत ज्ञान का प्रसार नहीं कर सकता। जब बंधन का नाश हो जाता है तब आत्मा अनंत ज्ञानमय हो जाता है। अनन्त ज्ञान की शक्ति प्रत्येक जीव में है। किन्तु बाधाओं के रहने से जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता। अर्थात् बंधन के कारण सभी जीवों का ज्ञान न्यून तथा सीमित हो जाता है। ज्ञान की परिमितता जैनों के अनुसार कर्मजनित बाधाओं के कारण होती है। इन बाधाओं के कारण ज्ञान में न्यूनता आ जाती है। इस तरह जीव की सर्वज्ञता नष्ट हो जाती है। शरीर, इन्द्रिय और मन कर्मों के कारण ही उत्पन्न होते हैं। इनके वर्त्तमान रहने से आत्मा की स्वाभाविक शक्ति परिमित हो जाती है।

जीव का स्वरूप चैतन्य है

अन्य दार्शनिकों की तरह जैन भी ज्ञान के दो भेद मानते हैं— अपरोक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान। किन्तु ये यह भी कहते हैं कि जो ज्ञान साधारणतया अपरोक्ष माना जाता है वह केवल अपेक्षाकृत अपरोक्ष है। इन्द्रिय या मन के द्वारा जो वाह्य एवं आभ्यन्तर विषयों का ज्ञान होता है, वह अनुमान की अपेक्षा अवश्य अपरोक्ष होता है किन्तु ऐसे ज्ञान को पूर्णतया अपरोक्ष नहीं माना जा सकता। क्योंकि ऐसा ज्ञान इन्द्रिय या मन के द्वारा होता है। इस व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान के अतिरिक्त पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान भी होता है। इसकी प्राप्ति कर्म बंधन के नष्ट होने पर ही होती है। पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान में आत्मा और ज्ञात वस्तुओं का साक्षात् सम्बन्ध (इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही) हो जाता है। जबतक कर्मजनित बाधाएँ

अपरोक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान

अपरोक्ष ज्ञान के दो भेद व्यावहारिक तथा पारमार्थिक

रहती हैं तबतक ऐसा ज्ञान संभव नहीं होता है। सब कर्मों का नाश हो जाने पर ये बाधाएँ भी नष्ट हो जाती हैं और तब ऐसा ज्ञान संभव होता है। ❀

परमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के तीन भेद—अवधि, मनःपर्याय तथा केवल

पारमार्थिक अपरोक्ष ज्ञान के तीन भेद किये गये हैं—अवधि, मनःपर्याय तथा केवल। (१) अवधि-ज्ञान—जब मनुष्य अपने कर्म-बंधन का कुछ भाग नष्ट कर लेता है तो वह एक ऐसी शक्ति प्राप्त करता है जिसके द्वारा वह अत्यन्त दूरस्थ, सूक्ष्म तथा अस्पष्ट द्रव्यों को भी जान सकता है। ऐसे ज्ञान की अवधि या सीमा होती है, क्योंकि इसके द्वारा जिन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है. वे सीमित हैं। अतः ऐसे ज्ञान को अवधि-ज्ञान कहते हैं। (२) मनः पर्याय—जब मनुष्य राग-द्वेष आदि मानसिक बाधाओं पर विजय पाता है, तब वह अन्य व्यक्तियों के वर्त्तमान तथा भूत विचारों को जान सकता है। ऐसे ज्ञान को मनःपर्याय कहते हैं, क्योंकि इससे दूसरों के मन में 'प्रवेश' होता है। (३) केवल-ज्ञान—जब ज्ञान के बाधक कर्म आत्मा से दूर हो जाते हैं, तब अनन्त-ज्ञान प्राप्त होता है। इसे केवल-ज्ञान कहते हैं। यह मुक्त जीवों को ही प्राप्त होता है। †

ये ही तीन प्रकार के अलौकिक ज्ञान हैं जो पूर्णरूप से अपरोक्ष हैं। इनके अतिरिक्त दो प्रकार के लौकिक ज्ञान हैं जो सर्वसाधारण

❀ उमास्वामी प्रभृति प्राचीन जैन दर्शनिकों के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान उसी को कहते हैं जो बिना किसी माध्यम के हो। हेमचन्द्र आदि अन्य जैन विद्वानों ने साधारण इन्द्रिय-ज्ञान को भी अपरोक्ष माना है। यही मत अन्यान्य भारतीय पण्डितों का भी है। पहले मत के समर्थन में यह कहा जाता है कि 'अक्ष' शब्द का अर्थ 'जीव' है, इसका अर्थ 'इन्द्रिय' नहीं, जैसा साधारणतः समझा जाता है। (षड्दर्शन पर गुणरत्न की टीका देखिये श्लोक ५५)

† देखिये तत्त्वार्थाधिगम (प्रथम अध्याय, सूत्र संख्या ९, १२, २१-२९)

में पाये जाते हैं। इन्हें मति और श्रुत कहते हैं। इनके अर्थ के सम्बन्ध में जैन-विद्वानों में मतभेद है। किन्तु साधारणतः मतिज्ञान उसे कहते हैं जो इन्द्रिय तथा मन के द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार मति के अन्तर्गत व्यावहारिक अपरोक्ष ज्ञान (बाह्य तथा आन्तर प्रत्यक्ष), स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, अनुमान सभी आ जाते हैं। श्रुत शब्द-ज्ञान को कहते हैं।

मति और श्रुत

जैनों के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान की उत्पत्ति निम्नलिखित क्रम से होती है। सबसे पहले इन्द्रिय-संवेदन होता है। जैसे मान लीजिये हम कोई ध्वनि सुनते हैं। प्रारम्भ में यह नहीं ज्ञात होता कि यह ध्वनि किसकी है। इस अवस्था को 'अवग्रह' कहते हैं। अवग्रह में केवल विषय का ग्रहण होता है। तब मन में एक प्रश्न उठता है कि यह ध्वनि किस वस्तु की है। इस अवस्था को 'ईहा' कहते हैं। इसके बाद एक निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि यह ध्वनि अमुक वस्तु की है। इसे 'आवाय' कहते हैं। आवाय का अर्थ सन्देहनाश है। इस तरह जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका मन में धारण होता है। इसको 'धारणा' कहते हैं।

दूसरा लौकिक ज्ञान श्रुत है। श्रुत-ज्ञान की उत्पत्ति सुने हुए शब्दों से होती है। यह आप्तवचनों तथा प्रामाणिक ग्रन्थों से संभव होता है। आप्त वचनों को सुने बिना तथा प्रामाणिक ग्रन्थों को देखे बिना श्रुत-ज्ञान नहीं हो सकता। अतः इसके लिये इन्द्रिय-ज्ञान का होना आवश्यक है। इस तरह हम देखते हैं मतिज्ञान श्रुत-ज्ञान के पहले ही आता है।

जैन-दर्शन के अनुसार मति-ज्ञान, श्रुत-ज्ञान तथा अवधि-ज्ञान में दोष की आशंका रह जाती है। किन्तु मनः पर्याय-ज्ञान तथा केवल-ज्ञान सर्वथा दोषरहित होते हैं।

साधारणतः जैन-दर्शन भी अन्य दर्शनों की भांति तीन ही प्रमाण मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।*

*प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमान शब्दानि। देखिये न्यायावतार विवृति (पृ० ४, सतीशचन्द्र विद्याभूषण के द्वारा सम्पादित)।

(२) चार्वाक-मत का खंडन

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष-प्रमाण को मानते हैं। वे अन्य प्रमाणों को नहीं मानते। अतः जैन दार्शनिकों के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे अनुमान तथा शब्द जैसे अप्रत्यक्ष प्रमाणों के लिये युक्ति दें॥। यदि चार्वाक से यह प्रश्न किया जाय कि केवल प्रत्यक्ष को ही क्यों प्रमाण माना जाय, तो उनकी क्या प्रतिक्रिया होगी? या तो वे मौन रहेंगे जिसका अर्थ यह होगा कि उनके पास अपने मत की पुष्टि के लिये कोई युक्ति नहीं है, या वे यह उत्तर देंगे कि प्रत्यक्ष-प्रमाण सर्वथा मान्य है क्योंकि यह दोषरहित है। यदि वे मौन रहते हैं तब तो यह स्पष्ट है कि उनके मत के लिये युक्ति नहीं है और इसलिये उनका मत मानने योग्य नहीं है। यदि वे मौन नहीं रहते, बल्कि अपने मत की पुष्टि के लिये कोई युक्ति देते हैं तब तो वे स्वयं अनुमान की सहायता लेते हैं। प्रत्यक्ष-प्रमाण के समर्थन के लिये उनकी यह युक्ति कि यह निर्विवाद तथा दोषरहित होता है, अनुमान तथा शब्द पर भी लागू हो सकती है। इस तरह अनुमान तथा शब्द भी स्वीकारयोग्य हो जाते हैं। चार्वाक कह सकते हैं कि अनुमान और शब्द कभी-कभी दोषयुक्त भी होते हैं। तो क्या प्रत्यक्ष भी कभी-कभी दोषयुक्त या भ्रमात्मक नहीं होता? इसलिये प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द को तभी प्रमाण मानना चाहिये जब उससे बिलकुल दोषरहित ज्ञान प्राप्त हो सके। ज्ञान का उसके व्यावहारिक परिणामों के साथ सामञ्जस्य (संवाद) होना ही उसकी प्रामाणिकता है।

अनुमान भी प्रमाण है। चार्वाक भी अनुमान की सहायता लेते हैं

चार्वाक परलोक जैसे अप्रत्यक्ष विषयों के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। यहाँ वे स्वयं प्रत्यक्ष की सीमा के बाहर चले जाते हैं।

॥प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड, द्वितीय अध्याय; स्याद्वाद-मंजरी, श्लोक २०, तथा उस पर हेमचन्द्र की टीका देखिये।

वस्तुओं को नहीं देखने के कारण वे उनके अभाव का अनुमान करते हैं। फिर जब वे यह कहते हैं कि सभी प्रत्यक्ष प्रामाणिक हैं तो वे अनुमान ही की सहायता लेते हैं। क्योंकि यहाँ अतीत के प्रामाणिक प्रत्यक्षों के आधार पर ही भविष्य के प्रत्यक्षों के सम्बन्ध में अनुमान किया जाता है। जब चार्वाक अपने विपक्षियों से तर्क करते हैं तो उस समय भी वे विपक्षियों के शब्दों से उनके विचारों का अनुमान लगाते हैं। अन्यथा वे किसी वाद-विवाद में भाग नहीं ले सकते। इस तरह हम देखते हैं कि चार्वाक की यह उक्ति कि प्रत्यक्ष ही एक-मात्र प्रमाण है युक्ति-संगत नहीं है।

(२) जैनों का परामर्श (Judgment) सम्बन्धी मत

(क) स्याद्वाद

वस्तुओं के सम्बन्ध में हमारे जो भिन्न-भिन्न प्रकार के अपरोक्ष तथा परोक्ष ज्ञान हैं, उनसे यह स्पष्ट है कि उनके अनेक धर्म होते हैं।

एक परामर्श से वस्तु के एक ही धर्म का बोध होता है

जैन-दार्शनिक कहते हैं—अनेकधर्मकं वस्तु ❀। केवली केवल ज्ञान के द्वारा वस्तुओं के अनन्त धर्मों का अपरोक्ष-ज्ञान पाता है। किन्तु साधारण मनुष्य किसी वस्तु को किसी समय एक ही दृष्टि से देख सकता है। इसलिये वह उस वस्तु का एक ही धर्म जान सकता है। वस्तुओं के इस आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय' † कहते हैं। इस आंशिक ज्ञान के आधार पर जो परामर्श होता है उसे भी 'नय' कहते हैं। *नयति प्रापयति संवेदनम् आरोहयतीति नयः प्रमाण-प्रवृत्तेरुत्तरकालभावी परामर्शः* + । किसी भी विषय के सम्बन्ध में जो हमारा परामर्श होता है वह सभी दृष्टियों से सत्य नहीं होता। उसकी सत्यता उसके 'नय' पर निर्भर करती है। अर्थात् जिस दृष्टि

❀ षड्दर्शन-समुच्चय, पृ० ५५ तथा उसपर गुणरत्न की टीका देखिये।

† न्यायावतार, श्लोक २६ देखिये।

+ न्यायावतार-विवरण श्लोक २९ देखिये।

तथा जिस विचार से किसी विषय का परामर्श होता है, उसकी सत्यता उसी दृष्टि तथा उसी विचार पर निर्भर करती है। हमारे मतभेद का कारण यह है कि हम इस उपर्युक्त सिद्धान्त को भूल जाते हैं और अपने विचारों को सर्वथा सत्य मानने लगते हैं। मान लीजिये कुछ अन्धे हाथी का आकार जानना चाहते हैं। कोई उसका पैर, कोई कान, कोई पूंछ तथा कोई उसकी सूंड़ पकड़ता है। इसका फल यह होता है कि उन अन्धों में हाथी के आकार के सम्बन्ध में पूरा मतभेद हो जाता है। इस मतभेद का कारण बिलकुल स्पष्ट है। प्रत्येक अन्धा सोचता है कि उसीका ज्ञान ठीक है। जैसे ही उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता है कि प्रत्येक ने हाथी का एक-एक अंग ही स्पर्श किया है, उनका मतभेद दूर हो जाता है। दार्शनिकों के बीच भी मतभेद इसीलिये होता है कि वे किसी विषय को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से आंकते हैं। दृष्टि-साम्य होने पर मतभेद की संभावना नहीं रह जाती है।

भिन्न-भिन्न दर्शनों में संसार के भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें एक दृष्टि नहीं है। दृष्टि-भेद के कारण ही उनमें मतभेद पाया जाता है। किन्तु कोई भी दर्शन यह नहीं सोचता कि उसका मत किसी दृष्टि-विशेष पर ही निर्भर करता है। हो सकता है कि अन्य दृष्टि से उसका मत युक्तिसंगत न हो। ऊपर जो हाथी और अन्धे का दृष्टान्त दिया गया है, उसमें प्रत्येक अन्धे का हाथी-सम्बन्धी ज्ञान उसके अपने ढंग से बिलकुल ठीक है। उसी तरह प्रत्येक दार्शनिक मत अपनी दृष्टि से अवश्य सत्य है।

सभी दर्शन अपनी-अपनी दृष्टि से सत्य हैं

अतः जैन इस बात का आग्रह करते हैं कि प्रत्येक नय के प्रारम्भ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करना चाहिये। स्यात् शब्द से यह संकेत होता है कि उसके साथ के प्रयुक्त वाक्य की सत्यता प्रसंग-विशेष पर ही निर्भर करती है। अन्य प्रसंगों में वह मिथ्या भी हो सकता है। ऊपरके उदाहरण

'स्यात्' शब्द का प्रयोग

में यह कहना ठीक नहीं है कि हाथी एक स्तम्भ के आकार का होता है। किन्तु हम कह सकते हैं कि स्यात् हाथी का आकार स्तम्भ के समान होता है। दूसरी उक्ति में स्यात् शब्द से यह बोध होता है कि किसी विशेष दृष्टि से अर्थात् पैरों के सम्बन्ध में हाथी का आकार स्तम्भ के समान है। इस तरह हम देखते हैं कि विचार को दोषमुक्त करने के लिये स्यात् का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। घर के भीतर किसी काले रंग के घड़े को देखकर हमें यह नहीं कहना चाहिये कि 'घड़ा है', बल्कि यह कहना चाहिये कि 'स्यात् घड़ा है'। स्यात् से इस बात का ज्ञान होगा कि घड़े का अस्तित्व काल-विशेष, स्थान-विशेष, तथा गुण-विशेष के अनुसार है। स्यात् शब्द से यह भ्रम नहीं होगा कि घड़ा नित्य है, तथा सर्वव्यापी है। साथ-साथ हमें यह भी संकेत मिलेगा कि किसी विशेष रंग और रूप का घड़ा किसी विशेष काल और स्थान में है। घड़ा है—केवल यदि यही कहें तो उससे अनेक प्रकार का भ्रान्त ज्ञान हो सकता है।

स्याद्वाद

जैनों का यह मत स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद का सार अर्थ यह है। साधारण बुद्धिवाला मनुष्य किसी विषय में जो भी परामर्श करता है, वह एकदेशीय होता है। अर्थात् उस परामर्श की सत्यता उसी प्रसंग के अनुसार होती है, जिसके साथ उसकी कल्पना हुई रहती है।

स्याद्वाद तथा पाश्चात्य दर्शन

पाश्चात्य तार्किकों के विचारों के साथ स्याद्वाद की बड़ी समानता है। पाश्चात्य तार्किक भी कहते हैं कि प्रत्येक विचार का अपना-अपना प्रसंग या प्रकरण होता है। उसे हम विचार-प्रसंग कह सकते हैं। विचारों की सार्थकता उनके विचार-प्रसंगों पर ही निर्भर होती है। विचार-प्रसंग में स्थान, काल, दशा, गुण आदि अनेक बातें सम्मिलित रहती हैं। विचार-परामर्श के लिये इन बातों को स्पष्ट करने की उतनी आवश्यकता नहीं रहती है। साथ-साथ उनकी संख्या इतनी अधिक होती है कि प्रत्येक का स्पष्टीकरण सम्भव भी नहीं है। शिलर

(Schiller` आदि अनेक आधुनिक तार्किक इस विचार से सहमत हैं। अतः हम देखते हैं कि विचारों को दोष-रहित बनाने के लिये उनके पहले 'स्यात्' शब्द का जोड़ना परम आवश्यक है।

स्याद्वाद-सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जैनों की दृष्टि कितनी उदार है। जैन अन्यान्य दार्शनिक विचारों को नगण्य नहीं समझते, बल्कि अन्य दृष्टियों से उन्हें भी सत्य मानते हैं। हाँ, वे किसी दर्शन की इस हठोक्ति को नहीं मानते कि केवल उसीके विचार सत्य हैं। ऐसी हठोक्तियों में 'एकान्तवाद' (fallacy of exclusive particularity) का दोष रहता है। इधर हाल में अमेरिका के नव्य-वस्तुवादियों (neo-realists) ने इस एकान्तवाद का घोर विरोध किया है*। किन्तु इस दोष से मुक्त होने की जैसी युक्ति जैनों ने निकाली है वैसी किसी भी अन्य प्राच्य या पाश्चात्य दार्शनिक ने नहीं निकाली है।

(ख) सप्तभंगी-नय

पाश्चात्य तर्क-विज्ञान में परामर्शों के साधारणतः दो भेद किये जाते हैं—विधायक और प्रतिषेधक। किन्तु जैन सात प्रकार का भेद

सात प्रकार के परामर्श

मानते हैं। उपर्युक्त दो भेद भी इनके अंतर्गत हैं। जिस परामर्श में किसी उद्देश्य वस्तु के साथ उसके किसी धर्म या लक्षण का सम्बन्ध जोड़ा जाता है उसे विधानात्मक परामर्श कहते हैं। और जिस परामर्श में उद्देश्य वस्तु का किसी अन्य वस्तु के धर्म या लक्षण के साथ सम्बन्धाभाव दिखलाया जाता है, उसे प्रतिषेधात्मक परामर्श कहते हैं। गुणरत्न कहते हैं—"इह द्विधा सम्बन्धोऽस्तित्वेन नास्तित्वेन च। तत्र स्वपर्यायैरस्तित्वेन सम्बन्धः, ······ परपर्यायैस्तु नास्तित्वेन × ।" परामर्श को जैन दार्शनिक 'नय' भी कहते हैं। जैन तार्किक प्रत्येक नय के साथ स्यात्' शब्द भी जोड़ते हैं। 'स्यात्' शब्द को जोड़कर

*The New Realism, पृ० १४-१५

× देखिये षड्-दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका (पृ० २१९-२० Asiatic Society द्वारा सम्पादित)

वे यह दिखलाना चाहते हैं कि कोई भी नय एकान्त या निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं है, बल्कि आपेक्षिक है। घड़े के सम्बन्ध में विधानात्मक नय इस प्रकार का होना चाहिये। स्यात् घटः अस्ति या स्यात् घड़ा है। स्यात् से घड़े के स्थान, काल, रंग आदि का संकेत होता है। स्यात् घड़ा लाल है—इससे यह बोध होता है कि घड़ा सब समय के लिये लाल नहीं है, बल्कि किसी विशेष समय में या विशेष परिस्थिति के कारण लाल है। यह भी बोध होता है कि इसका लाल रंग एक विशेष प्रकार का है। अतः हम देखते हैं कि जैनों के अनुसार विधानात्मक परामर्शों का सांकेतिक रूप 'स्यात् अस्ति' स्यात् है है।

'स्यात् है'

घड़े के सम्बन्ध में प्रतिषेधात्मक परामर्श इस प्रकार का होना चाहिये। स्यात् घड़ा इस कोठरी के बाहर नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोठरी के बाहर कोई भी घड़ा नहीं है या नहीं रह सकता। स्यात् शब्द इस बात का द्योतक है कि जिस घड़े के सम्बन्ध में परामर्श हुआ है, वह घड़ा कोठरी के बाहर नहीं है। अर्थात् एक विशेष रंग-रूप का, विशेष समय तथा स्थान का घड़ा कोठरी के बाहर नहीं है। स्यात् शब्द का प्रयोग यदि नहीं किया जाय तो किसी भी घड़े का बोध हो सकता है। स्यात् घड़ा काला नहीं है। अर्थात् कोई एक विशेष घड़ा विशेष स्थान, समय तथा परिस्थिति में काला नहीं है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रतिषेधात्मक परामर्शों में भी स्यात् शब्द का प्रयोग आवश्यक है। प्रतिषेधात्मक परामर्शों का सांकेतिक रूप 'स्यात् नास्ति' (स्यात् नहीं है) है।

स्यात् नहीं है

घड़ा कभी लाल हो सकता है तथा कभी दूसरे रंग का भी हो सकता है। इसे व्यक्त करने के लिये मिश्र वाक्य या संयुक्त परामर्श की सहायता लेनी चाहियें। जैसे, 'घड़ा लाल है तथा नहीं भी लाल है।' इसका सांकेतिक रूप 'स्यात् अस्ति च नास्ति च' अर्थात् 'स्यात् है तथा

स्यात् है और नहीं है

नहीं भी है' होगा। जैन तार्किकों के अनुसार यह तीसरे प्रकार का नय या परामर्श है। इसमें किसी वस्तु के विधानात्मक तथा प्रतिषेधात्मक सम्बन्धों का एक साथ ही बोध होता है। भिन्न-भिन्न दृष्टियों से विचार करने के लिये यह प्रकार-भेद आवश्यक है।

घड़ा जब अच्छी तरह से नहीं पकता है तो कुछ काला रह जाता है। जब पूरा पक जाता है तो लाल हो जाता है। यदि यह पूछा जाय कि घड़े का रंग सभी समय में तथा सभी अवस्थाओं में क्या है, तो इसका एकमात्र सही उत्तर यही हो सकता है कि इस दृष्टि से घड़े के रंग के सम्बन्ध में कुछ कहा ही नहीं जा सकता है। अतः जिस परामर्श में परस्पर विरोधी गुणों के सम्बन्ध में युगपत् (एक साथ) विचार करना हो उसका यथार्थ रूप 'स्यात् अवक्तव्यम्' अर्थात् 'स्यात् अनिर्वचनीय है' होना चाहिये। जैन तर्ककार इसे परामर्श का चौथा भेद मानते हैं।

स्यात् अनिर्वचनीय है

दार्शनिक दृष्टि से परामर्श का चौथा रूप बहुत महत्त्वपूर्ण है। (१) सबसे पहले तो इससे यह बोध होता है कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं या दृष्टियों के अनुसार ही किसी वस्तु का चाहे पृथक्-पृथक् या क्रमिक वर्णन हो सकता है। इस प्रकार पृथक्-पृथक् या क्रमिक वर्णन नहीं करके यदि परस्पर-विरोधी धर्मों के द्वारा किसी वस्तु का हम युगपत् वर्णन करना चाहें तो यह प्रयत्न सफल नहीं होता और हमें बाध्य होकर कहना पड़ता है कि वह वस्तु इस दृष्टि से अवक्तव्य है। (२) दूसरी बात यह है कि सब समय किसी प्रश्न का सीधा अस्ति-सूचक या नास्तिसूचक उत्तर दे देने में ही बुद्धिमत्ता नहीं है। बुद्धिमान लोगों के लिये यह समझना भी आवश्यक है कि ऐसे अनेक प्रश्न हैं जिनका कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता। (३) तीसरी बात यह है कि जैन तार्किक विरोध को एक दोष मानते हैं। अर्थात् वे यह समझते हैं कि परस्पर-विरोधी धर्म एक साथ किसी वस्तु के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकते।

सप्तभंगी-नय के शेष तीन नय निम्नलिखित ढंग से प्राप्त होते हैं। पहले दूसरे तथा तीसरे नयों के बाद अलग-अलग चौथे नय को जोड़ देने से क्रमशः पाँचवाँ, छठा तथा सातवाँ नय बन जाते हैं। अर्थात् पहले और चौथे नयों को क्रमिक रूपसे जोड़नेसे पाँचवाँ नय बनता है। 'स्यात् है' के बाद 'स्यात् अनिर्वचनीय है' को जोड़ देने से पाँचवाँ नय बना है। जैसे—'स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च' अर्थात् 'स्यात् है और अनिर्वचनीय भी है'। किसी विशेष दृष्टि से हम घड़े को लाल कह सकते हैं। किन्तु जब दृष्टि का स्पष्ट निर्देश न हो तो घड़े के रंग का वर्णन असंभव हो जाता है। अतः व्यापक दृष्टि से घड़ा लाल है और अवक्तव्य भी है। यही पाँचवाँ नय है।

स्यात् है और अनिर्वचनीय भी है

दूसरे और चौथे नयों को क्रमिक रूप से जोड़ने से छठा नय बनता है। अर्थात् 'स्यात् नास्ति' के बाद 'स्यात् अवक्तव्यम्' जोड़ने से 'स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च' होता है। इस प्रकार 'स्यात् नहीं है और अनिर्वचनीय भी है' बन जाता है। यही छठा नय है।

स्यात् नहीं है और अनिर्वचनीय है

इसी तरह तीसरे और चौथे नयों को क्रमानुसार जोड़ देने से सातवाँ नय बन जाता है। 'स्यात् अस्तिच नास्ति च के बाद 'स्यात् अवक्तव्यम्' जोड़ देने से 'स्यात् अस्ति च नास्ति च, अवक्तव्यम् च' हो जाता है। अर्थात् 'स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य भी है' यही सातवाँ नय है।

स्यात् है, नहीं है, और अनिर्वचनीय भी है

यहाँ एक बात का स्मरण रखना नितान्त आवश्यक है। पहले दूसरे या तीसरे नय के बाद जो चौथा नय जोड़ा जाता है, उसका अर्थ यह नहीं है कि पहले, दूसरे या तीसरे नय के साथ चौथे का साहचर्य है। क्योंकि ऐसा साहचर्य असंभव है। उदाहरणार्थ यदि हम यह कहें कि घड़े का अस्तित्व और उसकी अवर्णनीयता साथ ही साथ है तो यह एक भारी भूल होगी। क्योंकि जैसे ही हम कहते

हैं कि घड़ा है, वैसे ही हम समझते हैं कि वह अवर्णनीय नहीं है। घड़े को सत्तावान् समझना उसका वर्णन करना है। और यदि हम उसको अवर्णनीय कहते हैं तो उसका वर्णन असंभव मानते हैं। अतः दोनों ही बातों का साथ साथ लागू होना संभव नहीं है। अतः इन्हें साथ-साथ नहीं लेकर पूर्वापर ढंग से लेना चाहिये। अर्थात् घड़ा है और अवक्तव्य है का मतलब यह होगा कि एक दृष्टि से घड़ा है और दूसरी दृष्टि से यह अवक्तव्य है। एक ही दृष्टि से दोनों बातें घड़े के लिये लागू नहीं हो सकतीं।

यों तो प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म हैं, लेकिन नयों के सात ही भेद हो सकते हैं। उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) स्यात् है (स्यात् अस्ति)
(२) स्यात् नहीं है (स्यात् नास्ति)
(३) स्यात् है और नहीं भी है (स्यात् अस्ति च नास्ति च)
(४) स्यात् अवक्तव्य है (स्यात् अवक्तव्यम्)
(५) स्यात् है और अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति च अवक्तव्यम् च)
(६) स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी है (स्यात् नास्ति च अवक्तव्यम् च)
(७) स्यात् है, नहीं है, अवक्तव्य भी है (स्यात् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च)

पाश्चात्य दार्शनिकों के व्यवहारवाद (Pragmatism) के साथ जैनों के स्याद्वाद की तुलना की जाती है। यह सत्य है कि शिलर

स्यादवादी वस्तुवादी है

जैसे व्यवहारवादी मानते हैं कि यदि प्रसंग और उद्देश्य को ध्यान में नहीं रक्खा जाय तो कोई भी परामर्श सत्य या झूठ सिद्ध नहीं हो सकता। 'वर्ग वृत्त नहीं है', दो और दो का योग चार होता है'—इस प्रकार के असंदिग्ध वाक्य भी शिलर के अनुसार एक विशेष

दृष्टि से ही सत्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों में और व्यवहारवादियों में अवश्य ही समानता वर्त्तमान है। किन्तु दोनों में बहुत बड़ा विभेद भी है। जैन वस्तुवादी हैं, लेकिन क्रिया-वादियों का झुकाव विज्ञानवाद की ओर है। जैन यह नहीं मानते कि हमारे विचार-परामर्श मानसिक प्रत्ययमात्र हैं, बल्कि उनके अनुसार तो विचार या परामर्श के द्वारा वाह्य वस्तुओं के वास्तविक धर्मों को जाना जाता है। अतः उनके अनुसार कोई प्रत्यय तभी सत्य हो सकता है जब वह वाह्यवस्तु के धर्म को व्यक्त करे। किन्तु पक्के व्यवहारवादी इस विचार को नहीं मानते हैं।

जैनमत एक प्रकार का सापेक्षवाद है। किन्तु यह विज्ञान-वादी नहीं वरं वस्तुवादी सापेक्ष-वाद है

जैन स्याद्वाद की तुलना कभी-कभी पाश्चात्य सापेक्षवाद (Theory of Relativity) से भी की जाती है। सापेक्षवाद दो प्रकार का होता है विज्ञानवादी और वस्तुवादी। विज्ञानवादी सापेक्षवाद के प्रवर्त्तक प्रोटागोरस (Protagoras), बर्कले (Berkeley) तथा शिलर (Schiller) आदि हैं। वस्तुवादी सापेक्षवाद के प्रवर्तक व्हाइटहेड (Whitehead) बूडिन (Boodin आदि हैं। जैनमत को यदि सापेक्षवाद माना जाय तो वह वस्तुवादी सापेक्षवाद होगा। क्योंकि जैन दार्शनिक मानते हैं कि यद्यपि ज्ञान सापेक्ष है, फिर भी यह केवल मन पर निर्भर नहीं है, बल्कि वस्तुओं के धर्मों पर भी निर्भर है।

जैन-दर्शन संशय-वादी नहीं है

स्याद्वादी होने के कारण जैनमत के सम्बन्ध में एक भ्रम उत्पन्न हो गया है। इसे कुछ लोग संशयवाद (Scepticism) या अज्ञेयवाद (Agnosticism) मानते हैं। इसकी तुलना ग्रीक दार्शनिक पिरो (Pyrrho) के संशय-वाद से की जाती है क्योंकि पिरो के अनुसार भी वाक्यों के पहले 'शायद' (maybe) का प्रयोग आवश्यक समझा जाता था। किन्तु यथार्थ में जैन संशयवादी नहीं हैं। स्यात् शब्द के प्रयोग से किसी वाक्य से उसकी असत्यता या अनिश्चितता का बोध नहीं

कराया जाता है, बल्कि उसकी सापेक्षता का संकेत किया जाता है। परिस्थिति तथा विचार-प्रसंग के अनुसार परामर्श अवश्य ही सत्य होता है—इसे जैन दार्शनिक स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। अतः स्याद्वाद को संशयवाद समझना ठीक नहीं है।

३. तत्त्व-विचार

जैनों के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं। उन्होंने कहा है कि अनन्तधर्मकं वस्तु। इसका क्या तात्पर्य है उसे समझना

वस्तु के दो प्रकार के धर्म

आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु के दो प्रकार के धर्म होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जो उस वस्तु के स्वरूप के परिचायक हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं जो उसका अन्य वस्तुओं के साथ पार्थक्य सूचित करते हैं। पहले प्रकार के धर्म भावात्मक हैं जिन्हें जैन-दार्शनिक 'स्वपर्याय' कहते हैं और दूसरे अभावात्मक हैं जिन्हें परपर्याय कहते हैं। उदाहरणार्थ हम किसी मनुष्य को ले सकते हैं। उसके आकार रंग, रूप, गोत्र, कुल, जाति, व्यवसाय, जन्म-स्थान, जन्म-तिथि, वास-स्थान, आयु आदि प्रथम प्रकार के धर्म हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अभावात्मक धर्म भी उस मनुष्य में हैं जो अन्य वस्तुओं से उसका भेद सूचित करते हैं। हमें यदि उस मनुष्य के सम्बन्ध में पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त करना है, तो हमें जानना होगा कि वह अन्य सभी वस्तुओं से किस प्रकार भिन्न है। हो सकता है कि किसी एक व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में हमें जानना पड़े कि वह यूरोपियन, चीनी, निग्रो, ईसाई, मुसलमान, पारसी, मूर्ख धूर्त्त, स्वार्थी आदि नहीं है। अभावात्मक धर्मों की संख्या भावात्मक धर्मों से बहुत अधिक है, क्योंकि अन्य सभी वस्तुओं से जो भेद होते हैं वे ही अभावात्मक धर्म कहे जाते हैं।*

---

*स्तोकाः स्वपर्यायाः, परपर्यायास्तु व्यावृत्तिरूपा अनन्ता, अनन्तेभ्यो द्रव्येभ्यो व्यावृत्तित्वात्। षड्दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका, श्लोक ५५।

इसी तरह यदि किसी वस्तु का विचार उसके भावात्मक तथा अभावात्मक धर्मों के अनुसार हो, तो इससे यह स्पष्ट है कि वह कोई साधारण पदार्थ नहीं है, बल्कि अनन्त है। क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि विशेषतः अभावात्मक धर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है। इन धर्मों के साथ-साथ यदि काल का भी विचार किया जाय तब तो उसकी अनन्तता और भी बढ़ जाती है, क्योंकि काल-क्रम के अनुसार तो उसके धर्मों में परिवर्त्तन होता रहता है और उसमें नये-नये धर्मों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः 'अनन्तधर्मकं वस्तु' यह उक्ति बिलकुल समीचीन है।

काल के परिवर्त्तन से धर्मों का परिवर्त्तन

अतएव जैन दार्शनिक कहते हैं कि कोई व्यक्ति यदि किसी एक वस्तु को सर्वथा अर्थात् सभी दृष्टियों से जानता है तो वह सभी वस्तुओं को जान लेता है। सिर्फ केवली या सर्वज्ञ पुरुष ही किसी वस्तु का पूर्णज्ञान प्राप्त कर सकता है। व्यवहार के लिये तो वस्तु का आंशिक ज्ञान भी पर्याप्त होता है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि वस्तुओं के धर्म परिचित ही होते हैं। हमें यह भी नहीं सोचना चाहिये कि लौकिक ज्ञान के द्वारा ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

केवली ही वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है

(१) द्रव्य-विचार

हम ऊपर कह आये हैं कि वस्तुओं के अनन्त धर्म होते हैं। धर्म किसी धर्मी का होता है। साधारण वार्त्तालाप तथा दार्शनिक विचार-विमर्श में भी धर्म और धर्मी का भेद किया जाता है। जिसका धर्म होता है उसे धर्मी कहते हैं और धर्मी में जो लक्षण पाया जाता है उसे धर्म कहते हैं। धर्मी के लिये दूसरा नाम द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य के दो प्रकार के धर्म होते हैं – स्वरूप या नित्य धर्म तथा आगन्तुक या परिवर्त्तनशील धर्म। स्वरूप-धर्म वे हैं जो द्रव्य में सदा वर्तमान रहते हैं। ऐसे धर्मों

द्रव्य के गुण तथा पर्याय

(गुण) - नित्य धर्म — परिवर्तन शील - (पर्याय)
आत्मा में चैतन्य — इच्छा - दुःख सुख

के बिना द्रव्य का अस्तित्व ही असम्भव है। उदाहरणार्थ, चैतन्य आत्मा का स्वरूप-धर्म है। आगन्तुक धर्म द्रव्य में सर्वदा वर्त्तमान नहीं रहते हैं। वे आते-जाते रहते हैं। इच्छा, संकल्प, सुख, दुःख—ये आत्मा के परिवर्त्तनशील धर्म हैं। इन्हीं धर्मों से द्रव्य का परिवर्त्तन होता है। जैन दार्शनिक स्वरूप-धर्मों को गुण कहते हैं तथा आगन्तुक धर्मों को पर्याय या पर्यय कहते हैं। गुण अपरिवर्त्तनशील तथा पर्याय परिवर्त्तनशील होते हैं। इन विचारों के अनुसार द्रव्य की परिभाषा संक्षेप में इस प्रकार की जा सकती है कि—द्रव्य वह है जिसमें गुण तथा पर्याय हों। गुणपर्यायवद् द्रव्यम्‌॥।

यह संसार भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों के संयोग से बना है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, द्रव्यों के गुण परिवर्त्तनशील नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से संसार नित्य है। किन्तु उनके पर्याय बदलते रहते हैं। अतः इस दृष्टि से संसार अनित्य तथा परिवर्त्तनशील है। इस तरह जैन संसार को एक दृष्टि से नित्य तथा दूसरी दृष्टि से अनित्य मानते हैं। इसीलिये वे बौद्ध-दर्शन के क्षणिकवाद को एकांगीन या एकान्तवाद समझते हैं। जैन अद्वैत-वेदान्त के नित्यवाद को भी एकांगीन या एकान्तवाद समझते हैं, क्योंकि ।यह परिवर्त्तन को माया समझता है और केवल ब्रह्म को ही सत्य एवं नित्य मानता है। इस तरह बौद्ध-दर्शन तथा अद्वैत-वेदान्त दोनों ही में एकान्तवाद का दोष पाया जाता है। यथार्थतः नित्यता तथा परिवर्त्तन दोनों ही सत्य हैं। हम यदि कहें कि संसार नित्य तथा परिवर्त्तनशील भी है तो इसमें कोई विरोध नहीं होगा। हम तो ऊपर देख आये हैं कि किस तरह स्याद्वाद में दृष्टि-भेद का संकेत है। एक दृष्टि से संसार की नित्यता ठीक है, किन्तु दूसरी दृष्टि से इसका परिवर्त्तन भी ठीक है। स्याद्वाद के कारण विरोध की संभावना नहीं रह जाती है।

संसार नित्य है तथा अनित्य भी है

॥तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—५। ३८।

।स्याद्वादमंजरी, श्लोक २६,

द्रव्य सत् है। उत्पत्ति, व्यय (क्षय) और ध्रौव्य (नित्यता)—ये ही सत्ता के लक्षण हैं। द्रव्य अपने गुणों के कारण नित्य है क्योंकि गुण परिवर्त्तित नहीं होता। परिवर्त्तनशील पर्यायों की उत्पत्ति तथा विनाश होने के कारण इसमें उत्पत्ति तथा विनाश भी हैं। इस तरह द्रव्य में सत्ता के तीनों लक्षण वर्त्तमान हैं।

सत् के तीन लक्षण-उत्पत्ति, स्थिति और नाश

सत् या सत्ता के सम्बन्ध में जैनों तथा बौद्धों में पूरा मतभेद है। बौद्धों के अनुसार सत्ता वही है जो अर्थक्रियाकारी अर्थात् किसी कार्य का साधक है। अर्थात् कोई वस्तु तभी सत्य है यदि उससे कोई कार्य उत्पन्न होता हो।—जैन इस मत को युक्ति-संगत नहीं मानते क्योंकि इसके अनुसार तो मिथ्या-सर्प भी सत्य समझा जायगा। क्योंकि सर्प के भ्रम से भी लोगों में डर की उत्पत्ति हो जाती है और वे दूर भाग जाते हैं। ऐसी ही दोषपूर्ण युक्तियों के द्वारा बौद्ध दार्शनिक क्षणिकवाद का प्रतिपादन करते हैं। अतः क्षणिकवाद कभी भी मान्य नहीं हो सकता। क्षणिकवाद के विरुद्ध जैन दार्शनिक निम्न-लिखित युक्तियाँ देते हैं❀—

बौद्ध क्षणिकवाद मान्य नहीं है

(१) यदि सभी पदार्थ क्षणिक हैं, तब तो आत्मा भी क्षणिक है। ऐसी अवस्था में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि संभव नहीं हो सकती हैं। साथ-साथ यह भी बोध नहीं हो सकता है कि मैं ही कभी बच्चा था और आज बड़ा हो गया हूँ।

(२) निर्वाण का कोई अर्थ नहीं रहता है क्योंकि यदि कोई स्थायी जीव है ही नहीं तो फिर मोक्ष किसका हो सकता है?

(३) यदि जीव क्षण-क्षण बदलता रहे तो वह किसी आदर्श की पूर्ति के लिये क्यों प्रयत्न करेगा? क्योंकि वह स्वयं तो प्रयत्न करेगा किन्तु क्षणस्थायी होने के कारण उसका फल वह स्वयं नहीं भोग

❀ सर्वदर्शनसंग्रह में जैन-प्रकरण तथा षड्-दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका देखिए।

सकेगा, बल्कि उसका भोगनेवाला अन्य जीव होगा। इस तरह धर्म का प्रयत्न असंभव होगा।

(४) फलतः धर्म-व्यवस्था भी नहीं रह सकेगी। कहीं कृतप्रणाश होगा तो कहीं अकृताभ्युपगम होगा। अर्थात् अपने कर्मों का फल तो नहीं मिल सकेगा, और दूसरों के कर्मों का फल भोगना होगा।

(५) बौद्ध-मत के अनुसार आत्मा कोई स्थायी सत्ता नहीं है, बल्कि क्षणस्थायी मानसिक अवस्थाओं का एक क्रम है। किन्तु क्षणिक अवस्थाओं के अस्तित्व मात्र से ही कोई क्रम नहीं बन सकता है, जैसे विना सूत्र के केवल फूलों से माला नहीं बन सकती है। जबतक क्षणिक अवस्थाओं के अन्तर्गत कोई स्थायी सत्ता न हो तबतक वे क्रम-बद्ध भी नहीं हो सकती हैं।

(६) प्रत्यक्ष से या अनुमान से किसी भी ऐसी वस्तु का ज्ञान नहीं मिलता है जिसमें केवल परिवर्त्तन हो और स्थायित्व कुछ भी न रहे।

(२) द्रव्यों का प्रकार-भेद

जैन दार्शनिक समस्त द्रव्यों को दो वर्गों में विभक्त करते हैं—अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय। काल ही एकमात्र अनस्तिकाय द्रव्य है। शेष सभी द्रव्य अस्तिकाय हैं। इन द्रव्यों को अस्तिकाय इसलिये कहा जाता है कि ये हैं (अस्ति) और काय या शरीर की भाँति स्थान या आकाशव्यापी हैं।*

अस्तिकाय तथा अनस्तिकाय द्रव्य

अस्तिकाय दो प्रकार के होते हैं—जीव और अजीव। जीव आत्मा ही का एक दूसरा नाम है। जीव फिर दो प्रकार के होते हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव वे हैं जिन्होंने मोक्ष पा लिया है अर्थात् बंधन से मुक्त हो चुके हैं। बद्ध जीव वे होते हैं जो अभी तक बंधन में हैं। बद्ध जीव फिर दो प्रकार के होते हैं—त्रस और स्थावर। त्रस जीव गतिमान् या जंगम होते हैं और स्थावर गतिहीन

जीव और अजीव

बद्ध और मुक्त

---

*द्रव्य-संग्रह २४ देखिये। गुणरत्न के अनुसार आकाश के निरवयव भागों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं।

होते हैं । स्थावर जीव का शरीर सबसे अपूर्ण है। स्थावर जीव क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति—रूप शरीरों में रहते हैं।* स्थावर जीव को केवल स्पर्शेन्द्रिय होती है। अतः उसे केवल स्पर्श-ज्ञान ही हो सकता है। त्रस जीवों में न्यूनाधिक विकास पाया जाता है। उनमें क्रमशः दो, तीन, चार तथा पाँच इन्द्रियाँ पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, सीप, घोंघा आदि को दो इन्द्रियाँ होती हैं—त्वचा तथा जिह्वा। पिपीलिका, (चींटी) आदि को तीन इन्द्रियाँ होती हैं—त्वचा, जिह्वा तथा नासिका। मक्खी, मच्छर, भौंरा आदि को चार इन्द्रियाँ होती हैं—त्वचा, जिह्वा, नासिका तथा चक्षु। उच्च पशुओं पक्षियों तथा मनुष्योंको पाँचइन्द्रियाँ होती हैं-त्वचा, जिह्वा, नासिका, चक्षुतथा कर्ण।

अस्तिकाय अजीव चार हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल।

ऊपर जो द्रव्यों का प्रकार-भेद बतलाया गया है उसका संक्षिप्त रूप नीचे बताया जाता है :—

- द्रव्य
  - अस्तिकाय
    - जीव
      - मुक्त जीव
      - बद्ध जीव
        - त्रस
          - पंचेन्द्रिय — मनुष्य, पशु पक्षी आदि
          - चतुरिन्द्रिय — भ्रमर आदि
          - त्रीन्द्रिय — पिपीलिका आदि
          - द्वीन्द्रिय — घोंघा आदि
        - स्थावर (एकेन्द्रिय) जो क्षिति आदि में रहते हैं।
    - अजीव
      - धर्म
      - अधर्म
      - आकाश
      - पुद्गल
        - अणु — जैसे क्षिति जल, अग्नि और वायु के अणु
        - संघा[त]
  - अनस्तिकाय (काल)

*देखिये स्याद्वाद (२६) और षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका (४
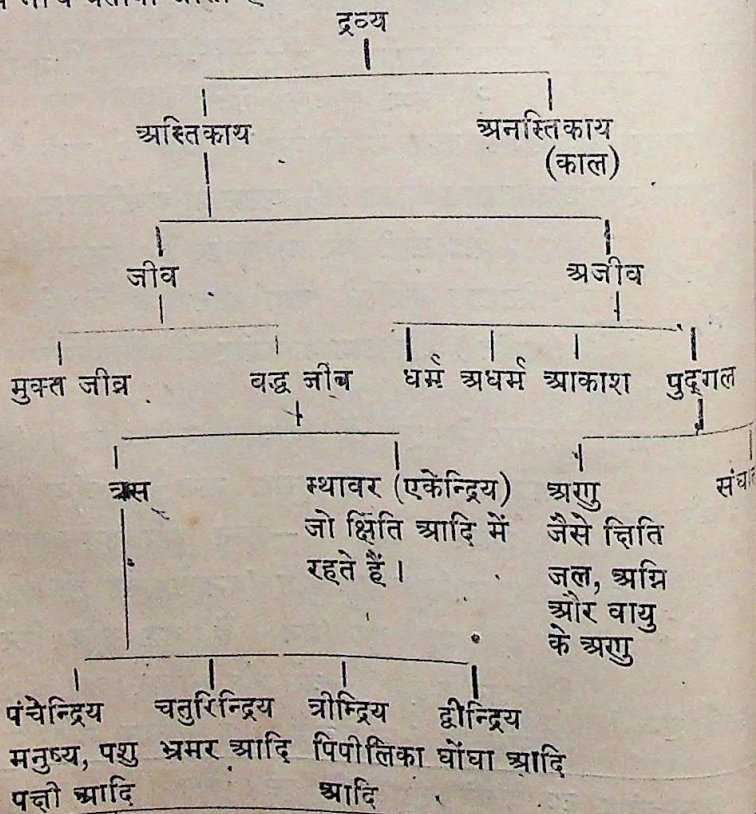
(३) जीव

चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं। चेतनालक्षणो जीवः※। जीव में चैतन्य सब समय वर्त्तमान रहता है। किन्तु भिन्न-भिन्न जीवों में इसका स्वरूप तथा इसकी मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। मात्रा-भेद के अनुसार जीवों में एक तारतम्य है जिसमें सिद्ध आत्माओं का स्थान सबसे ऊँचा है। सिद्ध वे हैं जो कर्मों पर विजय पा लेते हैं और पूर्णज्ञानी हो जाते हैं। सबसे नीचे स्थान में वे एकेन्द्रिय जीव हैं जो क्षिति, जल, अग्नि, वायु या वनस्पति में वास करते हैं‡। यों तो इन जीवों में चैतन्य का सर्वथा अभाव मालूम पड़ता है, लेकिन वस्तुतः इनमें भी स्पर्श-ज्ञान वर्त्तमान रहता है। हां, यह ठीक है कि इनका ज्ञान या चैतन्य कर्मजनित बाधाओं के कारण अत्यन्त सीमित एवं अस्पष्ट रहता है÷। जिन्हें दो से पाँच तक इन्द्रियाँ होती हैं उनका स्थान जीवों में मध्यम है। जैसे कृमि, पिपीलका, भ्रमर, मनुष्य आदि। कृमि-पिपीलका-भ्रमर-मनुष्यादीनाम् एकैकवृद्धानि †

जीव और उनका ज्ञान-भेद

जीव ही ज्ञान प्राप्त करता है। वही कर्म भी करता है। सुख-दुःख भी वही भोगता है। जीव स्वयं प्रकाशमान है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यह नित्य है, किन्तु इसकी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। यह शरीर से भिन्न है। इसका अस्तित्व आत्मानुभूति से ही प्रमाणित हो जाता है ×।

जीव स्वयं प्रकाशमान है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यह नित्य है।

※षड् दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका ४७ देखिये।

‡वनस्पत्यन्तानाम् एकम् —तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—२-२२

÷वनस्पतियों एवं खनिज पदार्थों में जीव का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये गये हैं उनके लिये षड्-दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका देखिये।

†तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—२-२३

×न्यायावतार, श्लोक ३१ और द्रव्य-संग्रह, श्लोक २

संचित कर्मों के कारण जन्म-पुनर्जन्म के चक्र में पड़ने से इसे अनेक शरीर धारण करना पड़ता है। जिस प्रकार कोई दीपक अपने चारों ओर प्रकाश फैलाता है, उसी प्रकार जीव भी सम्पूर्ण शरीर को प्रकाशित करता है। जीव की कोई मूर्त्ति नहीं होती। किन्तु जिस प्रकार प्रकाश स्थानानुसार आकार एवं रूप धारण करता है, उसी प्रकार जीव भी शरीर के अनुसार मूर्त्ति-धारण करता है। इसी अर्थ में अमूर्त्त जीव को भी अस्तिकाय माना जाता है। जीव सर्वव्यापी नहीं है, बल्कि इसकी व्यापकता शरीर तक ही सीमित है। इसे केवल शरीरान्तर्गत विषयों का ही अपरोक्ष-ज्ञान हो सकता है। चैतन्य शरीर के बाहर नहीं, वरं इसके अन्दर ही रहता है।❀

जीव सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है।

पाश्चात्य दार्शनिकों को शायद यह समझने में कठिनाई हो कि जीव को चैतन्य (Consciousness) और विस्तार (Extension) दोनों कैसे हो सकते हैं। डेकार्ट के अनुसार चैतन्य और विस्तार परस्पर-विरोधी गुण हैं। वे कहते हैं कि विस्तार केवल जड़-द्रव्यों में और चैतन्य केवल आत्माओं में पाया जा सकता है। उनके ऐसा सोचने का कारण यह है कि उनके अनुसार आत्मा चेतन द्रव्य है और चेतना आकाशव्यापी या पुद्गलधारी नहीं हो सकती। किन्तु जैन दार्शनिक आत्मा को जीव मानते हैं। सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में हम देखते हैं कि चैतन्य या बोध है। अतः चैतन्य को आत्मा का स्वरूप-लक्षण मान लेने पर भी समूचे शरीर में उसका अस्तित्व मानना बिलकुल युक्तिसंगत है। अर्थात् आत्मा का भी विस्तार (व्यापकता) हो सकता है। अन्य भारतीय दार्शनिक भी इसे मानते हैं। प्लेटो (Plato) जैसे अनेक ग्रीक दार्शनिक भी इसे स्वीकार करते हैं। एलेक्जेन्डर (Alexander) जैसे आधुनिक

जीव को विस्तार कैसे हो सकता है?

❀ स्याद्वादमंजरी, ८, और तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र,५।१६ः "प्रदेश-संहार-विसर्गाभ्यां प्रदीपवत्"।

वस्तुवादी भी ऐसा मानते हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रखना आव-
श्यक है कि आत्मा की व्याप्ति का अर्थ यह नहीं है कि यह भी जड़-द्रव्यों की तरह किसी रिक्त स्थान को पूरा दखल कर लेता है, बल्कि इसका अर्थ तो केवल यह है कि शरीर के विभिन्न भागों के अनुभव के द्वारा यह उसमें वर्त्तमान रहता है। जड़-द्रव्य शून्य स्थान को एक विशेष ढंग से दखल करके रहता है। अर्थात् जिस स्थान में जब तक कोई जड़-द्रव्य है तब तक वहाँ दूसरा कोई द्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता, किन्तु जिस स्थान में एक आत्मा है वहाँ दूसरे आत्मा का भी सन्निवेश हो सकता है। जैन दार्शनिक कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही स्थान को दो दीपक आलोकित कर सकते हैं, उसी प्रकार दो जीव भी एक ही स्थान में वर्त्तमान रह सकते हैं।

जड़-द्रव्य और आत्मा के विस्तार में भेद

आत्मा आलोक की तरह किसी स्थान में व्याप्त रहता है

जैन-दार्शनिक चार्वाक के आत्मा-सम्बन्धी विचारों का खंडन आवश्यक समझते हैं। प्रसिद्ध जैन दार्शनिक गुणरत्न ने चार्वाक के संशयवाद की कड़ी आलोचना की है और आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। उनकी युक्तियों का सारांश नीचे दिया जाता है। वे कहते हैं कि 'मैं सुख अनुभव करता हूँ, इस अनुभव से तो आत्मा का अस्तित्व बिलकुल निःसन्देह हो जाता है। जब हम किसी द्रव्य के गुणों को देखते हैं तो हम कहते हैं कि हम उस द्रव्य को ही देख रहे हैं। गुलाब के रंग को देखते हुए हम कहते हैं कि गुलाब के फूल को ही देख रहे हैं। इसी तरह आत्मा के गुणों को देख कर ही हम आत्मा की प्रत्यक्षानुभूति करते हैं। अर्थात् सुख, दुःख, स्मृति, संकल्प, संदेह, ज्ञान आदि धर्मों के अनुभव होने से ही उनके धर्मी अर्थात् आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है।

आत्मा के अस्तित्व के विभिन्न प्रमाण

आत्मा के अस्तित्व को परोक्ष ढंग से निम्नलिखित अनुमानों के द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है। शरीर को इच्छानुसार परि-

चालित किया जा सकता है। अतः इसका कोई परिचालक अवश्य होगा। वह आत्मा है। चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ ज्ञान के लिये विभिन्न साधन हैं। उनके द्वारा ज्ञान-लाभ करने के किसी प्रयोजक कर्त्ता की आवश्यकता है। वह आत्मा है। पुनश्च, शरीर की उत्पत्ति के लिये किसी निमित्त-कारण की भी आवश्यकता है, क्योंकि हम देखते हैं कि घट, पट आदि जड़-द्रव्यों की उत्पत्ति के लिये उपादान-कारण के साथ-साथ निमित्त-कारण की भी आवश्यकता है। वह निमित्त-कारण आत्मा ही है। इस तरह कई युक्तियों के द्वारा आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

चार्वाक तो कहते हैं कि चैतन्य की उत्पत्ति भूतों से ही होती है। किन्तु हम कभी भी किसी भी स्थान में चैतन्य को भूतों से उत्पन्न होते नहीं देखते हैं। और जब इसका प्रत्यक्ष होता ही नहीं, तो ये कैसे कहते हैं कि यह सत्य है, क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष को ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं।

चार्वाक के आत्मा-सम्बन्धी मत का खंडन

चार्वाक यदि अनुमान-प्रमाण को मानते भी होते, तो वे यह सिद्ध नहीं कर सकते कि चैतन्य भूतों से अर्थात् पुद्गल से उत्पन्न होता है। क्योंकि शरीर यदि चैतन्य का कारण होता तो शरीर के साथ चैतन्य का नित्य साहचर्य रहता। किन्तु शरीर के रहते हुए भी निद्रा, मूर्च्छा, और मृत्यु की अवस्थाओं में चैतन्य का बिलकुल अभाव रहता है। दूसरी बात यह है कि दोनों में साहचर्य रहने से एक की पुष्टि और क्षय से क्रमशः दूसरे की भी पुष्टि और क्षय होता है। किन्तु इस प्रकार का अनुभव नहीं होता है। अतः हम देखते हैं कि शरीर और चैतन्य में कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। चार्वाक यहाँ कह सकते हैं कि यद्यपि सभी जड़ द्रव्य चैतन्य का उत्पन्न नहीं कर सकते, फिर भी उनका जब संयोग होता है तो चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है। इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। जड़-तत्त्व निमित्त-कारण की सहायता के बिना आप से आप किसी जीव का शरीर नहीं बन सकते हैं। वे तो उपादान मात्र

हैं। उपादानों का निमित्त-कारण की अपेक्षा रहती है। और यह निमित्त-कारण ही तो आत्मा है।

'मैं स्थूल हूँ', 'मैं क्षीण हूं'—इन उक्तियों के द्वारा चार्वाक यह सिद्ध करना चाहते हैं कि शरीर ही आत्मा है। इन उक्तियों का मुख्य या प्रकृत अर्थ यहाँ लागू नहीं है, बल्कि इनका गौण या लाक्षणिक अर्थ ही यहाँ उपयुक्त है। यह ठीक है कि आत्मा कभी-कभी अपने को शरीर से भिन्न नहीं मानता। किन्तु इसका कारण यह है कि शरीर के साथ इसका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है ही नहीं। लेकिन तब तो 'शरीर आत्मारहित है'—इस उक्ति का कोई अर्थ ही नहीं होता। जिस वस्तु का निषेध किया जाता है उसका अस्तित्व अन्यत्र किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है। *यन्निषिध्यते तत् सामान्येन विद्यते एव**।

ऊपर की युक्तियों के अतिरिक्त हम यह भी कह सकते हैं कि मेरे आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, यह उक्ति ही तो स्वयं दुर्बोध्य है। यह उसी प्रकार दुर्बोध्य है जिस प्रकार यह कहना कि 'मेरी माता बंध्या है' या 'यह सूर्य जो प्रकाश देता है, नहीं है'।

(४) जड़ या अजीव द्रव्य

जीवों का निवास-स्थान यह जगत् है। यह जड़-द्रव्यों से बना हुआ है। कुछ जड़-द्रव्यों के द्वारा तो जीव शरीर-धारण करते हैं और कुछ वाह्य-परिस्थिति का निर्माण करते हैं। जड़-द्रव्यों के अतिरिक्त और भी अन्यान्य द्रव्य हैं जिनके बिना द्रव्यों का संगठन नहीं हो सकता। वे हैं आकाश, काल, धर्म और अधर्म। इनका एक-एक करके विचार करना ठीक होगा।

(क) जड़-तत्त्व या पुद्गल

जड़-तत्त्व को जैनों के अनुसार पुद्गल कहा जाता है। व्युत्पत्ति के अनुसार पुद्गल का अर्थ है—'जिसका संयोग और विभाग हो सके'।

*गुणरत्न—षड्दर्शन-समुच्चय, ४८-४९

पूरयन्ति गलन्ति च *। जड़-द्रव्यों का संयोग भी हो सकता है और विभाग भी। अर्थात् उन्हें जोड़कर एक बड़ा आकार दिया जा सकता है या उन्हें तोड़कर छोटा भी किया जा सकता है। पुद्गल के सबसे छोटे भाग को—जिसका और विभाग नहीं हो सकता है—'अणु' कहते हैं। दो या अधिक अणुओं के संयोग से 'संघात' या 'स्कन्ध' बनता है। हमारे शरीर और अन्य जड़-द्रव्य अणुओं के संयोग से ही बने संघात हैं। मन, वचन तथा प्राण जड़तत्त्वों से ही निर्मित हैं‡।

जड़-द्रव्यों का संयोग और विभाग

पुद्गल के चार गुण होते हैं—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण। ये गुण अणुओं तथा संघातों में भी पाये जाते हैं×। अन्य भारतीय दार्शनिकों का मत है कि शब्द भी एक मौलिक गुण है। परन्तु जैन इसे नहीं मानते। वे कहते हैं कि उद्योत (चन्द्र-प्रकाश) ताप, छाया, आतप, तम, बन्ध (संयोग), भेद, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान (आकार) आदि के समान शब्द भी पुद्गल के आगन्तुक परिवर्त्तनों के कारण उत्पन्न होता है†।

पुद्गल के गुण—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण

(ख) आकाश

आकाश के कारण ही सभी अस्तिकाय द्रव्यों को कोई न कोई स्थान प्राप्त है। जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म आकाश में ही स्थित हैं। आकाश दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसका अस्तित्व अनुमान के द्वारा सिद्ध होता है। द्रव्यों का कायिक विस्तार स्थान के कारण ही हो सकता

आकाश के कारण ही विस्तार संभव है

---

*सर्वदर्शनसंग्रह—३

‡तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र—५-१९

× तत्त्वार्थाधिगमसूत्र—५-२३

† " " ५-२४

है। यह स्थान ही आकाश है। यह सत्य है कि जिसका स्वाभाविक गुण विस्तार नहीं है उसे आकाश विस्तृत नहीं कर सकता, लेकिन जिसका वह स्वाभाविक गुण है उसके विस्तार के लिये आकाश ही स्थान देता है।

आकाश के विना अस्तिकाय-द्रव्यों का विस्तार सर्वथा असंभव है। यह सही है कि अस्तिकाय-द्रव्य का आवश्यक धर्म उसका विस्तृत होना है। लेकिन उसका विस्तृत होना विना आकाश के संभव ही नहीं है। कहा है कि द्रव्य वह है जो देश को व्याप्त करता है और आकाश वह है जो द्रव्य के द्वारा व्याप्त होता है ※। डेकार्ट (Descartes) की भांति विस्तार को ही आकाश नहीं मान लेना चाहिये। बल्कि लॉक (Locke) की भांति इसे अस्तिकाय द्रव्यों का अर्थात् विस्तार का आधारभूत स्थान मानना चाहिये।

विना आकाश के अस्तिकाय-द्रव्यों की स्थिति असंभव है

जैन दार्शनिक आकाश के दो भेद मानते हैं—लोकाकाश और अलोकाकाश। लोकाकाश वह है जो जीवों तथा अन्य द्रव्यों का आवास-स्थान है। अलोकाकाश उस आकाश को कहते हैं जो लोकाकाश के परे है।

लोकाकाश और अलोकाकाश

(ग) काल

उमास्वामी के अनुसार द्रव्यों की वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनत्व या प्राचीनत्व काल के कारण ही संभव होता है×। काल भी दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये आकाश की भाँति इसका भी अस्तित्व अनुमान से ही सिद्ध होता है। काल न हो तो वर्त्तना, परिणाम, क्रिया, नवीनता प्राचीनता आदि कुछ भी संभव नहीं है। इनका अस्तित्व ही यह सिद्ध करता है कि काल है। हम इनका एक-एक कर विचार करें।

काल की आवश्यकता

※ षड्-दर्शन-समुच्चय—गुणरत्न की टीका—४९,

× तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ५. २२: "वर्त्तना-परिणाम-क्रियाः परत्वापरत्वे च कालस्य"।

वर्त्तना के लिये काल आवश्यक है। क्योंकि भिन्न-भिन्न क्षणों में वर्त्तमान रहना ही वर्त्तना कहलाती है। परिणाम अर्थात् अवस्थाओं का परिवर्त्तन भी काल के विना संभव नहीं है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। आम की दोनों अवस्थाएँ एक समय में नहीं हो सकती। विना काल-परिवर्त्तन के एक ही वस्तु में दो परस्पर-विरोधी गुण नहीं आ सकते। इसी प्रकार क्रिया या गति तभी संभव होती है जब कोई वस्तु पूर्वापर क्रम से भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को धारण करती है। यह तभी संभव हो सकता है जब काल का अस्तित्व हो। प्राचीन तथा नवीन, पूर्व तथा पश्चात्, के भेद भी काल के विना संभव नहीं हो सकते। इन युक्तियों से हम काल का अनुमान कर सकते हैं।

काल अस्तिकाय नहीं है

काल अस्तिकाय द्रव्य नहीं है, क्योंकि यह एक अखण्ड द्रव्य है। समस्त विश्व में एक ही काल युगपत् है ❀। हम देखते हैं कि जिस द्रव्य को काय है वह अपने काय के विभिन्न अंशों से आकाश के विभिन्न अंशों में वर्त्तमान रहता है। किन्तु सम्पूर्ण वर्त्तमान काल विना अवयवों के ही समस्त विश्व में व्याप्त है।

पारमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल

जैन दार्शनिक कभी-कभी काल के दो भेद करते हैं—पारमार्थिक काल तथा व्यावहारिक काल। व्यावहारिक काल को 'समय' भी कहते हैं। वर्त्तना पारमार्थिक काल के कारण होती है। अन्यान्य परिवर्त्तन व्यावहारिक काल के कारण होते हैं। क्षण, मुहूर्त्त, प्रहर आदि में व्यावहारिककाल या समय ही विभाजित होता है। समय का प्रारम्भ और अन्त होता है, किन्तु पारमार्थिक काल नित्य तथा निराकार है। पारमार्थिक काल को भिन्न-भिन्न प्रकार से सीमित करने से या विभक्त करने से समय बनता है ×।

❀ षड्-दर्शन समुच्चय-गुणरत्न की टीका—पृ० १६३

× द्रव्य-संग्रह, २१

गुणरत्न कहते हैं कि कुछ जैन दार्शनिक काल को भिन्न या स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते हैं, बल्कि अन्य द्रव्यों का ही एक पर्याय (Mode) मानते हैं¹।

(ग) धर्म और अधर्म

आकाश और काल की भाँति धर्म और अधर्म का अस्तित्व भी अनुमान से ही सिद्ध होता है। धर्म और अधर्म के लिये क्रमशः गति और स्थिति प्रमाण हैं। मछली का पानी में चलना केवल मछली के कारण ही संभव नहीं हो सकता। यह सत्य है कि मछली ही अपनी गति को प्रारम्भ करती है। किन्तु यदि आधार न हो अर्थात् जल न हो तो मछली तैर नहीं सकती। इस तरह हम देखते हैं कि गति या चाल के लिये एक सहायक वस्तु की आवश्यकता है। इसी प्रकार जीव या अन्य किसी जड़-वस्तु की गति के लिये एक सहायक द्रव्य की आवश्यकता है जिसके कारण ही गति संभव हो सकती है। जैन इसी को 'धर्म' कहते हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि धर्म केवल गतिशील द्रव्यों की गति में ही सहायक हो सकता, स्थिर द्रव्यों को यह गति नहीं दे सकता। ऊपर के उदाहरण में मछली का तैरना जल के कारण संभव होता है, जल मछली को तैरने के लिये प्रेरित नहीं कर सकता है।

धर्म और अधर्म क्रमशः गति और स्थिति के कारण हैं

अधर्म द्रव्यों को स्थिर रहने में सहायक होता है। जिस प्रकार वृक्ष की छाया पथिक के विश्राम में सहायक होती है, या पृथ्वी द्रव्यों की स्थिति में सहायक होती है, उसी प्रकार अधर्म भी विश्राम और स्थिति में सहायक होता है। यह किसी चलती हुई वस्तु को स्वयं रोक नहीं सकता, उसके विश्राम में सहायक भर हो सकता है। इस तरह हम देखते हैं कि धर्म और अधर्म में परस्पर विरोध है। किन्तु

धर्म और अधर्म निराकार तथा उदासीन कारण हैं

---

¹षड्-दर्शन-समुच्चय, पृ० १६२

दोनों में कई सादृश्य भी हैं। दोनों नित्य, निराकार, गतिहीन तथा लोकाकाश में व्याप्त हैं। ये गति और स्थिति के उदासीन कारण हैं।※ ये स्वयं क्रियाशील नहीं हैं। यहाँ धर्म और अधर्म का प्रयोग नैतिक या धार्मिक अर्थ में नहीं हुआ है, बल्कि एक विशेष अर्थ में हुआ है†।

आकाश, काल, धर्म और अधर्म एक विशेष अर्थ में कारण माने जाते हैं। साधारणतः कारण के तीन मुख्य भेद हैं—कर्त्ता करण या साधन और उपादान। कुम्भकार कुम्भ का कर्त्ता है, उसका चक्र करण है, तथा मिट्टी उपादान है। आकाश, काल, धर्म और अधर्म साधनों के ही अन्दर आ सकते हैं, किन्तु साधारण साधनों से ये कुछ भिन्न हैं।

आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म परोक्ष साधन माने जा सकते हैं

साधारण साधनों की तरह ये प्रत्यक्ष ढंग से सहायक नहीं होते हैं और न ये उनकी तरह क्रियाशील ही रहते हैं। अतः गुणरत्न इन्हें अपेक्षा-कारण × कहते हैं। जिस प्रकार कुम्भ के लिये चाक की कील प्रत्यक्षरूप से सहायक नहीं होती है, उसी प्रकार आकाश, काल, धर्म और अधर्म भी प्रत्यक्ष रूप से सहायक नहीं होते हैं।

४. जैन आचार और धर्म

जैन दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय उसका आचार-सम्बन्धी विचार है। तत्त्व-विचार या प्रमाण-विचार तभी उपयोगी सिद्ध होता है जब उससे सदाचार में सहायता मिले। सदाचार का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है। मोक्ष का अभावसूचक अर्थ तो बंधन का अन्त होना है, किन्तु इसका भावसूचक अर्थ अनन्त-चतुष्टय की प्राप्ति करना है।

※गुणरत्न, षड् दर्शन-समुच्चय, पृ० १७२

†तत्त्वार्थराज-वार्तिक, ५. १. १७–१८: "धर्मादयः संज्ञाः सामयिकाः"

× षड्-दर्शन-समुच्चय, पृ० १६२

(१) बंधन

भारत के प्रायः सभी दर्शनों के अनुसार बंधन का अर्थ जन्म-ग्रहण करना तथा दुःखों को सहना है। किन्तु सभी दर्शनों में इसके सम्बन्ध में कुछ-कुछ मतभेद भी है। विभिन्न दर्शनों में आत्मा तथा संसार के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार हैं। इस विचार-भेद के कारण बंधन के अर्थ के सम्बन्ध में कुछ पृथक्-पृथक् मत हो गये हैं। जैनों के अनुसार जीव को ही बंधन के दुःख भोगने पड़ते हैं। जीव चेतन द्रव्य है। यह स्वभावतः पूर्ण है। यथार्थतः यह अनन्त है। किन्तु शरीर धारण करने से इसके सामने अनेक बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। बाधाओं के दूर हो जाने पर ही यह अनन्त-ज्ञान अनन्त-दर्शन, अनन्त-वीर्य तथा अनन्त-आनन्द प्राप्त करता है। जिस तरह मेघ और तुषार के हट जाने पर सूर्य समस्त पृथ्वी को आलोकित कर देता है, उसी तरह बाधाओं के हट जाने पर जीव भी अनन्त-ज्ञान तथा अन्य अन्तर्निहित गुणों को प्राप्त कर लेता है।

जीव स्वभावतः अनन्त है

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ये बाधाएँ क्या हैं और ये किस तरह जीव के स्वभाविक गुणों को अभिभूत कर देती हैं? शरीर से इसका बंधन होने से ही इसके स्वाभाविक गुण अभिभूत हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होना ही बंधन है। शरीर पुद्गल से बनता है। विशेष प्रकार के शरीर के लिये विशेष प्रकार के पुद्गल की आवश्यकता होती है और उसका विशेष प्रकार से रूपान्तर किया जाता है। जीव की अंतर्निहित प्रवृत्तियों के द्वारा ही मानो शरीर का निर्माण होता है। अर्थात् जीव अपने कर्मों या संस्कारों के वश ही शरीर धारण करता है। पूर्व-जन्म के कर्मों के कारण अर्थात् पूर्व-जन्म के विचार, वचन तथा कर्म के कारण जीव में वासनाओं की उत्पत्ति होती है। वासनाएँ तृप्त होना चाहती हैं।

कर्म ही बंधन का कारण है

फल यह होता है कि ये पुद्गल को अपनी ओर आकर्षित करती हैं, जिससे विशेष प्रकार का शरीर बनता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैनों के अनुसार जीव अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता है। अतः जीव शरीर का निमित्त-कारण है और पुद्गल इसका उपादान-कारण। शरीर से केवल स्थूल शरीर नहीं समझना चाहिये, बल्कि शरीर से इन्द्रिय, मन तथा प्राण का भी बोध होता है जिनके कारण जीव के स्वाभाविक गुण अभिभूत हो जाते हैं।

वासनाएँ पुद्गल को जीव की ओर आकर्षित करती हैं

माता-पिता से जो शरीर मिलता है उसे आकस्मिक नहीं समझना चाहिये। कर्म से यह निर्मित हो जाता है कि किसी व्यक्ति का जन्म किस वंश या परिवार में होगा। कर्मों से ही शरीर का रंग, रूप, आकार, आयु, ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय की संख्या एवं उनके विशेष धर्म नियंत्रित होते हैं। शरीर के कारण-रूप कर्मों एवं उनके सभी धर्मों को हम समष्टि और व्यष्टि की दृष्टियों से विचार कर सकते हैं। समष्टि-दृष्टि से कर्म समस्त वासनाओं का एक समूह है, जिसका फल समस्त-धर्म-विशिष्ट शरीर है। किन्तु व्यष्टि-दृष्टि से शरीर का विशेष-विशेष धर्म विशेष-विशेष कर्म का फल है। जैनों के अनुसार कर्मों की संख्या अनेक हैं। उन्होंने किसी कर्म का नामकरण उसके फल के अनुसार किया है। जो कर्म यह निश्चित करता है कि व्यक्ति का जन्म किस गोत्र में होगा, उसे गोत्र-कर्म कहते हैं। जो आयु निश्चित करता है उसे आयु-कर्म कहते हैं। जो ज्ञान को नष्ट करता है उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। जो विश्वास को नष्ट करता है उसे दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। जो मोह पैदा करता है उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जो सुख या दुःख की वेदना उत्पन्न करता है, उसे वेदनीय कर्म कहते हैं।

शारीरिक विशेषताएँ कर्मजनित होती हैं।

क्रोध, मान माया और लोभ हमारे कषाय हैं

क्रोध, मान, माया, लोभ ही हमारी कुप्रवृत्तियाँ हैं जो हमें बंधन में डालती हैं*। इन्हें कषाय कहते हैं, क्योंकि ये पुद्गल-कणों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

जीव की ओर कितने तथा किस प्रकार के पुद्गल-कण आकृष्ट होंगे, यह जीव के कर्म या वासना पर निर्भर करता है। ऐसे पुद्गल-

कर्म-पुद्गल और उसका आस्रव

कण को कर्म-पुद्गल का नाम दिया जाता है। कभी-कभी इसे कर्म भी कहते हैं। जीव की ओर जो कर्म-पुद्गल का प्रवाह होता है उसे आस्रव कहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन मत के अनुसार बंधन का एक विशिष्ट अर्थ है। कषायों के कारण कर्मानुसार जीव का पुद्गल से

भाव-बंध और द्रव्य-बंध

आक्रान्त हो जाना ही बंधन है†। चूंकि दूषित मनोभाव ही बंधन का मूल-कारण है और पुद्गल का आस्रव मनोभाव का एक परिणाम है, इसलिये जैन दार्शनिक कहते हैं कि जीव का पतन या बंधन मानसिक प्रवृत्तियों के कारण ही होता है। वे बंधन के दो भेद मानते हैं—भाव-बंध तथा द्रव्य-बंध। मन में दूषित भावों का अस्तित्व ही भाव-बंध कहलाता है। जीव का पुद्गल से आक्रान्त हो जाना द्रव्य-बंध कहलाता है।

बंधन की अवस्था में पुद्गल तथा जीव एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं। हो सकता है कि यह विचार युक्ति-संगत न प्रतीत हो।

जीव और पुद्गल एक दूसरे में प्रविष्ट हो जाते हैं

किन्तु हम देख चुके हैं कि जीव का भी विस्तार संभव है। यह शरीर का समव्यापी होता है। यह अनुभव सिद्ध है कि सजीव शरीर के प्रत्येक भाग में पुद्गल और चैतन्य वर्त्तमान रहते हैं। अतः

---

* तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ८-९

† तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, ८-२: सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः।"

इन दोनों का परस्पर सम्मिश्रण उसी प्रकार संभव है जिस प्रकार दूध और जल मिला देने पर दोनों एक ही साथ रहते हैं या गरम लोहे में आग और लोहा एक ही साथ पाये जाते हैं*।

(२) मोक्ष

हम देख चुके हैं कि जीव और पुद्गल के संयोग को बंधन कहते हैं। अतः जीव का पुद्गल से वियोग होना ही मोक्ष है। पुद्गल से

पुद्गल-विनाश ही मोक्ष है

वियोग तभी हो सकता है जब नये पुद्गल का आस्रव बंद हो और जो जीव में पहले से ही प्रविष्ट है वह जीर्ण हो जाय। पहले को संवर और दूसरे को निर्जर कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि जीव में पुद्गल का आस्रव जीव के

अज्ञान ही कषायों का कारण है

अन्तर्निहित कषायों के कारण होता है। इन कषायों का कारण अज्ञान है। अर्थात् आत्माओं का तथा अन्य द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न होने के कारण ही हमारे मन में क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति

ज्ञान ही अज्ञान को दूर कर सकता है

होती है। अज्ञान का नाश ज्ञान-प्राप्ति से ही हो सकता है। अतः जैन दार्शनिक सम्यक्-ज्ञान या तत्त्व-ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति पूर्ण ज्ञानी तीर्थङ्करों या अन्य मुक्त महात्माओं के उपदेशों के मनन से होती है। इनके उपदेश इसलिये लाभदायक होते हैं, कि

सम्यक्-ज्ञान

ये स्वयं मोक्ष पाकर उपदेश देते हैं। किन्तु उपदेशों के मनन करने के पूर्व उनका सारांश जान लेना आवश्यक होता है। साथ-साथ उपदेष्टाओं के प्रति श्रद्धा का होना भी आवश्यक होता है। इस श्रद्धा को सम्यक्-दर्शन कहते हैं।

सम्यक्-दर्शन

सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति में सम्यक्-दर्शन बड़ा सहायक होता है। किन्तु केवल सम्यक्-ज्ञान प्राप्त कर लेने

*षड्दर्शन-समुच्चय पर गुणरत्न की टीका, पृ० १८२

से ही कुछ फल नहीं मिलता। उसके अनुसार जीवन-यापन करना आवश्यक है। अतः सम्यक्-चरित्र एक तीसरा आवश्यक साधन है।

सम्यक्-चरित्र

सम्यक्-चरित्र के अनुसार हमें वासना, इन्द्रिय, मन, वचन तथा कर्म को संयत करना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि नये कर्मों का संचय बंद हो जाता है और पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप उन पुद्गलों का भी नाश हो जाता है जिनके कारण जीव बंधन में पड़ा रहता है।

जैन दार्शनिक सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र को 'त्रिरत्न' कहते हैं। मानो ये जीवन के अलङ्करण हैं। 'तत्त्वार्था-

त्रिरत्न

धिगम-सूत्र के प्रथम-सूत्र में ही उमास्वामी ने कहा है—सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। अर्थात् सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चरित्र ही मोक्ष का मार्ग है। तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है। यहाँ तीनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाता है।

(१) *सम्यक्-दर्शन*--उमास्वामी के अनुसार यथार्थ-ज्ञान के प्रति श्रद्धा

यथार्थ-ज्ञान के प्रति श्रद्धा ही सम्यक्-दर्शन है

का होना सम्यक्-दर्शन कहलाता है। कुछ लोगों में तो यह स्वभावतः विद्यमान रहता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एवं अभ्यास के द्वारा सीख भी सकते हैं ॐ। किन्तु किसी भी हालत में श्रद्धा का उदय तभी होता है, जब कर्म का संवर या निर्जर होता है। कर्म अश्रद्धा को उत्पन्न करता है, इसलिये यह श्रद्धा के लिये पूर्ण बाधक सिद्ध होता है।

सम्यक्-दर्शन का अर्थ अन्धविश्वास नहीं है। जैन दार्शनिक इस बात की शिक्षा नहीं देते हैं कि हमें तीर्थङ्करों के उपदेशों को आँख

सम्यक्-दर्शन अन्धविश्वास नहीं है

मूंद कर मान लेना चाहिये। प्रख्यात जैन दार्शनिक मणिभद्र कहते हैं कि जैन-मत युक्तिहीन नहीं, वरं युक्ति-प्रधान है। उनका कहना है—"न मेरा महावीर के प्रति कोई पक्षपात है और न कपिल या अन्य

ॐ तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र, १.२-३

दार्शनिकों के प्रति द्वेष ही है। मैं युक्ति-संगत वचन को ही मानता हूँ, वह चाहे जिस किसी का हो ❀।

सम्यक्-दर्शन पूर्णतया युक्ति-संगत है। यह अन्धविश्वास नहीं माना जा सकता। इसका एक कारण तो यह है कि कुछ ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ही यह होता है और दूसरा कारण यह है कि ऐसे विश्वास के विना पूर्ण-ज्ञान पाने की प्रेरणा भी नहीं मिल सकती। संशयवादी भी जब किसी मत का विचार करता है तो उसे भी स्वतः अपनी विचार-प्रणाली और अपने विचार्य विषय में पूर्ण विश्वास रहता है।

सम्यक्-दर्शन का प्रयोजन

जैन दार्शनिक कहते हैं कि यदि हमारे उपदेशों में कोई तथ्य है तो जिनको उनपर पूरा विश्वास नहीं भी है, उनका भी उन उपदेशों के अध्ययन करने पर पूरा विश्वास जम जाता है। अधिकाधिक मनन करने से विश्वास और बढ़ता ही जाता है। इस तरह पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाने पर विश्वास भी पूर्ण हो जाता है।

पूर्ण विश्वास से ही पूर्णज्ञान प्राप्त होता है

(२) *सम्यक्-ज्ञान*—सम्यक्-दर्शन में जैन उपदेशों के केवल सारांश का ज्ञान प्राप्त रहता है। किन्तु सम्यक्-ज्ञान में, जैसा कि द्रव्य-संग्रह में (श्लोक ४२) कहा गया है, जीव और अजीव के मूल-तत्त्वों का सविशेष ज्ञान प्राप्त होता है। साथ-साथ सम्यक्-ज्ञान असंदिग्ध तथा दोषरहित होता है। जैन प्रमाण-विचार में तो हम यह देख ही चुके हैं कि यथार्थ-ज्ञान किस भाँति प्राप्त होता है। जिस प्रकार सम्यक्-दर्शन के प्रतिवन्धक कर्म ही होते हैं, उसी प्रकार सम्यक्-ज्ञान के प्रतिवन्धक भी विशेष प्रकार के कर्म ही होते हैं। अतः इसके लिये कर्मों का नाश होना अत्यावश्यक है। कर्मों के पूर्णविनाश के बाद ही केवल-ज्ञान प्राप्त होता है।

तत्त्वों के सविशेष ज्ञान होने से ही सम्यक्-ज्ञान प्राप्त होता है

इसके लिये कर्मों का नाश आवश्यक है

❀ षड्दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका, [illegible] (चौखम्बा संस्करण, पृ० ३६)

(३) सम्यक्-चरित्र—द्रव्य-संग्रह (श्लोक ४५) में कहा गया है कि अहित कार्यों का वर्जन और हित कार्यों का आचरण ही सम्यक्-चरित्र है। सम्यक्-चरित्र के द्वारा जीव अपने कर्मों से मुक्त हो सकता है, क्योंकि कर्मों के कारण ही बंधन और दुःख होते हैं। नये कर्मों को रोकने के लिये तथा पुराने कर्मों को नष्ट करने के लिये निम्नोक्त क्रियाएँ आवश्यक हैं :—

सम्यक्-चरित्र का अर्थ

१—पंच-महाव्रत का पालन करना चाहिये।

२—चलने, बोलने, भिक्षादि-ग्रहण करने, पुरीष और मूत्र त्याग करने में समिति या सतर्कता का अवलम्बन करना चाहिये।

३—मन, वचन तथा कर्म में गुप्ति या संयम का अभ्यास करना चाहिये।

४—दश प्रकार के धर्मों का आचरण करना चाहिये। वे धर्म हैं—क्षमा, मार्दव (कोमलता), आर्जव (सरलता), सत्य, शौच संयम, तप (मानस और वाह्य), त्याग, आकिंचन्य (किसी पदार्थ से ममता न रखना) और ब्रह्मचर्य।

५—जीव और संसार के यथार्थ तत्त्व के सम्बन्ध में भावना करनी चाहिये।

६—भूख, प्यास, शीतोष्ण आदि के कारण जो कष्ट या उद्वेग हों उन्हें सहना चाहिये।

७—समता, निर्मलता, निर्लोभता, और सच्चरित्रता प्राप्त करनी चाहिये।

अनेक जैन दार्शनिक उपर्युक्त सभी आदेशों को आवश्यक नहीं समझते हैं। कुछ तो पंचमहाव्रतों का पालन ही सम्यक्-चरित्र के लिये पर्याप्त मानते हैं। कारण यह है कि अन्य आदेशों में भी भिन्न-भिन्न प्रकारों से पंचमहाव्रतों की ही पुनरावृत्तियाँ हुई हैं।

पंचमहाव्रत

पंचमहाव्रत की महत्ता उपनिषद् के ऋषि तथा बौद्ध दार्शनिक भी मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक इसे पंचशील कहते हैं। ईसाई धर्म के जो दश आदेश हैं वे भी इनसे मिलते-जुलते हैं। किन्तु जैन जिस कठोरता के साथ इन व्रतों का पालन करते हैं वैसी कठोरता शायद ही अन्यत्र पाई जाती हो।

अन्य धर्म भी पंच-महाव्रत को किसी न किसी रूप में मानते हैं

पंचमहाव्रत ये हैं—

(१) **अहिंसा**—इसका अर्थ है जीवों की हिंसा का वर्जन। हम इसका विचार कर चुके हैं कि जीव का अस्तित्व केवल त्रस या गतिशील द्रव्यों में नहीं, वरं स्थावर द्रव्यों में भी है। उदाहरणस्वरूप वनस्पति, क्षिति, जल आदि अस्तिकाय द्रव्यों में जीव का अस्तित्व है। अतः जैनों का उद्देश्य यह नहीं है कि केवल त्रस जीवों की ही हिंसा नहीं हो बल्कि वे स्थावर जीवों की भी हिंसा करना निकृष्ट समझते हैं। अतः अनेक जैन संन्यासी नाक में कपड़ा बाँधे रहते हैं जिससे श्वास लेने में या फेकने में वायु-स्थित जीवों की हिंसा न हो जाय। साधारण गृहस्थों के लिये यह व्रत अत्यन्त कठिन है। इसलिये उनके लिये इसे कुछ सरल कर दिया गया है। उनके लिये यह विहित समझा गया है कि वे कम से कम त्रस जीवों की हिंसा न करें अर्थात् एकेन्द्रिय जीवों को छोड़ कर अन्य सभी जीवों के प्रति अहिंसा का भाव रखें।

अहिंसा

जैनों का अहिंसा-सिद्धान्त उनके तत्त्व-सम्बन्धी विचारों पर ही अवलम्बित है। जैन दार्शनिकों के अनुसार सभी जीव यथार्थ दृष्टि से समान हैं। वे कहते हैं कि जीवों में पारस्परिक समादर का भाव रहना चाहिये। अर्थात् दूसरों के प्रति हमारा आचरण वैसा ही होना चाहिये जैसा हम चाहेंगे कि दूसरों का हमारे प्रति हो। कुछ पाश्चात्य विद्वानों का कहना है कि आदि-युग के असभ्य मनुष्यों में जीवों के प्रति भय की भावना रहती थी। वही

अहिंसा की उत्पत्ति

अहिंसा का मूल-कारण है❀। किन्तु ऐसा सोचना उचित नहीं है। कोई भी जीव, चाहे वह नीच से नीच स्थिति में क्यों न हो, उच्च से उच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है। इसलिये यह सर्वथा उचित है कि प्रत्येक जीव दूसरे को भी अपने ही जैसा समझे। जीवों के प्रति आदर का होना तो आवश्यक कर्त्तव्य।

मन, बचन और कर्म-तीनों से अहिंसा का पालन होना चाहिये

जैन अहिंसा-व्रत का पालन छोटे-छोटे कार्यों में भी करते हैं। यहाँ तक कि वे जीव की हिंसा नहीं करना ही पर्याप्त नहीं समझते, बल्कि हिंसा के सम्बन्ध में सोचना, बोलना, या दूसरों को हिंसा करने की अनुमति या प्रोत्साहन देना भी उनके लिये अधर्म है। जबतक मन, वचन तथा कर्म से अहिंसा-व्रत का पालन नहीं किया जाय तब तक अहिंसा पूर्ण नहीं समझी जाती है।

(२) सत्य—मिथ्या वचन का परित्याग। इस व्रत को भी बड़ी तत्परता से पालन करने की आवश्यकता है। सत्यवादिता का अर्थ

सत्यवादिता का आदर्श केवल सत्य बोलना नहीं वरं साथ-साथ प्रिय बोलना भी है

केवल सत्यभाषी होना नहीं है, बल्कि साथ-साथ प्रियभाषी होना भी है। सत्यभाषिता के साथ-साथ जबतक प्रियभाषिता नहीं होती है तबतक धार्मिक उन्नति नहीं हो सकती है। क्योंकि केवल जो सत्य है उसे कहने से वह कभी-कभी वाचालता, ग्राम्यता, चपलता तथा परनिन्दा भी हो जा सकता है। इसी

❀Mackenzie का Hindu Ethics (पृ० ११२) देखिये। वे लिखते हैं—"असभ्य मनुष्य जीव के विभिन्न रूपों को भय की दृष्टि से देखते हैं। भय की यह भावना ही अहिंसा का मूल है।" किन्तु प्राचीन जैन उपदेशकों ने स्पष्ट ढंग से कहा है कि सहानुभूति और न्याय की भावनाओं पर ही अहिंसा अवलम्बित है। देखिये आचारांग-सूत्र, १-४-२ (Jacobi, Jain Sutras, प्रथमभाग, पृ० ३८-३६) तथा सूत्र-कृतांग १-१-४ (Jacobi, Jain Sutras, द्वितीय भाग, पृ० २४७-४८)। इन ग्रंथों में यह दिखलाया गया है कि परस्पर सहानुभूति के रहने से अहिंसा-भावना की उत्पत्ति होती है।

लिये सत्यवादिता का आदर्श सुनृत माना गया है। सुनृत का अर्थ केवल सत्य नहीं है, वरं सत्य और प्रिय या मधुर भी है। सत्य-व्रत को पालन करने के लिये मनुष्य को लोभ, डर और क्रोध को दूर करना चाहिये और किसी का उपहास करने की प्रवृत्ति का भी दमन करना चाहिये।

(३) **अस्तेय**—चौर-वृत्तिका वर्जन अर्थात् विना दिये हुए परद्रव्य का ग्रहण करनाही अस्तेय है। जैनों के अनुसार किसी जीव का प्राण जिस तरह पवित्र है, उसी तरह उसकी धन-सम्पत्ति भी है। एक जैन विद्वान् कहते हैं कि धन-सम्पत्ति मनुष्य का वाह्य-जीवन है। अतः धन-सम्पत्ति का अपहरण मानो उसके जीवन का ही अपहरण है। यह तो विदित ही है कि धन के विना जीवन-यापन अत्यन्त कठिन हो जाता है। अतः जीवन का अस्तित्व प्रायः धन पर ही निर्भर करता है। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि धन के अपहरण से मानो जीवन का अपहरण होता है। प्राण की रक्षा अवश्य कर्त्तव्य है, अतः प्राण के आधारभूत धन की रक्षा भी अत्यन्त आवश्यक हो जाती है। हम देखते हैं कि अहिंसा के साथ अस्तेय का अच्छेद्य सम्बन्ध है।

धन की पवित्रता के कारण उसका अपहरण निषिद्ध है

(४) **ब्रह्मचर्य** – वासनाओं का परित्याग। बहुत लोग ब्रह्मचर्य से केवल कौमार्य-जीवन समझते हैं। किन्तु जैन इसे एक विशेष अर्थ में ग्रहण करते हैं। जैन इससे केवल इन्द्रिय-सुखों का ही नहीं; बल्कि सभी प्रकार के कामों का परित्याग समझते हैं। वे अपनी बुराइयों को स्वयं पहचानने की कोशिश करते हैं। वे कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा होता है कि हम कर्म के द्वारा तो इन्द्रिय-सुखों का उपभोग वंद कर देते हैं, किन्तु मन और वचन के द्वारा उनका उपभोग करते ही रहते हैं। ऐसा भी होता है कि हम प्रायः परलोक में भी सुखोपभोग की कामना रखते हैं। दूसरों को भी सुख-भोग

ब्रह्मचर्य में सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना पड़ता है

करने के लिये अनुमति या आज्ञा देते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रत को पूर्णरूप से पालन करने के लिये सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग करना पड़ता है—चाहे उन कामनाओं के विषय मानसिक हों या बाह्य, सूक्ष्म हों या स्थूल, ऐहिक हों या पारलौकिक।

(५) अपरिग्रह—विषयासक्ति का त्याग। इस व्रत के लिये उन सभी विषयों का परित्याग करना पड़ता है जिनके द्वारा इन्द्रिय-सुख की उत्पत्ति होती है। ऐसे विषयों के अंतर्गत सभी प्रकार के शब्द, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गन्ध हैं❀। मनुष्य सांसारिक विषयों में आसक्त होने के कारण बंधन में पड़ जाता है। फल यह होता है कि उसे पुनःपुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ता है और वह तबतक मोक्ष नहीं पा सकता जबतक फिर विषयों से अनासक्त नहीं हो जाता।

विषयों से पूरा-पूरा अनासक्त होना अपरिग्रह कहलाता है

सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चरित्र में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक की उन्नति या अवनति से दूसरे की उन्नति या अवनति होती है। चरित्र के उन्नत होने पर ज्ञान और दर्शन की भी उन्नति होती है। जब तीनों की पूर्णता होती है तब मनुष्य अपने नये और पुराने कर्मों तथा राग-द्वेषों पर विजय प्राप्त करता है। पुद्गल-जनित बाधाओं से मुक्त होकर जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पुनः पहचान लेता है। मोक्ष की अवस्था में जीव को अनंत-चतुष्टय अर्थात् अनंत-ज्ञान, अनंत-दर्शन, अनंत-वीर्य तथा अनंत-सुख प्राप्त हो जाता है।

दर्शन, ज्ञान और चरित्र की पूर्णता होने पर मुक्ति अर्थात् अनंत चतुष्टय की प्राप्ति होती है

(३) जैन-धर्म अनीश्वरवादी है

बौद्ध-धर्म की भाँति जैन-धर्म भी ईश्वर को नहीं मानता। जैनों का अनीश्वरवाद निम्नलिखित युक्तियों पर अवलम्बित है†

जैन अनीश्वरवाद

❀ आचारांग-सूत्र का Jacobi के द्वारा अंगरेजी में अनुवाद, पृ० २०८ देखिये।

† देखिये प्रमेय-कमल-मार्तण्ड, द्वितीय अध्याय, और स्याद्वाद-मंजरी, श्लोक ६ और उसकी टीका।

(१) प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर का ज्ञान नहीं मिलता है। उसका अस्तित्व युक्तियों के द्वारा प्रमाणित होता है। न्याय-दर्शन में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि के लिये निम्न प्रकार की युक्ति दी गई है। प्रत्येक कार्य के लिये एक कर्त्ता की आवश्यकता है। गृह एक कार्य है अर्थात् एक निर्मित वस्तु है। उसको किसी कर्त्ता ने बनाया है, नहीं तो उसका अस्तित्व संभव नहीं हो सकता। उसी प्रकार यह संसार एक कार्य है। अतः इसके लिये भी एक कर्त्ता या स्रष्टा की आवश्यकता है। वह कर्त्ता जिसने इस संसार को बनाया है, ईश्वर है। किन्तु यह युक्ति निर्दोष नहीं है, क्योंकि यह मान लिया गया है कि यह संसार भी एक कार्य है। इसके लिये क्या प्रमाण है कि संसार एक बनी हुई चीज है? हम यह नहीं कह सकते कि संसार सावयव है इसलिये कार्य है। सावयव का अर्थ यदि यह हो कि इसका अवयवों से संयोग है तो आकाश को भी कार्य मानना चाहिये, क्योंकि आकाश का अवयवों के साथ संयोग है। किन्तु नैयायिक तो आकाश को कार्य नहीं मानते, वरं नित्य मानते हैं। किसी कार्य के सम्बन्ध में यह भी देखा जाता है कि उसका निर्माता अपने शारीरिक अवयवों के द्वारा उपादानों से उसका निर्माण करता है। किन्तु ईश्वर तो अवयवहीन है। वह किस प्रकार उपादानों से किसी वस्तु का निर्माण कर सकता है?

(१) ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान से ही हो सकती है

(२) ईश्वर के अस्तित्व की तरह उसके गुणों के सम्बन्ध में भी पूरा संदेह हो सकता है। ईश्वर एक, सर्वशक्तिमान, नित्य, तथा पूर्ण समझा जाता है। सर्वशक्तिमान होने के कारण वह सभी वस्तुओं का मूल कारण समझा जाता है। किन्तु यह सत्य नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि घर, बर्त्तन आदि अनेक वस्तुएँ हैं जिन्हें ईश्वर नहीं बनाता। ईश्वर को एक माना जाता है। क्योंकि यह कहा जाता है कि अनेक ईश्वरों को मानने से उनमें मतों और उद्देश्यों का संघर्ष हो

ईश्वर के लिये जो गुण कल्पित हैं, वे युक्तिपूर्ण नहीं हैं

सकता है। जिसका फल यह होगा कि संसार की एकरूपता संभव नहीं होगी। किन्तु हम देखते हैं कि संसार में एकरूपता है। इसलिये यह सिद्ध है कि ईश्वर एक ही है। लेकिन यह युक्ति ठीक नहीं है। क्या कई गृहशिल्पी एक साथ मिलकर प्रासाद नहीं बना लेते? चीटियाँ एक साथ मिलकर वल्मीक नहीं बना लेतीं? मधुमक्खियाँ मिलकर मधु-कोष नहीं बना लेतीं? ईश्वर को नित्यमुक्त और नित्यपूर्ण समझा जाता है। किन्तु नित्यमुक्त का कोई अर्थ नहीं है। मुक्ति की प्राप्ति बंधन के नाश होने पर ही हो सकती है। अतः ईश्वर को नित्यपूर्ण कैसे माना जा सकता है?

जैन ईश्वर की नहीं, प्रत्युत तीर्थङ्करों की ही उपासना करते हैं।

यद्यपि जैन धर्मावलम्बी किसी जगत्-स्रष्टा ईश्वर को नहीं मानते, फिर भी वे सिद्धों की आराधना आवश्यक समझते हैं। ईश्वर के लिये जो-जो गुण आवश्यक समझे जाते हैं, वे सभी तीर्थङ्करों में ही पाये जाते हैं। अतः जैन-धर्म में तीर्थङ्कर ही मानो ईश्वर हैं। मार्ग-प्रदर्शन के लिये तथा अन्तः प्रेरणा के लिये इन्हीं की पूजा की जाती है। जैन-धर्म में पंच-परमेष्ठि का अस्तित्व माना जाता है। पंच-परमेष्ठि हैं अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु। धर्मपरायण जैनों के लिये पंच-परमेष्ठि की पूजा दैनिक कार्य-क्रम का एक प्रधान अंग है।

जैनों में धार्मिक भावना का अभाव नहीं है.

ईश्वर के प्रति अविश्वास रहने पर भी जैनों में न तो धर्मोत्साह की कमी है और न धार्मिक विधानों की ही। तीर्थङ्करों के सद्गुणों का निरंतर ध्यान करते रहने से वे इस बात का स्मरण करते रहते हैं कि वे भी उनकी तरह सिद्ध और मुक्त हो सकते हैं। पूत-चरित्र तीर्थङ्करों का बराबर चिंतन करते रहने से वे अपने आप को भी पवित्र करते हैं और मोक्ष-प्राप्ति के लिये अपने को सुदृढ़ बनाते हैं। जैनों के लिये पूजा-वंदन का उद्देश्य करुणा-प्राप्ति नहीं है। उन्हें तो कर्मवाद जैसी निर्मम व्यवस्था में विश्वास है जिसमें दूसरे की करुणा का कोई स्थान ही नहीं है।

पूर्व-जन्म के कर्मों का नाश विचार, वचन और कर्मों के द्वारा ही हो सकता है। कल्याण की प्राप्ति अपने ही कर्मों के द्वारा हो सकती है। तीर्थङ्कर तो मार्ग-प्रदर्शन के लिये केवल आदर्श का काम करते हैं। जैन-धर्म केवल उन पुरुषों के लिये है जो वीर और दृढ़-चित्त हैं। इसका मूल-मंत्र मानो स्वावलम्बन है। ठीक ही जैन-धर्म में मुक्त आत्मा को 'जिन' और 'वीर' कहा जाता है। इस दृष्टि से बौद्ध-धर्म, सांख्य और अद्वैत-वेदान्त भी जैन-धर्म के ही सदृश हैं।

जैन-धर्म में स्वावलम्बन

४

बौद्ध-दर्शन

१. विषय-प्रवेश

बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक गौतम बुद्ध थे। ये वचपन में सिद्धार्थ कहलाते थे। ईसा से पूर्व छठी शताब्दी में हिमालय-तराई के कपिल-वस्तु नामक स्थान में इनका जन्म हुआ था। युवा-वस्था में ही इन्होंने घर-परिवार छोड़कर संन्यास धारण किया। जरा-मरण के दृश्यों को देखने से इनके मन में यह विश्वास पैदा हुआ कि संसार में केवल दुःख ही दुःख है। अतः दुःख से मुक्ति पानेके लिए इन्होंने संन्यास ग्रहण किया। संन्यासी बनकर इन्होंने दुःखों के मूल-कारण को तथा उनसे मुक्त होने के उपायों को जानने का अथक प्रयत्न किया। धर्मोपदेशकों तथा प्रगाढ़ पण्डितों से शिक्षाएं लीं। तपस्याएं भी कीं। लेकिन फिर भी ये सफलीभूत नहीं हुए। इस प्रकार सफलता न मिलने पर ये बिलकुल आत्मनिर्भर हो गये। दृढ़ संकल्प के साथ शुद्ध मन से ये घोर समाधि में लग गये और इस तरह दुःख के रहस्य को समझने की अखण्ड चेष्टा की। अन्त में इनको सिद्धि मिली। ये बोधि (पूर्णज्ञान) प्राप्त कर 'बुद्ध' कहलाये। इसी बोधि के आधार पर बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-दर्शन कायम हुए हैं। आगे चलकर बौद्ध-धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ। यहाँ तक कि दक्षिण में लंका, ब्रह्मा तथा स्याम, और उत्तर में तिब्बत, चीन, जापान तथा कोरिया तक इसका संदेश पहुँच गया।

गौतम बुद्ध का जीवन

प्राचीन काल के अन्य धर्मोपदेशकों की तरह महात्मा बुद्ध ने भी अपने धर्म का प्रचार मौखिक रूप से ही किया। उनके शिष्यों ने भी बहुत काल तक उनके उपदेशों का मौखिक ही प्रचार किया। बुद्ध के निजी उपदेशों का जो कुछ भी ज्ञान हमें आजकल प्राप्त है वह त्रिपिटकों से ही हुआ है। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के वचनों और उपदेशों का संकलन उनके निकटतम शिष्यों के द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है।

बुद्ध के उपदेश मौखिक होते थे

त्रिपिटक

त्रिपिटकों के अन्तर्गत विनय-पिटक, सुत्त-पिटक, तथा अभिधम्म-पिटक हैं। विनय-पिटक में सदाचार के नियमों का, सुत्त-पिटक में दृष्टान्तों के साथ उपदेशों का, तथा अभिधम्म-पिटक में दार्शनिक विषयों का विवेचन हुआ है। इन पिटकों में केवल प्राचीन बौद्ध-धर्म का वर्णन मिलता है। इनकी भाषा पाली है।

हीनयान और महायान

कालान्तर में महात्मा बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ गई और वे कई सम्प्रदायों में विभक्त हो गये। धार्मिक मतभेद के कारण बौद्ध-धर्म की दो प्रधान शाखाएँ कायम हुईं जो हीनयान तथा महायान के नाम से प्रसिद्ध हैं। हीनयान का प्रचार भारत के दक्षिण में अधिक हुआ। आजकल इसका अधिक प्रचार लंका, ब्रह्मा तथा स्याम में है। हीनयान के अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। इनकी भाषा पाली है। हीनयान बुद्ध के उपदेशों के बिलकुल अनुकूल समझा जाता है। महायान का प्रचार अधिकतर उत्तर के देशों में हुआ। इसके अनुयायी तिब्बत, चीन तथा जापान में पाये जाते हैं। महायान का दार्शनिक विवेचन संस्कृत में हुआ है। अतः इसके ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है। इन ग्रन्थों का अनुवाद तिब्बती और चीनी भाषाओं में हुआ है। बौद्ध साहित्य के अनेक ग्रन्थ जो भारत में अभी अप्राप्य हैं तिब्बती या चीनी अनुवादों के द्वारा पुनः प्राप्त हो रहे हैं और उन्हें फिर से संस्कृत में अनुवादित किया जा रहा है।

बौद्ध-धर्म का प्रचार अनेक देशों में हुआ है। जहाँ-जहाँ इसका प्रचार हुआ वहाँ के प्रचलित मतों की छाप भी इस पर पड़ी। इस तरह बौद्ध-धर्म की अनेक शाखाएँ कायम हुईं। इसका फल यह हुआ कि इसके साहित्य का विस्तार अनेक भाषाओं में हुआ है। इसलिये समूचे बौद्ध-साहित्य को जानने की जो इच्छा रखता हो, उसके लिए दो बातें आवश्यक हैं। एक तो उसे कई भाषाओं में प्रवीण होना चाहिये। दूसरे उसे तीक्ष्ण दार्शनिक बुद्धि होनी चाहिये। यहाँ बौद्ध-दर्शन का एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। सबसे पहले हम बुद्ध के उपदेशों का उल्लेख करेंगे जो उनकी वार्त्ताओं में पाये जाते हैं। उसके बाद हम बौद्ध-दर्शन की प्रधान शाखाओं का वर्णन करेंगे और अन्त में हीनयान तथा महायान के धार्मिक विचार का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

बौद्ध-धर्म का विशाल साहित्य

२. बुद्ध के उपदेश—चार आर्य सत्य

(१) *विवाद-पराङ्मुखता*

महात्मा बुद्ध का अन्तिम ध्येय दार्शनिक विचार नहीं था, बल्कि यह दिखलाना था कि जीवों के दुःखों का किस प्रकार अन्त हो सकता है। कोई यदि उनसे पूछता था कि आत्मा शरीर से भिन्न है या नहीं, आत्मा अमर है या नहीं, संसार सान्त है या अनन्त, नित्य है या अनित्य, तो वे मौन धारण कर लेते थे। उनका कहना था कि जिन विषयों के समाधान के लिये पर्याप्त प्रमाण न हो उनका समाधान नहीं करना चाहिये क्योंकि उनका समाधान पूर्ण नहीं हो सकता। अन्धे जब हाथी का स्पर्श करते हैं तो वे हाथी का भिन्न-भिन्न वर्णन करते हैं। जो जिस भाग का स्पर्श करता है उसके अनुसार हाथी का आकार उसी प्रकार का होता है। किसी को भी हाथी का यथार्थ-ज्ञान नहीं

दार्शनिक विवादों से बुद्ध उदासीन थे

होता*। बुद्ध ने पूर्व प्रचलित अनेक दार्शनिक मतों को युक्तिहीन बतलाया क्योंकि उनका प्रतिपादन संदिग्ध इन्द्रिय-ज्ञान, आकांक्षाओं तथा आशंकाओं के आधार पर हुआ था×। उन्होंने तत्त्व-विवेचन का परित्याग इसलिये भी किया कि उससे मनुष्य को कोई लाभ नहीं होता है। उससे अर्हत्ता या विमुक्ति प्राप्त करने में कुछ भी सहायता नहीं मिलती है। जो मनुष्य तत्त्व-विवेचन के जाल में प्रवेश करता है वह विचारों का जाल और भी अधिक फैलाता है और उसमें बुरी तरह फँस जाता है†। दुःख-निरोध की समस्या सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। दुःखों से पीड़ित रहने पर भी आत्मा तथा जगत् के तात्त्विक अनुसन्धान में लगा रहना बड़ी भारी मूर्खता है। जिस प्रकार शरीर में विषाक्त बाण के चुभे रहने पर उसको निकाल कर फेंकने के बजाय उसके बनानेवाले या फेंकनेवाले की जाति, रंग, निवास आदि के अनुसंधान में समय नष्ट करना मूर्खता है‡।

अव्याकतानि

पोट्ठपाद-सुत्त के अनुसार महात्मा बुद्ध ने दश प्रश्नों का समाधान करना असम्भव तथा व्यावहारिक दृष्टि से व्यर्थ समझा है। अतः उन प्रश्नों के समाधान का उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया है। वे प्रश्न इस प्रकार हैं:—(१) क्या यह लोक शाश्वत है? (२) क्या यह अशाश्वत है? (३) क्या यह सान्त है? (४) क्या यह अनन्त है? (५) आत्मा तथा शरीर क्या एक हैं? (६) क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? (७) तथागत क्या मृत्यु के बाद फिर जीवन धारण करते हैं? (८) क्या वे मृत्यु के बाद पुनर्जन्म नहीं धारण करते? (९) क्या वे मृत्यु के बाद जीवन धारण करते हैं और नहीं भी करते हैं? (१०) क्या वे न तो अमर होते हैं

* इस दृष्टान्त के लिये Rhys Davids का Dialogues of Buddha (प्रथम भाग पृ० सं० १८७-८८) देखिये।

× ब्रह्मजाल-सुत्त—पृ० सं० ५२-५५

† ब्रह्मजाल-सुत्त—पृ० सं० ४४

‡ मज्झिम-निकाय-सुत्त ६३ (Warren पृ० १२०)

और न मरणशील ही ? बौद्ध-धर्म के पाली-साहित्य में इन दश प्रश्नों को 'अव्याकतानि' कहते हैं। अव्याकत संयुक्त के नाम से इनका उल्लेख संयुक्त-निकाय में हुआ है।

तात्त्विक प्रश्नों का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से निष्फल है तथा उनका असंदिग्ध ज्ञान मिल भी नहीं सकता। अतः बुद्ध ने उनका कभी विवेचन नहीं किया। इसके बदले उन्होंने दुःख, दुःख के कारण, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग जैसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया। उन्होंने स्वयं कहा है कि "इसी प्रकार के विवेचन से लाभ हो सकता है। इसी को धर्म के मूल-सिद्धांतों से सम्बन्ध है। इसी से अनासक्ति, तृष्णाओं का नाश, दुःखों का अन्त, मानसिक शान्ति, ज्ञान, प्रज्ञा तथा निर्वाण सम्भव हो सकते हैं"*।

महात्मा बुद्ध के ज्ञान का सारांश उनके चार आर्य-सत्यों में निहित है। इन्हीं आर्य-सत्यों का उपदेश बुद्ध ने जन-साधारण को

चार आर्य-सत्य

दिया है। चार आर्य-सत्य ये हैं :—(१) सांसारिक जीवन दुःखों से परिपूर्ण है। (२) दुःखों का कारण है। (३) दुःखों का अन्त सम्भव है। (४) दुःखों के अन्त का उपाय है। इन्हें क्रमशः दुःख, दुःख-समुदाय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-मार्ग कहते हैं। गौतम बुद्ध के अन्य सभी उपदेश इन्हीं आर्य-सत्यों से सम्बद्ध हैं।

(२) *प्रथम आर्य सत्य*

(दुःख)

रोग, जरा तथा मरण के दुखःमय दृश्यों को देखकर सिद्धार्थ का मन विकल हो गया था। किन्तु जब सिद्धार्थ बुद्ध हुए तो वे इस

दुःख

निष्कर्ष पर पहुँचे कि मानव तथा मानवेतर जीवन सभी दुःख से परिपूर्ण हैं। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, शोक, क्लेश, आकांक्षा, नैराश्य, सभी आसक्ति से उत्पन्न होते हैं,

---

* मज्झिम-निकाय-सुत्त ६३ (Warren पृष्ठ १२२)

अतः ये सभी दुःख हैं❀। हमने ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में इसकी चर्चा की है कि सभी भारतीय दर्शनों में नैराश्यवाद की झलक दिखाई पड़ती है। अतः बुद्ध के प्रथम आर्य-सत्य को सभी भारतीय दर्शन स्वीकार करते हैं। बुद्ध ने जो सांसारिक जीवन को बिलकुल दुःखमय बतलाया है, इसे चार्वाक नहीं मानते हैं। वे यह कहते हैं कि दुःखों के साथ-साथ जीवन में सुख-प्राप्ति के भी अनेक साधन हैं। किन्तु महात्मा बुद्ध तथा अन्य भारतीय विद्वानों का इसके विरुद्ध यही उत्तर होगा कि सांसारिक सुखों को यथार्थ सुख समझना केवल अदूरदर्शिता है। सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं हैं। वे क्षणिक होते हैं। उनके नष्ट हो जाने पर दुःख ही होता है। ऐसे सुखों के साथ बराबर यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जायँ। इस तरह के अनेक दुःखद परिणाम हैं जिनके कारण सांसारिक सुख वास्तविक सुख नहीं समझे जा सकते हैं। वरं वे तो आशंका और चिन्ता के मूल हैं।

(३) द्वितीय आर्य सत्य

(द्वादश-निदान)

दुःख के अस्तित्व को सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं। किन्तु दुःख के कारण के सम्बन्ध में सभी एकमत नहीं हैं। महात्मा-बुद्ध ने प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार दुःख के कारण को जानने का प्रयत्न किया है। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार कोई भी वस्तु बिना कारण नहीं है। सभी वस्तुओं के कुछ न कुछ कारण हैं। अतः जब तक कुछ कारण नहीं रहे तबतक दुःख की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। जीवन में अनेक दुःख हैं; जैसे—जरा, मरण, नैराश्य, शोक इत्यादि। जीवन के दुःखों का सांकेतिक नाम *जरा-मरण* है।

(२) दुःख के कारण हैं: द्वादश-निदान

❀ दीघ-निकाय-सुत्त २२ (Warren पृ० ३६८)

प्रश्न यह उठ सकता है कि जरा-मरण का कारण क्या है ? शरीर धारण करना ही जरा-मरण का कारण है। शरीर-धारण न हो तो जरा-मरण नहीं हो सकता है। अर्थात् जन्म-ग्रहण या *जाति* ही दुःख का कारण है। प्रतीत्य-समुत्पाद के अनुसार जन्म का भी कारण होगा। जन्म का कारण *भव* ❀ है। जन्म-ग्रहण करने की प्रवृत्ति को भव कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति का क्या कारण है ? सांसारिक विषयों के प्रति जो हमारा *उपादान* अर्थात् उनसे लिपटे रहने की अभिलाषा है वही हमारी जन्म-प्रवृत्ति का कारण है। यह उपादान भी हमारी *तृष्णाओं* अर्थात् शब्द, स्पर्श आदि विषय भोग करने की वासनाओं के कारण होता है। किन्तु यह तृष्णा कहां से आती है ? तृष्णा का कारण हमारा पहले का विषय-भोग है। अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जो हमें वेदना अर्थात् सुखानुभूति होती है उसी से हमारी तृष्णा जगी रहती है। अतः तृष्णा का कारण वेदना है। किन्तु, वेदना या इन्द्रियानुभूति विना इन्द्रिय-स्पर्श के नहीं हो सकती है। अर्थात् इन्द्रियानुभूति के लिये इन्द्रियों का विषयों के साथ सम्पर्क आवश्यक है। अतः वेदना के लिये *स्पर्श* आवश्यक है। स्पर्श भी विना ज्ञानेन्द्रियों के नहीं हो सकता।

अतः स्पर्श के लिये पाँच इन्द्रियाँ तथा मन आवश्यक हैं। पाँच इन्द्रियों तथा मन के समूह को *षडायतन* कहते हैं। यदि गर्भस्थ शरीर तथा मन न हों तो षडायतन का अस्तित्व ही संभव नहीं है। गर्भस्थ भ्रूण के शरीर और मन को *नाम-रूप* कहते हैं। यदि गर्भावस्था में चैतन्य या *विज्ञान* न हो तो नाम-रूप की वृद्धि ही नहीं हो सकती।

❀Mrs. Rhys Davids भव शब्द का अर्थ 'अस्तित्व' नहीं समझती हैं, वरं 'अस्तित्व की इच्छा' समझती हैं। (Buddhism पृ० ९१) उपर्युक्त प्रसंग में 'भव' का अर्थ 'अस्तित्व' निरर्थक प्रतीत होता है। अतः Mrs. Rhys Davids का अर्थ ही अधिक उपयुक्त है। सांख्य तथा अन्य भारतीय दर्शनों में 'भाव' का अर्थ होने की प्रवृत्ति है।

किन्तु गर्भावस्था में विज्ञान की सम्भावना तभी हो सकती है जब पूर्व जन्म के कुछ संस्कार रहें। अकस्मात् विज्ञान सम्भव नहीं हो सकता है। पूर्वजन्म की अन्तिम अवस्था में मनुष्य के पूर्ववर्त्ती सभी कर्मों का प्रभाव रहता है। कर्मों के अनुसार जो संस्कार बनते हैं उन्हीं के कारण विज्ञान सम्भव हो सकता है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे संस्कार ही क्यों बनते हैं? ऐसे संस्कारों का कारण यथार्थ ज्ञान का अभाव अर्थात् *अविद्या* है। यदि लौकिक जीवन की नश्वरता तथा दुःखमयता को हम अच्छी तरह समझें तो हम वैसा कर्म ही नहीं करेंगे जिससे हमें पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़े। अतः जन्म का मूल-कारण अविद्या है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि (१) दुःख का कारण (२) जाति है। जाति का कारण (३) भव है। भव का कारण (४)उपादान है। उपादान का कारण (५) तृष्णा है। तृष्णा का कारण (६) वेदना है। वेदना का कारण (७) स्पर्श है। स्पर्श का कारण (८) षडायतन है। षडायतन का कारण (६) नाम-रूप है। नाम-रूप का कारण (१०) विज्ञान है। विज्ञान का कारण (११) संस्कार है तथा संस्कार का कारण (१२) अविद्या है।

ऊपर की शृंखला में हम बारह कड़ियाँ पाते हैं। महात्मा बुद्ध के सभी उपदेशों में इन कड़ियों का क्रम या संख्या एक तरह से नहीं है। किन्तु उपर्युक्त विवरण प्रामाणिक माना जाता है। इस शृंखला के कई नाम हैं; जैसे द्वादश-निदान अथवा भाव-चक्र। बुद्ध के इस

भाव चक्र

उपदेश को अनेक बौद्ध चक्र घुमा-घुमा कर इन दिनों भी याद करते हैं। चक्र इसलिये घुमाते हैं कि उससे भाव-चक्र का संकेत होता है। माला जपने की तरह चक्र घुमाना भी कुछ बौद्धों के दैनिक पूजा-वंदन का एक अङ्ग हो गया है।

द्वादश निदान भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् जीवनों में व्याप्त है। वर्त्तमान जीवन का कारण अतीत जीवन है और वर्त्तमान जीवन का प्रभाव भविष्य जीवन पर पड़ता है। इसलिये तीनों की एक शृंखला है। द्वादश-निदान इस शृंखला में आरम्भ से अन्त तक व्याप्त है। सम्पूर्ण द्वादश-निदान को हम भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य जीवनों में निम्नोक्त ढंग से विभक्त कर सकते हैं :—

वर्त्तमान जीवन का कारण पूर्ववर्ती जीवन है और भविष्य जीवन का कारण वर्त्तमान जीवन है

(१) अविद्या
(२) संस्कार
} भूत जीवन

(३) विज्ञान
(४) नाम-रूप
(५) षडायतन
(६) स्पर्श
(७) वेदना
(८) तृष्णा
(९) उपादान
(१०) भव
} वर्त्तमान जीवन

(११) जाति
(१२) जरा-मरण
} भविष्य जीवन

इस विषय को समाप्त करने के पहले एक बात का जिक्र करना अप्रासंगिक नहीं होगा जो भारतीय दर्शन की, विशेषतः महात्मा-बुद्ध की, अपूर्व देन है। यह है शरीर की उत्पत्ति तथा वृद्धि ज्ञात या अज्ञात इच्छा के कारण होना। आधुनिक जीव-शास्त्रज्ञों के अनुसार जीवन का विकास निरुद्देश्य होता है। इसके लिये कोई प्रयोजन नहीं रहता। शरीर के किसी अंग-विशेष की उत्पत्ति भी (जैसे चक्षु, शृंग इत्यादि) बिना किसी

बुद्ध और बर्गसों

प्रयोजन के ही होता है। किन्तु फ्रांस के सुविख्यात दार्शनिक बर्गसों (Bergson) इस मत को नहीं मानते। उनके अनुसार किसी भी वस्तु का विकास अन्तर्निहित शक्ति की प्रेरणा से होता है। जड़-वादियों के अनुसार जीव की उत्पत्ति जड़-तत्त्वों के मेल से अकस्मात् हो जाती है। किन्तु बर्गसों के अनुसार प्राणियों की सृष्टि अन्तर्निहित प्रेरणा के कारण होती है। महात्मा बुद्ध ने बर्गसों के मत को प्राचीन काल में ही प्रतिपादित किया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस तरह बुद्ध ने यह बतलाया है कि भव अर्थात् जन्म लेने की प्रवृत्ति के कारण जन्म-ग्रहण होता है या विज्ञान के कारण गर्भावस्था में शरीर की वृद्धि होती है। यहाँ इस बात का भी उल्लेख किया जा सकता है कि बुद्ध तथा बर्गसों दोनों ही सत्ता को परिवर्त्तनशील मानते हैं।

(४) तृतीय आर्य-सत्य

(दुःख-निरोध या निर्वाण)

द्वितीय आर्य-सत्य से यह स्पष्ट है कि दुःख का कारण है। अतः दुःख के कारण का यदि अन्त हो जाय तो दुःख का अन्त भी अवश्यं-भावी है। दुःख-नाश या दुःख-निरोध की अवस्था का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। दुःख-निरोध को निर्वाण कहते हैं।

(३) दुःख का अन्त निर्वाण है

निर्वाण की प्राप्ति जीवन-काल में भी हो सकती है। राग-द्वेषों पर विजय पाकर, आर्य-सत्यों का निरंतर ध्यान करते हुए यदि कोई मनुष्य समाधि के द्वारा प्रज्ञा प्राप्त कर लेता है तो फिर उसे सांसारिक विषयों के लिये जरा भी आसक्ति नहीं रह जाती है। वह मानो अपने सांसारिक बन्धनों को तोड़ लेता है। इस तरह वह सर्वथा मुक्त हो जाता है। मोक्ष-प्राप्त व्यक्ति को अर्हत कहते हैं। अर्हत पूजनीय या आदरणीय व्यक्ति को कहते हैं। मोक्ष को निर्वाण

निर्वाण की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती है

कहते हैं। निर्वाण राग-द्वेष तथा तज्जन्य दुःख के नाश की अवस्था है।

निर्वाण का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है

निर्वाण अकर्मण्यता की अवस्था नहीं है, जैसा कि प्रायः लोग समझते हैं। यह सही है कि आर्य-सत्यों के सम्यक्-ज्ञान के लिये मन को वाह्य वस्तुओं से तथा आन्तरिक भावों से हटाना पड़ता है तथा आर्य-सत्यों पर केन्द्रीभूत कर उनका निरन्तर विचार एवं मनन करना पड़ता है। किन्तु एकबार अखंड समाधि के द्वारा जब स्थायी रूप से प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है तब निरंतर समाधि में मग्न रहने की आवश्यकता नहीं रहती। और न तो जीवन के कर्म्मों से विरत रहने की ही आवश्यकता रहती है। लोगों को यह मालूम है कि किस तरह महात्मा बुद्ध निर्वाण प्राप्त करने के बाद भी परिभ्रमण, धर्म-प्रचार, संघ-स्थापन आदि कार्य करते रहे। इस तरह हम देखते हैं कि स्वयं बौद्ध-धर्म के प्रवर्त्तक का जीवन निर्वाण के बाद भी बिलकुल कर्ममय रहा है।

बोधि-प्राप्ति के बाद भी बुद्ध सक्रिय थे

महात्मा बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते हैं। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है। दूसरे तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है। प्रथम प्रकार का कर्म हमारी विषयानुरक्ति की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारों को पैदा करता है जिनके कारण जन्म-ग्रहण करना ही पड़ता है। दूसरे प्रकार का कर्म अनासक्त भाव से तथा संसार को अनित्य समझकर किया जाता है जिससे पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रह जाती है। साधारण ढंग से यदि बीज का वपन किया जाय तो पौधे की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि बीज को भूंज लिया जाय तो उसके वपन से पौधे की उत्पत्ति नहीं हो सकती है *। उसी तरह राग, द्वेष तथा मोह से प्रेरित होकर कर्म करने से पुनर्जन्म हो जाता है। किन्तु

राग, द्वेष आदि के बिना कर्म करने से बंधन नहीं होता

* अंगुत्तर-निकाय (Warren) पृ० २१५

अनासक्त भाव से कर्म करने से जन्म-ग्रहण नहीं होता। अपने सम्बन्ध में महात्मा बुद्ध ने कहा था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद बिलकुल निष्क्रिय रहने की उनकी इच्छा हुई थी। यहाँ तक कि दूसरों को निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बतलाने के लिये भी उनकी इच्छा नहीं थी*। किन्तु दुःख से पीड़ित मानव के लिये उनके हृदय में दया का संचार हुआ और वे लोक-कल्याण के कार्य में लग गये। जिस नौका के द्वारा उन्होंने स्वयं दुःख-समुद्र को पार किया था उसको नष्ट कर देना उन्होंने उचित नहीं समझा, बल्कि उन्होंने उसे जन-साधारण के कल्याण में लगा दिया †।

इन बातों से स्पष्ट है कि निर्वाण प्राप्त करने पर अर्हत निष्क्रिय नहीं हो जाते हैं, वरं निर्वाण-प्राप्ति के बाद तो दूसरों के प्रति उनकी प्रीति और दया और भी बढ़ जाती है जिससे उनके उद्धार के लिये वे अपने ज्ञान का अधिकाधिक प्रचार करते हैं।

यदि स्वयं महात्मा बुद्ध का जीवन या सन्देश उपर्युक्त प्रकार का है तो यह विचार सर्वथा असंगत है कि निर्वाण का अर्थ जीवन का नष्ट होना है। 'निर्वाण' शब्द का अर्थ 'बुझा हुआ' है। यहाँ दीपक के बुझ जाने के साथ जीव के दुःखों के मिट जाने की तुलना की गई है। निर्वाण की इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुछ बौद्ध एवं अन्यान्य दार्शनिक निर्वाण को जीवन का अन्त समझते हैं।

निर्वाण का अर्थ जीवन-नाश नहीं, प्रत्युत दुःखों का अन्त होना है

लेकिन यह मत मान्य नहीं है। यदि निर्वाण का अर्थ जीवन-विनाश हो तो यह नहीं कहा जा सकता है कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण प्राप्त किया। ऐसी हालत में उनकी निर्वाण-प्राप्ति एक कहानी हो जाती है। किन्तु उनके अपने शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने निर्वाण की प्राप्ति की थी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि बुद्धदेव के अनुसार निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त है।

---

* मज्झिम-निकाय, २६ (Warren पृ० ३३९)

† मज्झिम-निकाय, (देखिये शीलाचार का अनुवाद पृ० [illegible])

निर्वाण से पुनर्जन्म तो बन्द हो जाता है और साथ-साथ दुःखों का भी अन्त हो जाता है ; किन्तु क्या इसका अर्थ यह होता है कि मृत्यु के बाद निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति का अस्तित्व ही नहीं रहता ? हम ऊपर देख चुके हैं कि महात्मा बुद्ध इस तरह के दश प्रश्नों की कोई चर्चा ही नहीं करते थे । उनके अनुसार ऐसे प्रश्नों का समाधान बिलकुल बेकार है । ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में वे मौन रहते थे । लेकिन उनके मौन-धारण का यह मतलब नहीं होता है कि मुक्तात्मा का मृत्यु के बाद कोई अस्तित्व ही नहीं रहता । उनके मौन का यह अर्थ हो सकता है कि निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था वर्णनातीत है* ।

निधन के बाद निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था के सम्बन्ध में यदि महात्मा बुद्ध ने कुछ कहा ही नहीं तो निर्वाण से कुछ लाभ है या नहीं—यह शंका उठ सकती है । लेकिन यह शंका निराधार है ।

निर्वाण के दो लाभ—(१) पुनर्जन्म और दुःखों का अन्त (२) जीवन-काल में ही शान्ति की प्राप्ति

निर्वाण से दो तरह के लाभ हैं । एक तो यह कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म और तज्जनित दुःख सम्भव नहीं है, क्योंकि जन्म-ग्रहण के लिये जो आवश्यक कारण हैं वे नष्ट हो जाते हैं । दूसरा लाभ यह है कि जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है उसका जीवन मृत्युपर्यन्त पूरी शान्ति के साथ बीतता है । निर्वाण के बाद जो शान्ति मिलती है उसकी तुलना सांसारिक सुखों के साथ नहीं हो सकती है । निर्वाण की अवस्था पूर्णतया शान्त, स्थिर तथा तृष्णाविहीन होती है । साधारण अनुभवों के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता । अ क से अधक हम इसके सम्बन्ध में यही सोच सकते हैं कि नि -प्राप्ति के बाद सभी मुक्ति मिल जाती है । दुःख-विना की अवस्था की कल्पना हम थोड़ा-बहुत कर सकते हैं क्योंकि

---

* Hibbert Journal (अप्रैल १९३४) में प्रोफेसर राधाकृष्णन का "The Teachings of Buddha by Speech and Silence" नामक लेख देखिये ।

रोग, ऋण, दासत्व, कारावास आदि दुःखों से मुक्ति का अनुभव जब तब हमें मिलता रहता है ॐ। पूर्ण निर्वाण प्राप्त करने के पहले भी वासनाओं के आंशिक नाश होने से ही निर्वाण के कुछ-कुछ लाभ मिल सकते हैं। राजा अजातशत्रु ने भगवान् बुद्ध से पूछा था कि श्रमण या संन्यासी होने से क्या लाभ है ? इसके उत्तर में उन्होंने बताया था कि थोड़ी भी अविद्या और वासना के नष्ट होने के साथ ही उनके लाभ शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि शौच, प्रेम, आत्म-संयम, साहस, मन की स्थिरता और निर्विकार भाव सद्यः अनुभूत होने लगते हैं। इस तरह आवश्यक गुणों का संचय कर संन्यासी निर्वाण की ओर अग्रसर होता है और अन्त में निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

नागसेन एक विख्यात बौद्ध धर्मोपदेशक थे। ग्रीस के राजा मिलिन्द (मिनैन्डर) नागसेन के शिष्य हुए थे। नागसेन ने उपमाओं की सहायता से राजा मिलिन्द को निर्वाण का अवर्ण्य स्वरूप बतलाने की चेष्टा की थी। नागसेन ने कहा था कि निर्वाण समुद्र की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा तथा मधु की तरह मधुर है, इत्यादि इत्यादि †। किन्तु नागसेन ने यह भी कहा था कि जिनको निर्वाण का कोई भी अनुभव नहीं है उन्हें इन उपमाओं के द्वारा निर्वाण की कुछ भी धारणा नहीं हो सकती है। अन्धे को रंग का ज्ञान कराने के लिये युक्ति तथा उपमा से कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती है।

निर्वाण वर्णनातीत है

(५) चतुर्थ आर्य-सत्य

(दुःख-निरोध-मार्ग)

चतुर्थ आर्य-सत्य यह है कि निर्वाण-प्राप्ति के लिये एक मार्ग है। इसका अनुसरण करके बुद्ध ने निर्वाण या दुःखातीत अवस्था को प्राप्त किया था और जिसका अनुसरण और लोग भी कर सकते हैं। जिन कारणों के द्वारा दुःखों की उत्पत्ति होती है उनको नाश करने का उपाय ही निर्वाण का मार्ग है।

दुःख-निरोध का मार्ग है। उसके आठ अंग हैं

ॐ सामञ्ञफल-सुत्त, Dialouges I पृ० ८४। † मिलिन्द-पन्ह।

बुद्ध ने निर्वाण-प्राप्ति के लिये जिस मार्ग को लोगों के सामने रक्खा उसके आठ अंग हैं। इसलिये इसे अष्टाङ्गमार्ग * कहते हैं। यही बौद्ध-धर्म का सार है। यह गृहस्थ और संन्यासी सभी के लिये है †। इस मार्ग के निम्नलिखित आठ अंग हैं:—

(१) सम्यक्-दृष्टि (सम्मादिट्ठि)—अविद्या के कारण आत्मा तथा संसार के सम्बन्ध में मिथ्या-दृष्टि की उत्पत्ति होती है। हम ऊपर देख चुके हैं कि अविद्या ही हमारे दुःखों का मूल कारण है। अतः नैतिक सुधार के लिये सबसे पहले हमें सम्यक्-दृष्टि प्राप्त करनी चाहिये। सम्यक्-दृष्टि अर्थात् चार आर्य-सत्यों के ज्ञान से जीवन का सुधार हो सकता है और निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है। बुद्ध के अनुसार आत्मा, जगत् इत्यादि का केवल दार्शनिक विचार करने से निर्वाण नहीं मिल सकता है।

सम्यक्-दृष्टि

(२) सम्यक्-संकल्प (सम्मासंकल्प)—आर्य-सत्यों के ज्ञान मात्र से कोई लाभ नहीं हो सकता जब तक उनके अनुसार जीवन बिताने का संकल्प या दृढ़ इच्छा नहीं की जाय। जो निर्वाण चाहते हैं उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति, दूसरों के प्रति विद्वेष और हिंसा—इन तीनों को परित्याग करने का संकल्प करना चाहिये। इन्हीं का नाम सम्यक्-संकल्प है।

सम्यक्-संकल्प

(३) सम्यक्-वाक् (सम्मावाचा)—सम्यक्-संकल्प केवल मानसिक नहीं होना चाहिये। वरं उसे कार्यरूप में परिणत भी होना चाहिये। सम्यक्-संकल्प के द्वारा सबसे पहले हमारे वचन का नियन्त्रण होना चाहिये। अर्थात् हमें मिथ्यावादिता, निन्दा, अप्रिय वचन, तथा वाचालता से बचना चाहिये।

सम्यक्-वाक्

* इसका विशद वर्णन दीघ-निकाय-सुत्त २२ (Warren पृ० ३७२-७४) तथा मज्झिम-निकाय (Sogen Systems पृ० १६६-७१) में दिया गया है।

† Rhys Davids का Dialogues I पृ० ६२-६३ देखिये।

(४) सम्यक्-कर्मान्त (सम्माकम्मन्त)—सम्यक्-संकल्प को केवल वचन में ही नहीं बल्कि कर्म में भी परिणत करना चाहिये। अहिंसा, अस्तेय तथा इन्द्रिय-संयम ही सम्यक्-कर्मान्त है।

सम्यक्-कर्मान्त

(५) सम्यगाजीव (सम्मा-आजीव)—बुरे वचन तथा बुरे कर्म के परित्याग के साथ-साथ मनुष्य को उचित उपाय से जीविकोपार्जन करना चाहिये। जीविका-निर्वाह के लिये उचित मार्ग का अनुसरण और निषिद्ध उपाय का वर्जन करके अपने सम्यक्-संकल्प को सुदृढ़ करना चाहिये।

सम्यगाजीव

(६) सम्यक्-व्यायाम (सम्माव्यायाम)—सम्यक्-दृष्टि, सम्यक्-संकल्प, सम्यक्-वचन, सम्यक्-कर्म, सम्यक्-जीविका के अनुसार चलने पर भी यह सम्भव है कि हम पुराने दृढ़मूल कुसंस्कारों के कारण उचित मार्ग से स्खलित हो जाँय और हमारे मन में नये-नये बुरे भावों की उत्पत्ति हो। अतः इस बात का निरंतर प्रयत्न करना भी आवश्यक है कि (१) पुराने बुरे भावों का पूरी तरह नाश हो जाय और (२) नये बुरे भाव भी मन में न आवें। चूंकि मन कभी विचारों से खाली नहीं रह सकता है इसलिये (३) मन को बराबर अच्छे-अच्छे विचारों से पूर्ण रखना आवश्यक है और (४) इन विचारों को मन में धारण करने के लिये सतत चेष्टा करते रहना भी आवश्यक है। इन चार प्रकार के प्रयत्नों को सम्यक्-व्यायाम कहते हैं। सम्यक्-व्यायाम से इस बात का बोध होता है कि धर्म-मार्ग में बहुत आगे बढ़े हुए व्यक्ति भी अपने प्रयत्न को ढीला नहीं कर सकते हैं। अन्यथा धर्म-मार्ग से स्खलन की सदा संभावना रहती है।

सम्यक्-व्यायाम

(७) सम्यक्-स्मृति (सम्मासति)—इस मार्ग में चलने के लिये बराबर सतर्क रहने की आवश्यकता है। जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त हो चुका हो उन्हें बराबर स्मरण करते रहना चाहिये। जैसे शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को

सम्यक्-स्मृति

चित्त और मानसिक अवस्था को मानसिक अवस्था के रूप में ही चिंतन करते रहना आवश्यक है। इनमें से किसी के सम्बन्ध में यह नहीं समझना चाहिये कि 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है'। इस उपदेश के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसमें कोई नवीनता नहीं है। किसी वस्तु को उसके यथार्थ रूप में आँकना तो बिलकुल स्वाभाविक है। शरीर को सभी शरीर ही समझते और चित्त को सभी चित्त ही समझते हैं। किन्तु यदि हम विचार कर देखें तो हमें मालूम होगा कि किसी भी विषय को उसके यथार्थ रूप में देखना आसान नहीं है। शरीर को शरीर मात्र समझना एक दुस्तर कार्य है क्योंकि शरीर के सम्बन्ध में अनेक मिथ्या विचार हमारे मन में गड़ गये हैं। फल यह हुआ है कि इन मिथ्या विचारों के अनुसार चलना हमारा स्वभाव सा हो गया है। हम स्वभावतः शरीर, चित्त, वेदना तथा मानसिक अवस्था को नित्य और सुखजनक समझते हैं। इसलिये इनके प्रति हमारी आसक्ति बढ़ती है और इनके नष्ट होने पर हमें कष्ट होता है। इस तरह हम बन्धन में पड़ जाते हैं और फलस्वरूप हमें दुःख भोगना पड़ता है। किन्तु यदि हम इन वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में ग्रहण करें, अर्थात् यदि हम उन्हें अनित्य और दुःख-जनक समझें तो उनमें हमारी आसक्ति नहीं हो सकती और उनके नष्ट होने पर हमें कोई दुःख नहीं हो सकता। सम्यक्-स्मृति की यही आवश्यकता है।

दीघ-निकाय में (सुत्त २२) सम्यक्-स्मृति के अभ्यास के लिये बुद्ध ने विस्तृत उपदेश दिया है। शरीर के सम्बन्ध में उन्होंने बतलाया है कि शरीर को क्षिति, जल, अग्नि तथा वायु का बना हुआ समझना चाहिये। यह बराबर स्मरण रखना चाहिये कि यह मांस, हड्डी, त्वचा, अँतड़ी, विष्ठा, पित्त, कफ, लहू, पीव, आदि हेय वस्तुओं से भरा रहता है। हम श्मशान में देख सकते हैं कि यह किस तरह सड़ता है, नष्ट होता है, कुत्तों तथा गिद्धों का खाद्य बनता है और अन्त में किस तरह भूतों में ही मिल जाता है। इन बातों का सतत स्मरण करने से शरीर का वास्तविक रूप समझा जा सकता है।

कितना हेय, कितना नश्वर तथा कितना क्षणिक ! ऐसा व्यक्ति अपने तथा दूसरों के शरीर के लिये कोई अनुराग नहीं रखता। इसी तरह अपनी वेदना, चित्त और हानिकारक मनोवृत्तियों के प्रति भी कोई अनुराग नहीं रखता। उनसे पूर्णतः अनासक्त हो जाता है और तज्जनित दुःखों का भागी नहीं बनता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इन चार सम्यक्-स्मृतियों के कारण मनुष्य सभी विषयों से विरक्त हो जाता है और सांसारिक बन्धनों में नहीं पड़ता।

सम्यक्-समाधि

(८) सम्यक्-समाधि (सम्मासमाधि)—उपर्युक्त सात नियमों के अनुसार चल कर जो मनुष्य अपनी बुरी चित्त-वृत्तियों को दूर कर लेता है वह सम्यक्-समाधि की चार स्थितियों में प्रविष्ट होने के योग्य हो जाता है और उनको क्रमशः पार कर निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है।

सम्यक्-समाधि की प्रथम अवस्था

वह शान्त चित्त से आर्य-सत्यों का वितर्क तथा विचार कर सकता है। विरक्ति तथा शुद्ध विचार के कारण वह अपूर्व आनन्द तथा शान्ति का अनुभव करता है। सम्यक्-समाधि या ध्यान की यह प्रथम अवस्था है।

दूसरी अवस्था

यह अवस्था प्राप्त हो जाने से सभी प्रकार के संदेह दूर हो जाते हैं; आर्य-सत्यों के प्रति श्रद्धा बढ़ती है और तब वितर्क तथा विचार अनावश्यक हो जाते हैं। तब समाधि की दूसरी अवस्था शुरू होती है। इस अवस्था में प्रगाढ़ चिन्तन के कारण शान्ति तथा चित्तस्थिरता का उदय होता है। इस अवस्था में आनन्द तथा शान्ति का ज्ञान भी साथ-साथ रहता है।

तीसरी अवस्था

ध्यान की तीसरी अवस्था में इस आनन्द और शान्ति से भी मन को हटा कर एक उपेक्षा-भाव को लाने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रयत्न से चित्त की साम्य अवस्था और उसके साथ-साथ दैहिक विश्राम का भाव भी आ जाता है। इन दोनों का बोध तो रहता है किन्तु समाधि के आनन्द के प्रति उदासीनता आ जाती है।

चौथी अवस्था

ध्यान की चौथी अवस्था में चित्त की साम्य अवस्था, दैहिक विश्राम एवं ध्यान के आनन्द, किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। यह अवस्था पूर्ण-शान्ति, पूर्ण-विराग तथा पूर्ण-संयम की है। यह सुख और दुःख से रहित है। इस प्रकार दुःखों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अर्हत्त्व या निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। यह पूर्ण प्रज्ञा तथा पूर्ण शील की अवस्था है।

प्रज्ञा, शील और समाधि

अष्टाङ्गिक-मार्ग अर्थात् बुद्ध के धर्मोपदेशों का यही सार है। प्रज्ञा शील, समाधि— ये इस मार्ग के तीन प्रधान अंग हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार प्रज्ञा और सदाचार में अच्छेद्य सम्बन्ध है। यह तो सभी दार्शनिक मानते हैं कि बिना यथार्थ ज्ञान के सदाचार नहीं हो सकता है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि ज्ञान की पूर्णता के लिये भी सदाचार, और राग-द्वेष का संयम अत्यन्त आवश्यक है।

बुद्ध अपने उपदेशों में बतलाते थे कि प्रज्ञा और शील एक दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। वे एक दूसरे को पुष्ट करते हैं *। अष्टाङ्गिक-मार्ग की पहली सीढ़ी सम्यग्दृष्टि है। इन चार आर्य-सत्यों में केवल कोरा ज्ञान ही रहता है। मिथ्या विचार और तज्जनित बुरी मनोवृत्तियाँ मन में रह ही जाती हैं। विचार, बचन तथा कर्म के पुराने संस्कार भी रह जाते हैं। परिणाम यह होता है कि मनमें एक अन्तर्द्वन्द्व खड़ा हो उठता है। एक ओर पहले की कुत्सित मनोवृत्तियाँ रहती हैं और दूसरी ओर आर्य-सत्यों का ज्ञान। इस मानसिक विरोध का निराकरण अपने कल्याण के लिये आवश्यक हो जाता है। सम्यक्-संकल्प से सम्यक्-समाधि तक जो सात नियम अष्टाङ्गिक-मार्ग में बतलाये गये हैं उनके निरन्तर अभ्यास से इस द्वन्द्व का अन्त हो सकता है। आर्य-सत्यों के अनवरत चिन्तन से, उनके अनुसार इच्छाओं तथा भावनाओं के नियन्त्रण से, दृढ़-संकल्प तथा तृष्णा-रहित आचरण से एक शुद्ध अवस्था उत्पन्न होती है।

---

* सोणदण्ड-सुत्त (पोट्ठपाद-सुत्त पृ० १२६)

विचार, प्रेरणा तथा भावना में शिष्टता आ जाती है और आर्य-सत्यों के ज्ञान के प्रकाश में वे परिशुद्ध हो जाती हैं। सम्यक्-समाधि की अन्तिम अवस्था सभी बाधाओं के दूर होने पर ही संभव हो सकती है। अखंड समाधि से प्रज्ञा का उदय होता है और जीवन का रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। अविद्या और तृष्णा का मूलोच्छेदन हो जाता है जिससे दुःख का मूल-कारण ही नष्ट हो जाता है। निर्वाण-प्राप्ति के साथ ही पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण शील, और पूर्ण शान्ति का उदय हो जाता है।

मैथिउ बैसेनडाईन (Mathew Bassendine)† ने कहा है कि जिस तरह सौन्दर्य स्वास्थ्य पर निर्भर है उसी तरह सदाचार भी ज्ञान पर निर्भर है।

बुद्ध के अनुसार निर्वाण में शील, प्रज्ञा तथा शान्ति सभी वर्त्तमान हैं। निर्वाण की अवस्था में वे अविच्छेद्य रूप से वर्त्तमान रहते हैं।

(६) बुद्ध के उपदेशों के अन्तर्गत दार्शनिक विचार

बुद्ध के उपदेशों में आत्मा और जगत्-सम्बन्धी जो कुछ विचार हैं उनका यहाँ संक्षेप में उल्लेख किया जाता है। इनमें से कुछ का विवेचन स्वयं बुद्ध ने किया था। यहाँ हम उन दार्शनिक विचारों का उल्लेख करेंगे जिनपर उनके धर्मोपदेश अवलम्बित हैं। ऐसे चार विचार हैं :—(१) प्रतीत्यसमुत्पाद, (२) कर्म (३) क्षणिकवाद और (४) आत्मा का अनस्तित्व।

(क) प्रतीत्यसमुत्पाद

भौतिक तथा आध्यात्मिक जितनी भी घटनाएँ होती हैं सबों के लिये कुछ न कुछ कारण अवश्य रहता है। किसी कारण के बिना किसी भी घटना का आविर्भाव नहीं हो सकता। इस नियम को बौद्ध-दर्शन में धम्र्म या धम्म कहते हैं। यह धर्म किसी चेतन शक्ति के द्वारा परिचालित नहीं होता। वरं यह स्वयं चालित होता है। कारण के उपस्थित होने

सभी वस्तुओं के कारण हैं

† Rhys Davids, Dialouges I पृ० १३७

पर कार्यकी उत्पत्ति आप से आप हो जाती है। कोई भी वस्तु स्वयं-भूत नहीं होती। वह किसी पूर्व घटना अर्थात् किसी कारण पर निर्भर करती है। अकस्मात् किसी का प्रादुर्भाव नहीं होता। इस नियम को संस्कृत में प्रतीत्यसमुत्पाद तथा पाली में पतिच्चसमुप्पाद कहते हैं।* इस धर्म के अनुसार हम दो मतों से बच सकते हैं। पहला है शाश्वत

शाश्वतवाद और उच्छेदवाद

वाद। शाश्वतवाद के अनुसार कुछ वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका न आदि है न अन्त। इनका कोई कारण नहीं है। ये अन्य किसी वस्तु पर अवलम्बित नहीं हैं। दूसरा है उच्छेदवाद। इस मत के अनुसार वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। बुद्ध इन दोनों ऐकान्तिक मतों को छोड़कर मध्यमार्ग का अनुसरण करते हैं†। उनका कहना है कि वस्तुओं के अस्तित्व में कोई संदेह नहीं। किन्तु वे नित्य नहीं हैं। उनकी उत्पत्ति अन्य वस्तुओं से होती है। किन्तु साथ-साथ वे यह भी कहते हैं कि वस्तुओं का पूर्ण विनाश नहीं होता है, बल्कि उनका कुछ कार्य या परिणाम अवश्य रह जाता है। अतः न तो पूर्ण नित्यवाद है न पूर्ण विनाशवाद ही। दोनों ही मत ऐकान्तिक हैं।

ये दोनों ऐकान्तिक और अत्यन्त विरुद्ध मत हैं

प्रतीत्यसमुत्पाद को बुद्ध इतना महत्त्वपूर्ण मानते थे कि उन्होंने इसी का नाम दिया धम्म (धर्म)। उन्होंने कहा—"आदि और अन्त का विचार निरर्थक है। मैं धम्म का उपदेश देना चाहता हूँ। 'ऐसा होने पर ऐसा होता है।' 'इसके आगमन से इसकी उत्पत्ति होती है।' 'इसके न रहने से यह नहीं होता।' जो पतिच्चसमुप्पाद को समझता है वह धम्म को समझता है और जो धम्म को समझता है वह पतिच्चसमुप्पाद को भी समझता है।" धम्म की तुलना एक

---

* विशुद्धि-मग्ग, सत्रहवाँ अध्याय, (Warren पृ० १६८) प्रतीत्य= (किसी वस्तु के उपस्थित होने पर) समुत्पाद=किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति ।

† संयुत्त-निकाय (२२) (Warren, १६९)

सोपान से की गई है। इस पर चढ़कर कोई भी मनुष्य बुद्ध की दृष्टि से संसार को देख सकता है ※। हमारे दुःखों का कारण यह है कि हम सांसारिक विषयों को बुद्ध की दृष्टि से नहीं देख सकते †। रिज़ डेभिड्स (Rhys Davids) के कथनानुसार पश्चात् काल के बौद्ध-धर्म में प्रतीत्यसमुत्पाद के प्रति कुछ अनादर आ गया था। किन्तु बुद्ध स्वयं इसे अत्यन्त आवश्यक समझते थे। हम ऊपर देख चुके हैं कि किस तरह इस नियम की सहायता से दुःख के कारण और उसके निरोध-सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान किया गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद के और क्या-क्या प्रभाव बौद्ध-दर्शन पर पड़े हैं उनका उल्लेख आगे किया जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को नहीं समझने से दुःखों की उत्पत्ति होती है

(ख) कर्म

प्रतीत्यसमुत्पाद से कर्मवाद की स्थापना होती है क्योंकि इसके अनुसार मनुष्य का वर्त्तमान जीवन उसकी एक पूर्ववर्त्ती अवस्था का परिणाम समझा जा सकता है। कर्मवाद का भी यही सिद्धान्त है। वर्त्तमान जीवन पूर्ववर्त्ती जीवन के कर्मों का ही फल है। साथ-साथ वर्त्तमान जीवन का भविष्य-जीवन के साथ भी वही सम्बन्ध है जो पूर्ववर्त्ती जीवन का वर्त्तमान जीवन से है। वर्त्तमान जीवन के कारण ही भविष्य जीवन की उत्पत्ति होती है। कर्मवाद के अनुसार भी वर्त्तमान जीवन के कर्मों का फल भविष्य में मिलता है। दुःख के कारणों का वर्णन करते हुए हम कर्म-फल के सम्बन्ध में पूरा विचार कर चुके हैं। कर्मवाद प्रतीत्यसमुत्पाद का ही एक विशेष रूप है।

प्रतीत्यसमुत्पाद और कर्म

(ग) क्षणिकवाद

प्रतीत्यसमुत्पाद से सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता भी प्रमाणित

※ Dialogues II (पृ० ४४)

† महानिदान-सुत्त (Warren पृ० २०३)

होती है। बुद्ध बराबर कहा करते थे कि सभी वस्तुएं परिवर्त्तनशील तथा नाशवान् हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार किसी भी वस्तु की उत्पत्ति किसी कारण से होती है। अतः कारण के नष्ट होने पर उस वस्तु का नाश हो जाता है। जिसका आदि है उसका अन्त भी है। बुद्ध कहते हैं—"जितनी वस्तुएं हैं सबों की उत्पत्ति कारणानुसार हुई है। ये सभी वस्तुएं सब तरह से अनित्य हैं"❀। जो नित्य तथा स्थायी मालूम पड़ता है वह भी विनाशी है। जो महान् मालूम पड़ता है उसका भी पतन है। जहाँ संयोग है वहाँ वियोग भी है। जहाँ जन्म है वहाँ मरण भी है।

सभी वस्तुएं अनित्य हैं

जीवन की तथा सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता के सम्बन्ध में कवियों तथा दार्शनिकों ने अनेक वर्णन किये हैं। बुद्ध ने इस विचार को अनित्यवाद के रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुयायियों ने अनित्यवाद को क्षणिकवाद का रूप दिया है। क्षणिकवाद का अर्थ केवल यह नहीं है कि कोई वस्तु नित्य या शाश्वत नहीं है, किन्तु इसके उपरान्त इसका अर्थ यह भी है कि किसी भी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक भी नहीं रहता, बल्कि एक ही क्षण के लिये रहता है। पीछे चलकर बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद के समर्थन में अनेक युक्तियाँ भी दी हैं। इनमें एक का उल्लेख यहाँ किया जाता है। किसी वस्तु की सत्ता का लक्षण है उसका अर्थ-क्रिया-कारित्व अर्थात् किसी कार्य के उत्पन्न करने की शक्ति। *अर्थ-क्रिया-कारित्व-लक्षणं सत्।* शश-शृंग की तरह जो बिलकुल असत् है उससे कोई कार्य नहीं निकल सकता। यदि सत्ता का यही लक्षण हो तो इससे सिद्ध किया जा सकता है कि सत्ता क्षणिक है। एक बीज का दृष्टान्त लीजिये। अगर यह बीज क्षणिक नहीं है अर्थात् एक से अधिक क्षणों तक स्थायी रहता है तो इसे प्रत्येक क्षण में कार्योत्पादन की शक्ति अवश्य रहनी चाहिये। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि किसी वस्तु की सत्ता

अनित्यवाद का क्षणिकवाद में रूपांतर

रहे किन्तु उसमें कार्योत्पादन की शक्ति न हो। अतः सत्ता के लिये क्रिया-कारित्व आवश्यक है। अब प्रश्न यह उठता है कि बीज यदि कई क्षणों तक अपरिवर्त्तित और एक ही रहता है तो प्रत्येक क्षण में उससे एक ही कार्य होना चाहिये। किन्तु यह सब को विदित है कि किसी वस्तु से प्रत्येक क्षण में एक ही परिणाम नहीं निकलता। बीज जब बोरे में बन्द रहता है तो उससे पौधे की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु वही जब जमीन में बोया जाता है तो उससे पौधा निकल आता है। इसके विपक्ष में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बीज वस्तुतः प्रत्येक क्षण एक ही कार्य उत्पन्न नहीं करता है तथापि उत्पन्न करने की शक्ति सदा उसमें रहती है और जब मिट्टी, जल आदि सहकारी कारण उपस्थित होते हैं तभी वह शक्ति कार्य को उत्पन्न करती है। अतः बीज सदैव एक है यह कहा जा सकता है। किन्तु यह युक्ति बहुत ही कमजोर है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि बीज के पूर्वरूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी, जल आदि का संयोग नहीं रहता, पौधे की उत्पत्ति नहीं होती है। उसके पररूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी, जल आदि से कुछ परिवर्त्तन आता है तभी उससे पौधे की उत्पत्ति होती है। अतः बीज दोनों अवस्थाओं में एक सा नहीं रहता वरं वह परिवर्त्तित हो जाता है। परिवर्त्तनशीलता केवल बीज के लिए लागू नहीं है। संसार की सभी वस्तुएँ प्रतिक्षण बदलती रहती हैं क्योंकि किसी भी वस्तु से प्रतिक्षण एक ही प्रकार के परिणाम की सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु की सत्ता क्षण ही भर रहती है। इसी को क्षणिकवाद कहते हैं।

(घ) आत्मा का अनस्तित्व

संसार परिवर्त्तनशील है। मनुष्य, मनुष्येतर जीव या अन्य कोई भी वस्तु परिवर्त्तन से रहित नहीं है। लोगों में एक धारणा है कि मनुष्य के अन्तर्गत आत्मा नाम की एक चिरस्थायी वस्तु है। शरीर के

परिवर्त्तन होते रहने पर भी आत्मा सब दिन कायम रहता है। उसकी सत्ता जन्म के पूर्व तथा मृत्यु के बाद भी कायम रहती है। एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर में भी इसका प्रवेश होता है। किन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद तथा परिवर्त्तनवाद के कारण बुद्ध आत्मा की नित्यता को नहीं मानते हैं। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि बुद्ध आत्मा की नित्यता को नहीं मानते थे तो फिर पुनर्जन्म में उनका विश्वास कैसे हो सकता था? वह यह भी कैसे कह सकते थे कि बचपन, जवानी तथा बुढ़ापे में एक ही व्यक्ति कायम रहता है? किन्तु स्थिर आत्मा का अस्तित्व अस्वीकार करते हुए भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न क्रमिक और अव्यवहित अवस्थाओं का एक प्रवाह या सन्तान है। विभिन्न अवस्थाओं की सन्तति को ही जीवन कहते हैं। इस सन्तति के अन्दर किसी अवस्था की उत्पत्ति उसकी पूर्ववर्त्ती अवस्था से होती है। इसी तरह वर्त्तमान अवस्था आगामी अवस्था को उत्पन्न करती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण-कार्य का सम्बन्ध रहता है। इसलिये सम्पूर्ण जीवन एकमय मालूम पड़ता है। जीवन की एकसूत्रता को रात भर बलते दीपक के द्वारा समझा जा सकता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर होती है। क्षण-क्षण में दीपक की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। अतः प्रतिक्षण ज्योति भी भिन्न-भिन्न होती है। लेकिन ज्योतियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी वे बिलकुल अविच्छिन्न मालूम पड़ती हैं। पुनर्जन्म-सम्बन्धी पूर्वोक्त कठिनाई को दूर करने के लिए भी हम दीपक के दृष्टान्त को सामने रख सकते हैं। एक ज्योति से दूसरी ज्योति को प्रकाशित किया जा सकता है। किन्तु दोनों ज्योतियाँ एक नहीं समझी जा सकतीं। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे से पृथक् है। उनमें केवल कारण-कार्य का सम्बन्ध है। इसी तरह वर्त्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति हो सकती है। किन्तु

आत्मा नित्य नहीं है।

दोनों दो पृथक् जीवन होंगे। इस तरह पुनर्जन्म सर्वथा सम्भव है। हाँ, पुनर्जन्म का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा नित्य है और एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका प्रवेश हो सकता है। बौद्ध दर्शन में आत्मा से किसी स्थायी द्रव्य का बोध नहीं होता वरं विलियम जेम्स (William James) के मत की तरह, विज्ञान-प्रवाह का बोध होता है। वर्त्तमान मानसिक अवस्था का कारण पूर्ववर्त्ती मानसिक अवस्था है इसलिये पूर्ववर्त्ती अवस्था का प्रभाव वर्त्तमान अवस्था पर अवश्य पड़ता है। इस तरह विना आत्मा में विश्वास किये ही हम स्मृति का उपपादन कर सकते हैं। यह अनात्मवाद (अनत्तावाद) बुद्ध के उपदेशों को समझने के लिये बहुत उपयोगी है। बुद्ध बराबर अपने शिष्यों से यह आग्रह करते थे कि वे आत्मा-सम्बन्धी मिथ्या विचारों का परित्याग करें। जो आत्मा का यथार्थ रूप नहीं समझते हैं उन्हीं को इसके सम्बन्ध में भ्रान्त विचार रहता है। ऐसे व्यक्ति आत्मा को सत्य मानकर उससे आसक्त होते हैं। उनकी आकांक्षा रहती है कि मोक्ष प्राप्त कर आत्मा को सुखी बनावें। बुद्ध कहते हैं कि किसी अदृष्ट, अश्रुत तथा कल्पित रमणी से प्रेम रखना जैसा हास्यास्पद है वैसा ही अदृष्ट और अप्रमाणित आत्मा से प्रेम रखना भी हास्यास्पद है। आत्मा के प्रति अनुराग रखना मानो एक ऐसे प्रासाद पर चढ़ने के लिये सीढ़ी तैयार करना है जिस प्रासाद को किसी ने कभी देखा तक नहीं है।

आत्मा विज्ञान का प्रवाह है

आत्मा को नित्य समझने के कारण आसक्ति बढ़ती और दुःख उत्पन्न होता है

मनुष्य केवल एक परंपरागत नाम है। जिस तरह चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं, उसी तरह काय, चित्त तथा विज्ञान के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। जब तक इनकी समष्टि कायम रहती है तभी तक मनुष्य का अस्तित्व रहता और जब यह नष्ट हो जाती है तब मनुष्य का भी अन्त हो जाता है।

काय, चित्त और विज्ञान के संघात को मनुष्य कहते हैं

इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है। मनो-वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य, जैसा वह बाहर तथा भीतर से दृष्टि-गोचर होता है, पाँच प्रकार के परिवर्त्तनशील तत्त्वों का एक संग्रह है। इसे पञ्चस्कंध कहते हैं। पहला स्कंध है रूप। मनुष्य के शरीर के जो आकार, रंग आदि हैं वे सब रूप के अन्तर्गत हैं। दूसरा स्कन्ध वेदनाओं का है। सुख, दुःख तथा विषाद के बोध इसके अन्तर्गत हैं। तीसरा स्कंध संज्ञा का है जिसके द्वारा किसी वस्तु का प्रत्यक्ष होता है। चौथे में संस्कार आते हैं। पूर्व कर्मों के कारण जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें ही संस्कार कहते हैं। पाँचवाँ है विज्ञान (Consiousness) या चेतना।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य पाँच स्कंधों का संयोग है--जिसे पंच-स्कंध कहते हैं

अपने उपदेशों का सार बताते हुए भगवान् बुद्ध ने स्वयं कहा था कि—"मैं बराबर दो ही मुख्य उपदेश देता आया हूँ—दुःख और दुःख-निरोध।" इसी के आधार पर रिज डेविडस् (Rhys Davids) का कहना है कि प्रतीत्यसमुत्पाद * तथा अष्टाङ्गिक-मार्ग में ही प्राचीन बौद्ध-धर्म का सार निहित है। महात्मा बुद्ध भी प्रतीत्यसमुत्पाद को ही धर्म मानते थे। यहाँ तक कि उन्होंने इसका दूसरा नाम 'धम्म' ही रक्खा था। यथार्थतः बुद्ध के उपदेशों का यही सारांश है।

बुद्ध के उपदेशों का सार

३. बौद्ध-दर्शन के सम्प्रदाय

दर्शन के इतिहास से पता चलता है कि जहाँ युक्तियों के द्वारा दर्शन की व्यर्थता प्रमाणित करने की कोशिश की गई है वहीं पर

---

* प्रतीत्यसमुत्पाद से जगत् के स्वरूप तथा दुःख के कारण की भी उपपत्ति होती है। यहाँ प्रतीत्यसमुत्पाद से इन दोनों ही को समझना चाहिये।

दार्शनिक मत की सृष्टि हो गई है। हम ऊपर देख चुके हैं कि शुष्क दार्शनिक विवादों के प्रति बुद्ध का कोई आग्रह नहीं था। किन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों से यह भी नहीं कहा कि हम बिना विचारे या बिना समझे किसी कर्त्तव्य का अनुसरण करें। वे तो पूर्ण युक्तिवादी थे। वे अन्धविश्वास को प्रश्रय नहीं देना चाहते थे। वे मानव जीवन के मूल तत्त्वों का अन्वेषण करना चाहते थे। उन्होंने जिस नीति का अनुसरण किया या जिसकी शिक्षा लोगों को दी, उसका समर्थन वे ठोस युक्तियों के साथ करते थे। इसलिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि यद्यपि वे स्वयं अनेक दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा करने से विरत रहते थे तथापि उनके विचारों तथा उपदेशों में एक नया दार्शनिक मत का बीज वर्त्तमान था। स्वयं सब दार्शनिक प्रश्नों की चर्चा नहीं करने के कारण उनका मत सर्वथा स्पष्ट नहीं है। उनके दार्शनिक मत को एक दृष्टि से तो ऐहिकवाद (Positivism) कहा

दार्शनिक प्रश्नों से बुद्ध की उदासीनता से कई प्रकार के दार्शनिक मतों की उत्पत्ति

जा सकता है क्योंकि उनका उपदेश यह था कि हमें इस लोक की तथा इस जीवन की उन्नति की ही चिन्ता करनी चाहिये। अन्य दृष्टि से इसे प्रतीतिवाद (Phenomenalism) कह सकते हैं क्योंकि बुद्ध के उपदेशानुसार हमें केवल उन्हीं विषयों का निश्चित ज्ञान मिलता है जिनकी प्रत्यक्ष-प्रतीति होती है। अतः विचार-विधि की दृष्टि से इसे अनुभववाद (Empiricism) भी कहा जा सकता है क्योंकि इसके अनुसार इन्द्रिय-अनुभव ही प्रमाण है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के दार्शनिक विचारों में विभिन्न प्रकार की धाराएं थीं।

बुद्ध के उपदेशों में ऐहिकवाद प्रतीतिवाद और अनुभाववाद

बौद्ध-धर्म का जब भारतवर्ष में तथा अन्य देशों में प्रचार हुआ तो सभी जगह इसकी कठोर आलोचनाएं हुईं। इसलिये बौद्ध प्रचारकों ने अपने धर्म की रक्षा के लिये तथा दूसरों को अपने धर्म

दार्शनिक प्रश्नों का .. बुद्ध ... संशयवादी कहे जाते

के प्रति आकृष्ट करने के लिये विभिन्न दिशाओं में बुद्ध के मतों का परिवर्द्धन और परिपोषण करना आवश्यक समझा। हम देख चुके हैं कि बुद्ध दश दार्शनिक प्रश्नों का समाधान नहीं करना चाहते थे और इस तरह के प्रश्न पूछे जाने पर वे मौन हो जाते थे। अनुयायियों ने उनके इस मौन की विभिन्न प्रकार से व्याख्या की। कुछ बौद्ध दार्शनिकों ने समझा कि बुद्धदेव अनुभववादी (Empiricist) थे अर्थात् वे अप्रत्यक्ष विषय का ज्ञान असंभव मानते थे। इस विचार के अनुसार तो बुद्ध संशयवादी कहे जा सकते हैं। अन्य बौद्ध दार्शनिकों ने, विशेषतः महायानियों ने, बुद्ध के मौन का दूसरा ही अर्थ समझा। इनके अनुसार बुद्ध न तो अतीन्द्रिय पारमार्थिक सत्ता का वहिष्कार ही करते थे और न उसको अज्ञेय ही मानते थे। उनके मौन का यही तात्पर्य था कि वे उस सत्ता को तथा तत्संबन्धी ज्ञान को अवर्णनीय मानते थे। इस मत की पुष्टि बुद्ध के जीवन तथा उपदेशों से भी की जा सकती है। साधारण प्रत्यक्षवादियों का मत है कि प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। अतीन्द्रिय ज्ञान को ये नहीं मानते हैं। किन्तु बुद्ध ने यह बतलाया है कि निर्वाण की अवस्था में प्रज्ञा का उदय होता है, जो इन्द्रियजनित नहीं है। इस प्रज्ञा को बुद्ध इतनी प्रधानता देते थे कि उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बुद्ध प्रज्ञा को ही चरम सत्ता मानते थे। बुद्ध प्रायः कहा करते थे कि मुझे ऐसे-ऐसे अलौकिक विषयों की अनुभूति होती है जो केवल प्रज्ञाशील व्यक्ति ही समझ सकते हैं तथा जिनका ज्ञान तार्किक युक्ति के द्वारा नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह होता है कि वह अनुभव या तर्क से प्रमाणित नहीं हो सकता और न साधारण लौकिक विचारों एवं शब्दों के द्वारा उसका वर्णन ही हो सकता है। इस तरह कुछ बौद्ध दार्शनिक बुद्ध के मौन के आधार पर रहस्यवाद तथा अतीन्द्रियवाद (Transcendentalism) का उपपादन करते हैं। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि दार्शनिक विवेचन से बुद्धदेव स्वयं तो अलग रहते थे लेकिन उनके महानिर्वाण के बाद बौद्ध-धर्म में दार्शनिक मतभेदों की कमी नहीं रही।

कुछ दार्शनिक बुद्ध को अनुभववादी एवं संशयवादी मानते थे

कुछ उन्हें रहस्यवादी एवं अतीन्द्रियवादी मानते थे

फल यह हुआ कि क्रमशः बौद्ध धर्म की तीस से अधिक शाखाएँ कायम हो गयीं। यद्यपि बुद्ध अपने शिष्यों को दार्शनिक जाल में नहीं फँसने की बराबर चेतावनी देते थे, फिर भी उनके बाद जो शाखाएँ कायम हुईं उनमें अनेक शाखाएँ गम्भीर और जटिल दार्शनिक प्रश्नों के विचार में पड़ गईं। इनमें चार प्रधान-प्रधान शाखाओं का हम यहाँ उल्लेख करेंगे। इन चार शाखाओं के अन्तर्गत जो बौद्ध दार्शनिक हैं उनमें कुछ (१) शून्यवादी या माध्यमिक हैं, कुछ (२) विज्ञानवादी या योगाचार हैं, कुछ (३) वाह्यानुमेयवादी या सौत्रांतिक हैं तथा कुछ (४) वाह्यप्रत्यक्षवादी या वैभाषिक हैं। शून्यवाद तथा विज्ञानवाद महायान सम्प्रदाय के अन्तर्गत हैं और वाह्यानुमेयवाद तथा वाह्यप्रत्यक्षवाद हीनयान के अन्तर्गत हैं। यहाँ इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि महायान तथा हीनयान के अन्तर्गत और भी अनेक शाखाएँ हैं*। इस तरह बौद्ध दर्शन का चार शाखाओं में जो वर्गीकरण हुआ है उसके पीछे दो प्रश्न वर्त्तमान हैं, एक अस्तित्व-सम्बन्धी और दूसरा ज्ञान-सम्बन्धी। अस्तित्व-सम्बन्धी प्रश्न यह है कि मानसिक या बाह्य कोई वस्तु है या नहीं? इस प्रश्न के लिये तीन उत्तर दिये गये हैं। (१) माध्यमिकों के अनुसार† मानसिक या वाह्य किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। सभी शून्य हैं। अतः ये शून्यवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। (२) योगाचारों के अनुसार मानसिक वस्तु या विज्ञान ही एकमात्र सत्य है। वाह्य पदार्थों

बौद्ध दर्शन की चार प्रमुख शाखाएँ

शाखाओं के इस प्रकार-भेद के मूल में दो प्रश्न हैं – (१) किसी प्रकार की सत्ता का अस्तित्व है? इसके तीन उत्तर

---

* Sogen, Systems, पृ० ३—सोगेन के अनुसार हीनयान की २१ शाखाएँ तथा महायान की ८ शाखाएँ हैं। इनके अतिरिक्त और भी असंख्यात शाखाएँ हैं।

† ऐसी व्याख्या बौद्धेतर भारतीय आलोचकों ने की है। महायानियों ने इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में आगे चर्चा की जायगी।

का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः योगाचार विज्ञानवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। (३) कुछ बौद्ध यह मानते हैं कि मानसिक तथा बाह्य सभी वस्तुएँ सत्य हैं। अतः ये वस्तुवादी हैं। ये सर्वास्तित्ववादी या सर्वास्तिवादी के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, इसलिये इन्हें सर्वास्तित्ववादी का नाम दिया गया है। ज्ञान-सम्बन्धी प्रश्न इस प्रकार है। बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिये क्या प्रमाण है? सर्वास्तित्व-वादी (अर्थात् जो वस्तुओं की सत्ता को मानते हैं) इस प्रश्न के दो उत्तर देते हैं। कुछ जो सौत्रान्तिक के नाम से प्रसिद्ध हैं, यह मानते हैं कि बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता। उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। दूसरे, जो वैभाषिक के नाम से विख्यात हैं, यह कहते हैं कि बाह्य-वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा भी प्राप्त होता है।

(२) बाह्य वस्तु का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है? इसके दो उत्तर

इस तरह बौद्ध-धर्म की चार प्रमुख शाखाएँ हो गयी हैं। इन शाखाओं की पृथक्-पृथक् विचार-धाराएँ हैं। पाश्चात्य दार्शनिक दृष्टि से ये विशेष रूप से उल्लेखयोग्य हैं। इनमें जिन दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चा हुई है उनका समर्थन आधुनिक दार्शनिक भी करते हैं। हम इन चार मतों का यहाँ पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(१) माध्यमिक—शून्यवाद

शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन थे। दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत के एक ब्राह्मण परिवार में इनका जन्म हुआ था। बुद्ध-चरित के प्रणेता अश्वघोष भी शून्यवाद के समर्थक थे। नागार्जुन ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'माध्यमिक-शास्त्र' में शून्यवाद का पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है।

शून्यवाद के प्रवर्त्तक नागार्जुन

भारतवर्ष में बौद्धेतर दार्शनिक शून्यवाद से यह समझते हैं कि संसार शून्यमय है अर्थात् किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। इस

विचार के समर्थन में माधवाचार्य ने अपने सर्व-दर्शन-संग्रह में इस प्रकार की युक्ति दी है। ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान परस्पर आश्रित हैं। एक का अस्तित्व शेष दोनों पर निर्भर होता है। अतः एक यदि असत्य हो तो शेष दोनों भी असत्य सिद्ध होंगे। (जिस तरह किसी पुरुष का पितृत्व असत्य होता है यदि उसकी सन्तानों का अस्तित्व असत्य हो।) जब हम किसी रस्सी को साँप समझ लेते हैं तो वहाँ साँप का अस्तित्व बिलकुल असत्य है। ज्ञात वस्तु (अर्थात् साँप) यदि असत्य है तो ज्ञाता तथा ज्ञान भी असत्य हैं। अतः इस दृष्टान्त के द्वारा यह प्रतीत होता है कि स्वप्न-जगत् की तरह ज्ञाता, ज्ञान, तथा ज्ञेय सभी असत्य हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आभ्यन्तर या वाह्य किसी भी प्रकार की सत्ता नहीं है। संसार बिलकुल शून्य है।

शून्यवाद क्या है?

शून्यवाद का प्रमाण

माध्यमिक शून्यवाद को भारतीय दर्शन में कभी-कभी सर्व-वैनाशिकवाद भी कहा गया है क्योंकि इसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। किन्तु यदि हम माध्यमिक दर्शन का विचारपूर्वक अध्ययन करें तो हम देख सकते हैं कि माध्यमिक मत वस्तुतः वैनाशिकवादी नहीं है। यह तो केवल इन्द्रियों से प्रत्यक्ष (Phenomenal) जगत् को असत्य मानता है।

शून्यवाद सर्व-वैनाशिकवाद नहीं है

प्रत्यक्ष जगत् के परे पारमार्थिक सत्ता अवश्य है। लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह मानसिक है या वाह्य। साधारण लौकिक विचारों के द्वारा अवर्णनीय होने के कारण उसे शून्य कहते हैं। किन्तु यह तो उस पारमार्थिक सत्ता या परम तत्त्व का नकारात्मक वर्णन हुआ। लंकावतार-सूत्र में ॐ कहा गया है कि बुद्धि के द्वारा वस्तुओं के स्वभाव का पता नहीं लग सकता। जो सत्य है वह तो निरपेक्ष है।

ॐ यह माधवाचार्य ने उद्धृत किया है।

वह अपने अस्तित्व के लिये किसी वस्तु पर निर्भर नहीं हो सकता। किन्तु साधारणतः जितनी वस्तुओं को हम जानते हैं वे किसी न किसी वस्तु पर अवश्य निर्भर रहती हैं। अतः ये सत्य नहीं समझी जा सकतीं। लेकिन इन्हें असत्य भी नहीं माना जा सकता है। ये यदि आकाश-कुसुम की तरह बिलकुल असत्य होतीं तो इनका कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता। लेकिन वैसी बात नहीं है। आकाश-कुसुम की तरह ये बिलकुल असत्य नहीं हैं। तो क्या हम यह कह सकते हैं कि ये सत्य और असत्य दोनों हैं ? या यह कह सकते हैं कि ये न तो सत्य हैं न असत्य हैं ? ऐसा कहना तो बिलकुल अर्थहीन होगा †। इन

शून्यता वर्णनातीत है

विचारों से यह स्पष्ट है कि पारमार्थिक सत्ता या परम तत्त्व बिलकुल अवर्णनीय है। इस वर्णनातीत तत्त्व को शून्यता कहते हैं। साधारणतः हमें वस्तुओं के अस्तित्व की प्रतीति तो होती है किन्तु जब हम उनके तात्त्विक स्वरूप को जानने के लिये उद्यत होते हैं तो हमारी बुद्धि काम नहीं देती। हम यह निश्चय नहीं कर सकते कि वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप (१) सत्य है, या (२) असत्य है, या (३) सत्य तथा असत्य दोनों है, या (४) न तो सत्य है और न तो असत्य है। वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोटियों से रहित होने के कारण 'शून्य' कहा जाता है। ऊपर की युक्ति से यह सिद्ध है कि वस्तुओं का पारमार्थिक स्वरूप अवर्णनीय है। इस अवर्णनीयता को प्रमाणित करने के लिये प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् वस्तुओं की परनिर्भरता की सहायता ली गई है। अतः नागार्जुन कहते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद

शून्यता और प्रतीत्यसमुत्पाद

ही शून्यता है ‡। वस्तुओं का कोई भी ऐसा धर्म नहीं है जिसकी उत्पत्ति किसी और पर निर्भर न हो। अर्थात् जितने धर्म हैं सभी शून्य हैं ❀। इस

---

† सर्वदर्शन-संग्रह, दूसरा अध्याय।

‡ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका १८

❀ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४, कारिका १९

विचार से यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के परावलम्बन को, उनकी निरन्तर परिवर्त्तन-शीलता को तथा उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहते हैं *।

शून्यवाद को मध्यम-मार्ग भी कहते हैं

इस मत को मध्यम-मार्ग कहते हैं क्योंकि यह ऐकान्तिक मतों से भिन्न है। यह न तो वस्तुओं को सर्वथा निरपेक्ष तथा आत्मनिर्भर मानता है और न वस्तुओं को पूरा असत्य ही समझता है। वरं यह वस्तुओं के परनिर्भर अस्तित्व को मानता है। हम ऊपर देख चुके हैं कि इसी कारण से बुद्ध भी प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यम-मार्ग मानते थे। नागार्जुन भी कहते कि शून्यवाद को माध्यमिक इसलिये कहा जाता है कि यह प्रतीत्यसमुत्पादवाद से ही उत्पन्न है। परनिर्भर होने के कारण वस्तुओं का स्वरूप (स्वभाव) अवर्णनीय होता है। अर्थात् यह असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह सत्य है या असत्य है।

शून्यवाद एक प्रकार का सापेक्ष-वाद है।

इसे हम सापेक्षवाद भी कह सकते हैं। वस्तुओं का प्रत्येक धर्म अन्य वस्तुओं पर निर्भर होता है। अतः उनका अस्तित्व ही मानो उन वस्तुओं से अपेक्षित रहता है। इस प्रकार शून्यवाद को सापेक्षवाद भी कह सकते हैं। सापेक्ष-वाद के अनुसार किसी भी वस्तु या विषय का अपना कोई निश्चित, निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। अतः वस्तु-सम्बन्धी कोई भी विचार निरपेक्ष ढंग से सत्य नहीं माना जा सकता।

माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता को मानते हैं

वस्तु-जगत् के विचार के साथ-साथ माध्यमिक पारमार्थिक सत्ता के सम्बन्ध में भी विचार करते हैं। उनका कथन है कि बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद या अनित्यवाद केवल दृश्य जगत् के लिये लागू है जिसे हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते हैं। किन्तु यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि जिन संस्कारों से इन्द्रिय-ज्ञान होता है,

× Sogen, Systems, पृ० १४ पृ० १९५-९८; Suzuki Outlines

निर्वाण में उनका जब निरोध हो जाता है, तब किस प्रकार का अनुभव होता है ? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि उस समय जो अनुभूति होती है वह सापेक्ष नहीं होती। अतः माध्यमिक कहते हैं कि वह अनुभूति ही पारमार्थिक है जो दृश्य वस्तुओं से परे है, नित्य है, निरपेक्ष है तथा जो साधारण व्यावहारिक धर्मों से रहित है।

नागार्जुन के अनुसार दो प्रकार के सत्य—(१) संवृति-सत्य (२) पारमार्थिक-सत्य

नागार्जुन कहते हैं कि "दो प्रकार के सत्य हैं जिनपर बुद्ध के धर्म-सम्बधी उपदेश निर्भर हैं। एक संवृति-सत्य (empirical) है। यह साधारण मनुष्यों के लिये है। दूसरा ,पारमार्थिक सत्य है। जो व्यक्ति इन दोनों सत्यों के भेद को नहीं जानते वे बुद्ध की शिक्षाओं के गूढ़ रहस्य को नहीं समझ सकते हैं ❀।"

पारमार्थिक-सत्य की प्राप्ति निर्वाण में ही होती है

संवृति-सत्य पारमार्थिक सत्य की प्राप्ति के लिये एक साधन मात्र है। निर्वाण की अवस्था साधारण व्यावहारिक अवस्था से भिन्न है। निर्वाण प्राप्त करने पर मनुष्य साधारण व्यावहारिक अवस्था से मुक्त हो जाते हैं। अतः हमारे लिये वह कल्पनातीत है। हम केवल उसका नकारात्मक वर्णन ही कर सकते हैं। नागार्जुन ने भी इसके कई नकारात्मक वर्णन किये हैं। वे कहते हैं कि जो अज्ञात है

यह अवर्णनीय है

(साधारण उपायों से अविदित है), जिसकी प्राप्ति नयी नहीं है (अर्थात् जो सदैव प्राप्त है), जिसका विनाश नहीं है, जो नित्य भी नहीं है, जो निरुद्ध नहीं है, जो उत्पन्न भी नही है, उसका नाम निर्वाण है †। निर्वाण के तथाभूत स्वरूप को जो जानते हैं उनका नाम तथागत है। जो बातें निर्वाण के लिये

❀ माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २४ कारिका, ८-९

† माध्यमिक-शास्त्र, अध्याय २५ कारिका ३

लागू हैं वे तथागत अर्थात् निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति के लिये भी लागू होती हैं। तथागत के स्वरूप का भी वर्णन नहीं किया जा सकता है।

बुद्धदेव को पूछा गया था कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद तथागत की क्या गति होती है? इसका उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया था वरं वे मौन रह गये थे।

इसलिये बुद्ध ऐसे प्रश्नों का उत्तर नहीं देते थे

इस प्रकार के और सब प्रश्नों के उत्तर बुद्ध क्यों नहीं देते इसका कारण भी इसी से स्पष्ट है। उन दार्शनिक समस्याओं का समाधान बुद्ध ने इसलिये नहीं किया कि साधारण व्यावहारिक ढंग से उनका समाधान संभव ही नहीं था। यह ऊपर कहा जा चुका है कि दार्शनिक तत्त्वों का वर्णन या विवेचन साधारण लौकिक ढंग से नहीं हो सकता। इसीलिये उन्हें अवर्णनीय माना गया है। बुद्ध प्रायः कहा करते थे कि मैंने पारमार्थिक सत्य का अनुभव किया है। ऐसा अनुभव तर्क के द्वारा नहीं हो सकता। बुद्ध की इस उक्ति से माध्यमिकों के पारमार्थिक सत्य-सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन होता है।

माध्यमिक-मत और शांकर वेदान्त

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि माध्यमिक-दर्शन तथा शंकराचार्य के अद्वैत-वेदान्त में अनेक समानताएँ हैं। माध्यमिक दो प्रकार के सत्य को मानते हैं। वे बस्तु-जगत् को असत्य मानते हैं। वे पारमार्थिक सत्य का नकारात्मक वर्णन करते हैं तथा निर्वाण को पारमार्थिक सत्य की अनुभूति समझते हैं। ये विचार शांकर वेदान्त के विचारों से बहुत मिलते जुलते है।

(२) योगाचार—विज्ञानवाद

चित्त का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है

विज्ञानवादी माध्यमिकों के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। किन्तु वे यह नहीं मानते कि चित्त का भी अस्तित्व नहीं है। चित्त या मन यदि न रहे तो किसी विचार का प्रतिपादन भी संभव नहीं हो सकता। जो मत मन के अस्ति-

त्व को नहीं मानता वह तो स्वयं असंभव हो जाता है। अतः मत या विचार की संभाव्यता के लिये चित्त का मानना आवश्यक है।

विज्ञानवाद के अनुसार चित्त ही एक मात्र सत्ता है। विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। हमारे शरीर तथा अन्यान्य पदार्थ जो मन के वहिर्गत मालूम पड़ते हैं, वे सभी हमारे मन के अन्तर्गत हैं।

बाह्य पदार्थ चित्त के विज्ञान मात्र हैं

जिस तरह स्वप्न या मति-भ्रम की अवस्था में हम वस्तुओं को वाह्य समझते हैं यद्यपि वे मन के अन्तर्गत ही रहती हैं, उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ वाह्य प्रतीत होते हैं वे भी विज्ञान मात्र हैं। चूंकि किसी वस्तु में तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान में कोई भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता है इसलिये वाह्य वस्तु का अस्तित्व बिलकुल अप्रामाणिक है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग में तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई भेद नहीं है। क्योंकि दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है। यथार्थतः दोनों एक हैं। उन्हें दो समझना भ्रम है। दृष्टि-विकार के कारण कोई व्यक्ति चन्द्रमा को दो देख सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चन्द्रमा दो है। किसी वस्तु का ज्ञान ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः यह किसी तरह प्रमाणित नहीं कया जा सकता कि ज्ञान से भिन्न वस्तु का कोई अस्तित्व भी है।

योगाचारों का कथन है कि वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को मानने से अनेक दोषों की उत्पत्ति होती है। यदि कोई वाह्य वस्तु है तो वह या तो एक अणुमात्र है या अनेक अणुओं की वनी हुई है। किन्तु

बाह्य वस्तुओं को मानने से कठिनाइयाँ

अणु तो इतना सूक्ष्म होता है कि उसका प्रत्यक्ष संभव ही नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अणुओं से वनी किसी पूरी वस्तु का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। मान लीजिये, हम एक घट को देखना चाहते हैं। सम्पूर्ण घट को एक साथ देखना संभव नहीं है। हम घट

को जिस तरफ से देख रहे हैं, घट का उसी तरफ का भाव हमें दृष्टि-गोचर होता है। उसका दूसरा भाग दिखाई नहीं पड़ता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यदि हम घट को एक साथ पूरा नहीं भी देख सकते हैं तो कम से कम उसके एक-एक भाग को देखकर हम उसे पूर्णतया जान सकते हैं। किन्तु एक-एक भाग को देखना भी संभव नहीं है। क्योंकि यदि कोई भाग अणुमात्र है तब तो अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण वह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। और यदि वह अनेक अणुओं के संयोग से बना हुआ है तो फिर वही कठिनाई उपस्थित हो जाती है जो पूरे घट को देखने में होती है। अतः मन के बाहर यदि किसी वस्तु का अस्तित्व माना भी जाय तो उसका ज्ञान असंभव है। किन्तु यदि कोई वस्तु तत्सम्बन्धी मानसिक ज्ञान से भिन्न नहीं है तो उपर्युक्त आक्षेप बिलकुल निराधार हो जाते हैं, क्योंकि मानसिक ज्ञान में खंड तथा सम्पूर्ण का प्रश्न ही नहीं उठ सकता।

दूसरी कठिनाई यह है कि किसी वस्तु का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उस वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती। किन्तु यह भी कैसे संभव हो सकता है? वस्तु तो क्षणिक है। उत्पत्ति के साथ ही उसका नाश हो जाता है। कोई वस्तु और उसका ज्ञान एक ही क्षण में हो, यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाह्यवस्तुवादी वस्तु को ज्ञान का कारण मानते हैं। किन्तु कारण तो कार्य के पहले ही होता है। वे समसामयिक नहीं हो सकते। हम यह नहीं कह सकते हैं कि वस्तु के नष्ट होने पर उसका प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि वस्तु जब नष्ट हो जाती है तो फिर उसका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? प्रत्यक्ष-ज्ञान वर्त्तमान वस्तुओं का ही हो सकता है। अतः वाह्य वस्तुओं का ज्ञान संभव नहीं मालूम पड़ता। तो क्या इससे हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि वस्तुओं का कोई अस्तित्व ही नहीं है? ऐसा हम नहीं कह सकते हैं। [illegible] उपर्युक्त विचारों से तो यह सिद्ध होता है कि ज्ञान के अतिरिक्त वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है।

योगाचार के इस मत को विज्ञानवाद कहते हैं। इस मत के अनुसार विज्ञान (Consciousness) का ही एकमात्र अस्तित्व है। जो वस्तु बाह्य प्रतीत होती है वह यथार्थ में मन का एक प्रत्यय है। इसी का नाम पाश्चात्य दर्शन में Subjective Idealism है।

इस मत को विज्ञानवाद कहते हैं

विज्ञानवाद की अनेक कठिनाइयाँ हैं। विज्ञानवाद के विरुद्ध यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि किसी वस्तु का अस्तित्व ज्ञाता पर निर्भर है तो वह अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु को उत्पन्न क्यों नहीं कर सकता? उसकी इच्छानुसार वस्तुओं का परिवर्त्तन, आविर्भाव या तिरोभाव क्यों नहीं होता? इसका समाधान विज्ञानवादी इस प्रकार करते हैं। वे कहते हैं कि मन एक प्रवाह है। इस प्रवाह में अतीत कर्म का संस्कार निहित है। जिस समय जिस संस्कार के लिये परिस्थिति अनुकूल रहती है उस समय उसी संस्कार का प्रादुर्भाव होता है। हम कह सकते हैं कि उस समय उसी संस्कार का परिपाक होता है। फल यह होता है कि उस समय उसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। इस तरह विशेष समय में विशेष प्रकार का ज्ञान ही संभव हो सकता है। स्मृति के दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट होती है। यों तो हमारे मन में अनेक संस्कार निहित हैं किन्तु विशेष समय में विशेष संस्कार की ही स्मृति संभव होती है।

अतः विज्ञानवादी मन को आलय-विज्ञान कहते हैं। क्योंकि वह विभिन्न विज्ञानों का आलय या भण्डार है। इसमें सभी ज्ञान बीज रूप से निहित हैं। अतः यह अन्य दर्शनों के आत्मा सदृश है। किन्तु इसमें तथा आत्मा में एक बहुत बड़ा भेद है। आत्मा की तरह हम आलय-विज्ञान को अपरिवर्त्तनशील या नित्य नहीं मान सकते। यह तो परिवर्त्तनशील चित्तवृत्तियों का एक प्रवाह है। अभ्यास तथा आत्मसंयम के द्वारा आलय-विज्ञान के वश में आने पर उससे विषय-ज्ञान की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इस तरह निर्वाण

चित्त एक आलय-विज्ञान है

प्राप्त हो सकता है। आत्मसंयम तथा योगाभ्यास के मार्ग का अनुसरण यदि नहीं किया जाय तो तृष्णाओं तथा आसक्तियों से मुक्ति नहीं मिल सकती है। और फलस्वरूप इस काल्पनिक वाह्य जगत् का बंधन भी नहीं छूट सकता है। इतना ही नहीं, इसके प्रति आसक्ति और बढ़ती ही जाती है। वाह्य जगत् बिलकुल काल्पनिक है। चित्त ही एकमात्र सत्ता है। चित्त के द्वारा ही जीवन की उन्नति या अवनति होती है।

'योगाचार' का अर्थ

योगाचारों के इस नाम के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि आलय-विज्ञान के अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिये योगाचार योग का आचरण करते थे। अर्थात् वाह्य जगत् की काल्पनिकता को समझने के लिये वे योग का अभ्यास करते थे। दूसरा कारण यह हो सकता है कि योगाचारों की दो विशेषताएँ थीं—योग तथा आचार। योग का तात्पर्य यहाँ जिज्ञासा से तथा आचार का सदाचार से है। योगाचार-दर्शन के प्रवर्त्तक असंग, वसुबन्धु, तथा दिग्नाग थे। 'लंकावतार-सूत्र' इसका प्रमुख ग्रन्थ है। शान्तरक्षित का 'तत्त्वसंग्रह' इसका दूसरा पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ है। कमलशील ने 'तत्त्वसंग्रह' पर अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है।

(३) सौत्रान्तिक—वाह्यानुमेयवाद

चित्त और वाह्य-जगत् दोनों सत्य हैं

वाह्य-वस्तुओं के अस्तित्व के प्रमाण

सौत्रान्तिक चित्त तथा वाह्यजगत् दोनों को ही मानते हैं। उनका कथन है कि यदि वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को नहीं माना जाय तो वाह्य वस्तुओं की प्रतीति कैसे होती है—इसका प्रतिपादन हम नहीं कर सकते हैं। जिसने वाह्य वस्तु को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है वह यह नहीं कह सकता कि मैं भ्रमवश अपनी मानसिक अवस्था को वाह्य वस्तु के सदृश मानता हूँ। उसके लिये 'वाह्य वस्तु के सदृश' यह कहना उसी तरह अर्थहीन है जिस तरह 'वन्ध्या-पुत्र'। विज्ञानवादियों के अनुसार

वाह्य वस्तु की तो कोई सत्ता ही नहीं है। अतः वाह्यत्व का न तो कोई ज्ञान हो सकता, न उसके साथ किसी की तुलना ही की जा सकती है।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह सही है कि वस्तु के वर्त्तमान रहने पर ही उसका प्रत्यक्ष होता है। किन्तु वस्तु और उसका ज्ञान समकालीन हैं इसलिये वे अभिन्न हैं यह युक्ति ठीक नहीं है। हमें जब घट का प्रत्यक्ष होता है तो घट हमारे वाहर हैं और ज्ञान अन्दर है इसका स्पष्ट अनुभव होता है। अतः वस्तु को ज्ञान से भिन्न मानना चाहिये। यदि घट में तथा मुझमें कोई भेद नहीं होता तो मैं कहता कि 'मैं ही घट हूँ'। दूसरी वात यह है कि यदि वाह्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नही होता तो 'घट-ज्ञान' तथा 'पट-ज्ञान' में भी कोई भेद नहीं होता। घट और पट दोनों यदि केवल ज्ञान हैं तो दोनों एक हैं। लेकिन 'घट-ज्ञान' तथा 'पट-ज्ञान' को हम एक नहीं मानते हैं। अतः इससे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि दोनों में वस्तु-सम्बन्धी भेद अवश्य है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाह्य वस्तुओं का अस्तित्व मानना नितान्त आवश्यक है। वाह्य वस्तुओं के अनेक आकार होने के कारण ही ज्ञान के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। भिन्न आकार के ज्ञानों से हम उनके कारण-स्वरूप विभिन्न वाह्य वस्तुओं का अनुमान कर सकते हैं।

ज्ञान के चार कारण हैं—आलम्बन, समनन्तर, अधिपति और सहकारी

हम अपनी ही इच्छानुसार जहाँ कहीं किसी वस्तु को नहीं देख सकते हैं। इससे भी यह प्रतीत होता है कि ज्ञान केवल हमारे मन पर निर्भर नहीं है। ज्ञान के चार प्रकार के कारण या प्रत्यय होते हैं। जिनके नाम सौत्रान्तिकों के अनुसार (१) आलम्बन, (२) समनन्तर, (३) अधिपति और (४) सहकारी प्रत्यय हैं।

(१) घटादि वाह्य विषय ज्ञान का आलम्बन-कारण है। क्योंकि ज्ञान का आकार उसी से उत्पन्न होता है।

(२) ज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती मानसिक अवस्था से ज्ञान में चेतना आती है। इसलिये इसका नाम समनन्तर-प्रत्यय है *।

(३) विषय और पूर्ववर्त्ती ज्ञान के रहने पर भी विना इन्द्रिय से वाह्य-ज्ञान नहीं हो सकता है। इन्द्रियों के द्वारा यह निश्चित होता है कि स्पर्श-ज्ञान होगा या रूप-ज्ञान होगा या अन्य किसी प्रकार का ज्ञान होगा। इसलिये इन्द्रियों को ज्ञान का अधिपति-प्रत्यय या नियामक-कारण कहा जाता है।

(४) इनके अतिरिक्त आलोक, उचित दूरत्व, उचित आकार आदि सहायक कारणों का होना भी ज्ञान होने के लिये आवश्यक है। अतः इन्हें सहकारी-प्रत्यय कहते हैं।

इन चार प्रकार के कारणों के संयोग से ही किसी वस्तु का ज्ञान संभव होता है। अतः ज्ञान का आकार ज्ञातवस्तु के अनुसार ही होता है। यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि हम प्रत्यक्ष वस्तुओं के जो आकार देखते हैं वे ज्ञान ही के आकार हैं। और वे मन ही में हैं। वाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तु-जनित मानसिक आकारों से अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। अतः इस मत को वाह्यानुमेयवाद कहते हैं।

यह मत 'वाह्यानुमेयवाद' है

इस मत को सौत्रान्तिक इसलिये कहते कि सूत्र-पिटक ही इसका मुख्य आधार है। सौत्रान्तिक मत में विज्ञानवाद के खंडन के लिये अनेक युक्तियाँ दी गई हैं। आधुनिक काल में भी मूर (Moore) जैसे पाश्चात्य वस्तुवादी बर्कले (Berkeley) के विज्ञानवाद (Subjective Idealism) के खंडन में ऐसी ही युक्तियाँ देते हैं। सौत्रान्तिकों का प्रमाण-विचार लॉक (Locke) जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों के साकार-ज्ञान-वाद (Representationism) से बहुत अधिक मिलता है। कुछ आधुनिक पाश्चात्य वस्तुवादी दार्शनिकों (Critical Realists) का मत भी इसी के सदृश है।

'सौत्रान्तिक' का अर्थ

---

* समनन्तर (जिसका कोई अन्तर या व्यवधान नहीं है।)

(४) वैभाषिक—वाह्यप्रत्यक्षवाद

सौत्रान्तिकों की तरह वैभाषिक भी चित्त तथा वाह्य वस्तु के अस्तित्व को मानते हैं। किन्तु आधुनिक नव्य-वस्तुवादियों (Nec-realists) की तरह ये कहते हैं कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य किसी उपाय से नहीं हो सकता। यह सही है कि धुआँ देखकर हम आग का अनुमान करते हैं। किन्तु यह इसलिये संभव होता है कि अतीत में हमने आग और धुआँ एक साथ देखा है। जिसने इन दोनों को साथ-साथ कभी नहीं देखा वह धुआँ देखकर आग का अनुमान नहीं कर सकता। यदि वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं हुआ रहे तो केवल मानसिक प्रतिरूपों के आधार पर उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसने कभी कोई वाह्य वस्तु नहीं देखी है वह यह नहीं समझ सकता कि कोई मानसिक अवस्था किसी वाह्य वस्तु का प्रतिरूप है। प्रत्युत वह तो यह समझेगा कि मानसिक अवस्था ही मौलिक और स्वतंत्र सत्ता है, उसका अस्तित्व किसी वाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। अतः या तो हमें विज्ञानवाद को स्वीकार करना होगा या यह मानना होगा कि वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष-ज्ञान बिलकुल संभव है। अतः वैभाषिकमत को वाह्यप्रत्यक्ष-वाद कहते हैं*।

वैभाषिकों और सौत्रांतिकों में साम्य और वैषम्य

यह मत वाह्य-प्रत्यक्षवादी है

४—बौद्ध मत के धार्मिक सम्प्रदाय
(हीनयान तथा महायान)

धार्मिक विषयों को लेकर बौद्ध मत के दो सम्प्रदाय हो गये हैं। इन्हें हीनयान तथा महायान कहते हैं। हीनयान में बौद्ध-धर्म का प्राचीन रूप पाया जाता है। यह जैन-धर्म की तरह अनीश्वरवादी है। इसमें ईश्वरके बदले कर्मवाद अर्थात् धम्म को माना जाता है। संसार का

* देखिये J. E. Turner, A Theory of Direct Realism, पृ० ८

परिचालन इसी धम्म के द्वारा होता है। धम्म के कारण कर्मफल का नाश नहीं होता। प्रत्युत अपने कर्मानुसार ही प्रत्येक व्यक्ति मन, शरीर तथा निवास-स्थान को प्राप्त करता है। बुद्ध के जीवन तथा उपदेश से मनुष्य अपने आदर्श को जानता है तथा यह भी समझता है कि कोई भी बंधन-ग्रस्त व्यक्ति निर्वाण प्राप्त कर सकता है। हीन-यानी को अपनी शक्ति पर पूरा विश्वास रहता है। उसे 'धर्म' की नियामकता पर भी पूरा श्रद्धा रहती है। उसे बराबर यह आशा बनी रहती है कि बुद्ध के बताये मार्ग पर चलकर इस जीवन में या अन्य किसी भविष्य जीवन में निर्वाण-प्राप्ति अवश्य होगी। हीनयानी का लक्ष्य अर्हत् होना या निर्वाण प्राप्त करना है। निर्वाण या निब्बाण में दुःखों का अस्तित्व नहीं रहता। हीनयान के अनुसार मनुष्य अपने प्रयत्न से ही निर्वाण या लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है। स्वयं महात्मा बुद्ध ने कहा था—'आत्मदीपो भव'। उनकी यह उक्ति ही मानो हीन-यान का मूलमंत्र है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी चेष्टा से अपने कल्याण के लिये निर्वाण प्राप्त करना चाहिये। यह संभव भी है। बुद्ध ने महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के ठीक पहले कहा था—"सावयव पदार्थ या संघात सभी नाशवान् हैं। परिश्रम के द्वारा अपनी मुक्ति का उपाय करना चाहिये।"

हीनयान बुद्ध के उपदेशों के ही अनुसार है

हीनयान में स्वाव-लम्बन पर आग्रह

स्वावलम्बन के लिये न तो ईश्वर की अनुकम्पा की अपेक्षा रहती है और न अन्य किसी प्रकार की सहायता की। इसमें केवल निर्वाण तथा 'धर्म' की अपेक्षा रहती है। इससे स्पष्ट है कि यह मार्ग वीर-पुरुष के लिये है। किन्तु संसार में ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है।

समय की प्रगति के अनुसार बौद्ध-धर्म के अनुयायी भी बहुत अधिक बढ़ गये। फल यह हुआ कि इसमें ऐसे व्यक्तियों का भी समा-

वेश हो गया जिनके लिये ऊपर के बतलाये मार्ग पर चलना अत्यन्त कठिन था। अधिकांश लोग ऐसे थे जो दूसरे-दूसरे धर्मों को छोड़कर आये थे। वे न तो बुद्ध के बतलाये हुए मार्ग को समझते थे और न उसके अनुसार चलने की शक्ति ही उनमें थी। सम्राट् अशोक जैसे संरक्षकों की सहायता से बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ तो गई थी किन्तु अधिकांश अनुयायी उसके प्राचीन आदर्श के अनुसार चल नहीं सके। ये लोग बौद्ध-धर्म को एक नीचे स्तर पर ले आये। बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के पूर्व जो इनलोगों के मत थे, वे भी धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म में मिलने लगे। इस तरह बौद्ध धार्मिकों के सामने एक विकट समस्या उपस्थित हो गयी। उन्हें आदर्श की रक्षा के लिये अनुयायियों की एक बड़ी संख्या से सम्बन्ध तोड़ना पड़ता था या अनुयायियों को साथ रखने के लिये आदर्श को छोड़ना पड़ता था। कुछ कट्टर धार्मिकों ने आदर्श के बजाय अनुयायियों से सम्बन्ध तोड़ना ही अच्छा समझा। किन्तु अधिकांश लोग बौद्ध धर्मावलम्बियों की संख्या कम नहीं देखना चाहते थे। अतः इन लोगों ने कट्टरपंथियों का साथ छोड़ा और जनसाधारण के लिये एक भिन्न सम्प्रदाय कायम किया। नये सम्प्रदाय का नाम 'महायान' तथा पुराने का 'हीनयान' पड़ा। यह नामकरण एक दृष्टि से बिलकुल ठीक है। हीनयान का अर्थ 'छोटी गाड़ी' है। इसका तात्पर्य यह है कि इसके द्वारा कम ही व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक जा सकते हैं। किन्तु महायान का अर्थ 'बड़ी गाड़ी' है। इसके द्वारा अनेक व्यक्ति जीवन के लक्ष्य-स्थान तक पहुँच सकते हैं।

स्वावलम्बन सबों के लिये संभव नहीं है

महायान का जन्म

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि महायान में उदारता तथा धर्म-प्रचार की भावनाएँ वर्त्तमान थीं। फलस्वरूप महायान का प्रचार हिमालय के उत्तर चीन, कोरिया तथा जापान तक हो गया। इसमें अन्यान्य मतों के अनुयायी भी प्रविष्ट हो गये। ज्यों-ज्यों इसका प्रचार हुआ त्यों-त्यों नये अनुयायियों के धार्मिक विचारों का भी इसमें

समावेश होता गया। वर्त्तमान महायानियों को अपने धार्मिक सम्प्रदाय के लिये गर्व है। ये अपने धर्म को जीवित तथा प्रगतिशील धर्म मानते हैं। इस सम्प्रदाय की उदारता ही इसे अनुप्राणित करती रहती है।

महायान की उदारता

महायान में हम जिस उदार मनोवृत्ति का अस्तित्व पाते हैं उसका प्रारम्भ बुद्ध से ही हो गया था। स्वयं बुद्ध को जनसाधारण के मोक्ष की चिंता रहती थी। महायान में बुद्ध के इस आदर्श को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। हम पहले देख चुके हैं कि संबोधि प्राप्त करने पर महात्मा बुद्ध दुःखित मानव के कल्याण के लिये जीवन भर परिभ्रमण करते रहे तथा उपदेश देते रहे। बुद्ध की इस लोक-सेवा के आदर्श को ध्यान में रख कर महायानी कहते हैं कि अपनी मुक्ति ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिये। वरं दूसरों की मुक्ति के लिये भी हमलोगों को प्रयत्न करना चाहिये। महायानी हीनयानियों के आदर्श को स्वार्थ-पूर्ण समझते हैं। हीनयानियों का आदर्श चाहे कितना भी महान् क्यों न हो, सूक्ष्मरूप से उसमें एक प्रकार की स्वार्थपरता अवश्य वर्त्तमान है, क्योंकि हीनयानी केवल अपनी मुक्ति के लिये ही प्रयत्न करते हैं। इसलिये महायानी हीनयान के आदर्श को निकृष्ट समझने लगे और उसका नाम हीनयान पड़ा। महायानियों ने बुद्ध के लोक-कल्याण सम्बन्धी उपदेश को ही प्रधान समझा, अन्य उपदेशों को गौण माना। महायानियों का यह कहना है कि लोक-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होने के कारण महायान महान् है तथा हीनयान में उसका अभाव होने के कारण वह हीन है।

महायान में पर-सेवा पर आग्रह

महायान की विभिन्न शाखाओं में क्रमशः अनेक नये विचारों का जन्म हुआ। इनमें कुछ विचार परस्पर-विरोधी हैं। हम यहाँ केवल तीन महत्त्वपूर्ण नये विचारों का वर्णन करेंगे।

महायान में नये विचारों का समावेश

(१) **बोधिसत्व**—हम ऊपर देख चुके हैं कि महायानियों ने केवल अपना मोक्ष प्राप्त करना स्वार्थपूर्ण माना है। वे केवल अपनी मुक्ति की अपेक्षा सब जीवों की मुक्ति को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। वे यह प्रण करते हैं कि हम संसार से विमुख नहीं होंगे, वरं दुःखी प्राणियों के दुःख-विनाश तथा निर्वाण-लाभ के लिये सतत प्रयत्न करेंगे। महायानियों का यह आदर्श 'बोधिसत्त्व' कहलाता है।

(१) बोधिसत्व

जो व्यक्ति बोधिसत्त्व को प्राप्त करता है तथा लोक-कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहता है उसे भी बोधिसत्त्व कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का जीवन करुणा तथा प्रज्ञा से अनुप्राणित होता रहता है। ऐसे सिद्ध पुरुषों के सम्बन्ध में नागार्जुन ने 'बोधिचित्त' में कहा है—"सभी बोधिसत्त्व महाकरुणाचित्त वाले होते हैं और प्राणीमात्र उनकी करुणा के पात्र होते हैं।" "प्राणियों को दुःख से मुक्त करने के लिये उनमें एक अलौकिक शक्ति का संचार होता रहता है। वे लोक-कल्याण के लिये आवागमन के कष्ट से डरते नहीं हैं। प्रत्युत जन्म-ग्रहण के चक्र में पड़े रहने पर भी उनका चित्त स्वच्छ रहता है। किसी प्रकार की पाप-प्रवृत्ति या आसक्ति उनमें नहीं रहती है। उनकी तुलना पंकज से की जा सकती है। जिस तरह पंकज पंक में जन्म लेकर भी स्वच्छ तथा सुन्दर रहता है, उसी तरह ये बोधिसत्त्व जन्म-मरण के जाल में फंसे रहकर भी बिलकुल स्वच्छ तथा निर्मल रहते हैं।" बोधिसत्त्व अपने पुण्यमय कर्मों के द्वारा दूसरों को दुःख-विमुक्त करता है और उनके पापमय कर्मों का स्वयं उपभोग करता है। कर्मों के इस आदान-प्रदान को 'परिवर्त्त' कहते हैं।

महायान-दर्शन में बोधिसत्त्व के अर्थ का उत्तरोत्तर विकास और परिवर्त्तन होता गया है। महायान में आगे चलकर प्राणियों के स्वतंत्र अस्तित्व को असत्य माना गया है। बल्कि उन्हें पारमार्थिक सत्ता में ही सन्निविष्ट माना गया है। योगाचार इस पारमार्थिक सत्ता को 'आलय-विज्ञान' कहते हैं। माध्यमिक इसे 'शून्य' या

'तथाता' कहते हैं। इस परम तत्त्व की अभिव्यक्ति अंशतः भिन्न-भिन्न प्राणियों में होती है। इस विचार के अनुसार वैयक्तिक आत्मा के बदले महात्मा या परमात्मा की कल्पना की गई है। मनुष्य का आत्मा कोई पृथक् आत्मा नहीं है। सभी मनुष्यों में एक ही परमात्मा वर्त्तमान है। इस प्रकार सभी व्यक्तियों की एकात्मता सिद्ध होती है। इस विचार के अनुसार मनुष्य का लक्ष्य व्यक्तिगत आत्मा का उद्धार नहीं माना जा सकता। इस विचार में जिस पारमार्थिक तत्त्व की कल्पना की गई है वह संसार से भिन्न नहीं माना जाता, वरं सारा संसार उसी तत्त्व का वाह्य रूप है। अतः निर्वाण की प्राप्ति संसार से पृथक् होने से नहीं हो सकती, वरं संसार में रहकर ही हो सकती है। नागार्जुन कहते हैं कि यदि मनुष्य यह समझ सके कि संसार का पारमार्थिक रूप क्या है तो वह संसार में रहकर भी निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। न संसारस्य निर्वाणात् किञ्चिदस्ति विशेषणम्—यह नागार्जुन की उक्ति है। हीनयान में संन्यास या भिक्षु-जीवन अधिक श्रेयस्कर समझा गया है। किन्तु महायान सांसारिक संघर्षों से अलग रहने की शिक्षा नहीं देता। किन्तु इस पर अवश्य जोर देता है कि हमारे सांसारिक कार्य आसक्तिपूर्ण न हों।

बुद्ध का उपास्य रूप

(२) **बुद्ध का** *उपास्य रूप*—महायानी दो प्रकार के थे। कुछ तो वहुत उन्नत थे। ये बोधि- सत्त्व को जीवन का अभीष्ट मानते थे। किन्तु अनेक ऐसे थे जिनके लिये बोधिसत्त्व का आदर्श अत्यन्त दुरूह था। ऐसे लोगों के लिये भी महायान में आशा का संदेश विद्यमान था। जब मनुष्य जीवन के संघर्षों के भार से दब जाता है और अपने उद्धार का कोई उपाय नहीं सोच सकता है तो उसका आत्मा एक ऐसी शक्ति की अपेक्षा करने लगता है जो उसकी सहायता कर सके। उस समय वह ईश्वरापेक्षी हो जाता है और स्वावलम्बन से उसकी श्रद्धा उठ जाती है। ऐसे व्यक्तियों के लिये भी महायान में स्थान है। महायान के अनुसार बुद्ध सभी

दुःखार्त्त मनुष्यों के प्रति दया की भावना रखते हैं। उनकी दया से सबों का उद्धार हो सकता है।

आगे चलकर महायान की पारमार्थिक सत्ता तथा बुद्ध में तादात्म्य स्थापित हो गया है। सिद्धार्थ गौतम को 'पारमार्थिक सत्य' या 'बुद्ध' का एक अवतार माना गया है। जातकों में बुद्ध के पूर्वावतारों का विशद वर्णन पाया जाता है। बुद्ध के पूर्वजन्मों के सम्बन्ध में जो कथाएँ हैं उन्हें 'जातक' कहते हैं। जिस तरह अद्वैत-वेदान्त में परम ब्रह्म को निगुर्ण माना गया है, उसी तरह यहाँ भी परमतत्त्व को अवर्णनीय माना गया है। किन्तु यहाँ परमतत्त्व की अभिव्यक्ति धर्मकाय के रूप में अर्थात् जगन्नियन्ता के रूप में होती है। धर्मकाय की अवस्था में पारमार्थिक सत्य अर्थात् बुद्ध प्राणीमात्र के कल्याण की चिन्ता करता है। वह महात्माओं के रूप में अवतीर्ण होकर प्राणियों को दुःखों से छुड़ाने में सहायक होता है। इस तरह धर्मकाय के रूप में बुद्ध मानो ईश्वर में ही परिवर्त्तित हो जाता है। दुःखित मानव बुद्ध को ईश्वर मानकर उसकी सहायता, प्रीति तथा दया की अपेक्षा करने लगता है। इस रूप में बुद्ध को 'अमिताभ बुद्ध' कहते हैं। इस प्रकार बुद्ध को ईश्वर मानकर महायानी अपनी धार्मिक प्रवृत्तियों की रक्षा करते हैं।

आत्मा में पुनर्विश्वास

(३) *आत्मा में पुनर्विश्वास*—प्राचीन बौद्ध-दर्शन में आत्मा का अस्तित्व नहीं माना गया है। यह भी साधारण मनुष्य की अशांति तथा आशंका का कारण है। यदि आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है तो मुक्ति किसकी होगी? महायान के अनुसार केवल हीनात्मा को मिथ्या माना गया है। पारमार्थिक आत्मा अर्थात् महात्मा मिथ्या नहीं है। इस तरह जब हीनात्मा के स्थान पर महात्मा का अस्तित्व स्थापित होता है तो महायानियों में आशा का पुनः संचार होता है।

वर्त्तमान समय में हीनयान तथा महायान में परस्पर घोर विरोध पाया जाता है। किन्तु जो तटस्थ होकर इस विरोध को समझने की कोशिश करते हैं, वे देखते हैं कि इसके पीछे आदर्शों का विरोध निहित है। हीनयान का सम्बन्ध आदर्श की शुद्धता या स्वच्छता से है। किन्तु महायान का सम्बन्ध उसकी उपयोगिता से है। बौद्धधर्म की तुलना हम एक नदी के साथ कर सकते हैं। नदी की धारा स्रोत-स्थान के निकट अत्यन्त संकीर्ण रहती है, किन्तु उसका जल परम निर्मल रहता है। स्रोत के निकट वह ऊँचे-ऊँचे पर्वतों के बीच होकर प्रवाहित होती है। किन्तु वही जब पर्वतमालाओं से नीचे उतरती है तो नीचे के विस्तीर्ण भूमिखंडों को आप्लावित करने लगती है। ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ती है, उसके साथ अन्य अनेक धाराएँ आकर मिलती जाती हैं। फलस्वरूप उसकी जल-राशि बढ़ती जाती है और क्रमशः वह मलिन होती जाती है। इस जल-धारा का पहला भाग मानो हीनयान है तथा दूसरा भाग महायान है। हीनयान महायान के बिना उच्च तथा स्वच्छ तो रह सकता है किन्तु अधिक उपयोगी नहीं हो सकता। महायान हीनयान के बिना कायम ही नहीं रह सकता है।

———

Unit - II

५

न्याय-दर्शन

१. विषय-प्रवेश

न्याय-दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि गौतम थे। गौतम तथा अक्षपाद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। अतः न्याय का दूसरा नाम अक्षपाद-दर्शन भी है। न्याय-दर्शन में प्रधानतः शुद्ध विचार के नियमों तथा तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के उपायों का वर्णन किया गया है। न्याय के अध्ययन से युक्तियुक्त विचार करने तथा आलोचना करने की शक्ति बढ़ती है। इसलिये न्याय को न्याय-विद्या, तर्क-शास्त्र तथा आन्वीक्षिकी भी कहते हैं। आन्वीक्षिकी युक्तिपूर्वक आलोचना को कहते हैं।

न्याय के प्रवर्त्तक गौतम थे

न्याय-दर्शन का अन्तिम उद्देश्य यथार्थ-ज्ञान या तार्किक आलोचना के नियमों का अन्वेषण करना नहीं है। इसका भी उद्देश्य अन्य दर्शनों की तरह मोक्ष-प्राप्ति है। अर्थात् जीवन के दुःखों का किस तरह नाश हो इसका उपाय ढूंढ़ निकालना ही इसका अन्तिम उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना तथा यथार्थ-ज्ञान के नियमों को जानना अत्यन्त आवश्यक है। अतः अन्य दर्शनों की तरह न्याय भी जीवन की समस्यायों का ही समाधान करता है। किन्तु विशेषतः इसका सम्बन्ध तर्क-विज्ञान तथा प्रमाण-विज्ञान से है।

न्याय का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग है

न्याय-दर्शन का मूल-ग्रन्थ गोतम का *न्याय-सूत्र* है। न्याय-सूत्र में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में विभक्त है।

न्याय-दर्शन का संक्षिप्त इतिहास

न्याय-सूत्र के बाद न्याय-भाष्य के अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जैसे वात्स्यायन का *न्याय-भाष्य*, उद्योतकर का *न्याय-वार्त्तिक*, वाचस्पति की *न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-टीका*, उदयन की *न्याय-वार्त्तिक-तात्पर्य-परिशुद्धि* तथा *कुसुमांजलि*, जयन्त की *न्याय-मंजरी* इत्यादि। इन ग्रन्थों में न्याय-सूत्र के विचारों की विशद व्याख्या की गई है और न्याय-सूत्र के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं उनका खंडन किया गया है। प्राचीन समय के न्याय को *प्राचीन-न्याय* कहते हैं तथा आधुनिक काल के न्याय को *नव्य-न्याय* कहते हैं। प्राचीन न्याय के अन्तर्गत गोतम का न्याय-सूत्र, उसके भाष्य, उसके विरुद्ध किये गये आक्षेप, उनका खंडन—ये सभी हैं। नव्य-न्याय का प्रारम्भ गंगेश की *तत्त्व-चिन्तामणि* से हुआ है। नव्य-न्याय का प्रचार प्रारम्भ में मिथिला में हुआ। वहाँ इसकी बड़ी प्रगति हुई। किंतु आगे चलकर इसने बंगाल को सुशोभित किया। बंगाल में इसके पठन-पाठन का केन्द्र नवद्वीप था। नव्य-न्याय में न्याय-दर्शन के तर्क-विज्ञान-सम्बन्धी विषयों का ही विशद विचार है। नव्य-न्याय के उत्थान के बाद प्राचीन-न्याय का प्रचार बहुत कम हो गया और वह अधिक लोकप्रिय न रह सका। नव्य-न्याय के उत्थान तथा प्रचार के बाद न्याय-दर्शन तथा वैशेषिक दर्शन एक साथ सम्मिलित हो गये। इसे न्याय-वैशेषिकमत कहते हैं।

षोडश पदार्थ

सम्पूर्ण न्याय-दर्शन को चार खंडों में बाँटा जा सकता है। प्रथम खंड में प्रमाण-सम्बन्धी, दूसरे में भौतिक जगत् सम्बन्धी, तीसरे में आत्मा तथा मोक्ष सम्बन्धी, तथा चौथे में ईश्वर-सम्बन्धी विचार किये जा सकते हैं। किंतु न्याय-दर्शन का जो अपना मौलिक रूप है उसके अनुसार उसमें सोलह पदार्थों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। वे पदार्थ ये हैं—

(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान । यहाँ प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है—

१. प्रमाण किसी विषय का यथार्थ-ज्ञान पाने का करण या उपाय है। इसके द्वारा यथार्थ-ज्ञान ही मिल सकता है। इससे यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने के सभी उपायों का बोध होता है । न्याय के अनुसार जितने पदार्थ हैं, सबों में यही प्रधान है। इसका विशद वर्णन आगे के पृष्ठों में किया जायगा।

२. प्रमाण के द्वारा जो विषय जाने जाते हैं उन्हें प्रमेय कहते हैं। गौतम के अनुसार प्रमेय ये हैं—(१) आत्मा; (२) शरीर जो जीव के विभिन्न व्यापारों का, इन्द्रियों का तथा सुख-दुःखों का आश्रय है; (३) गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द की इन्द्रियाँ; (४) इन्द्रियों के अर्थ या विषय अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द; (५) बुद्धि जिसे ज्ञान और उपलब्धि भी कहते हैं; (६) मन जो अन्तरिन्द्रिय या अन्तःकरण है और जिससे सुख, दुःख, आदि का अनुभव होता है और जो अणु होने के कारण तथा एक शरीर में एक ही होने के कारण एक समय में एक ही विषय का अनुभव कर सकता है; (७) प्रवृत्ति जो अच्छी या बुरी हो सकती है और जो वाचिक, मानसिक या शारीरिक हो सकती है; (८) दोष अर्थात् राग-द्वेष एवं मोह जो हमारी अच्छी या बुरी सभी प्रवृत्तियों के मूल हैं; (९) प्रेत्यभाव अर्थात् पुनर्जन्म जो हमारे अच्छे या बुरे कर्मों से होता है; (१०) फल अर्थात् सुख-दुःख का अनुभव जो हमारे दोषों के कारण हमारी प्रवृत्तियों से उत्पन्न होता है; (११) दुःख जो इतना कटु है कि उसका अनुभव सबों को प्राप्त ही है; (१२) अपवर्ग अर्थात् दुःखों से पूर्ण विमुक्ति की अवस्था जिसके बाद फिर दुःखों की कोई सम्भावना नहीं

रहती †। इन बारह प्रमेयों के अतिरिक्त और भी प्रमेय हैं। वात्स्यायन कहते हैं ❀ कि गौतम ने यहाँ केवल उन प्रमेयों का उल्लेख किया है जिनका ज्ञान मोक्ष-प्राप्ति के लिये अत्यावश्यक है।

३. संशय मन की वह अवस्था है जिसमें मन के सामने दो या अधिक विकल्प (कोटि) उपस्थित होते हैं। इसका कारण यह है कि इस अवस्था में किसी एक विषय के विशेष धर्म का ज्ञान नहीं रहता, प्रत्युत एक से अधिक विषयों के साधारण धर्म का ही ज्ञान रहता है। जब हम दूरस्थ किसी वस्तु की साधारण आकृति, लम्बाई एवं मुटाई को ही देख पाते हैं, लेकिन हाथ, पैर, पत्थर आदि विशेष धर्मों को नहीं देख पाते तो हमारे मन में यह संशय उत्पन्न होता है कि यह मनुष्य है या स्तम्भ? संशय न तो निश्चित ज्ञान है, न यह ज्ञान का पूर्ण अभाव है, और न यह भ्रम या विपर्यय ही है। यह ज्ञान की ही एक अवस्था है जिसमें किसी एक विषय के सम्बन्ध में साथ ही साथ दो विप्रतिपत्तियाँ (विरुद्ध विचार) मन में उठती हैं ‡।

४. प्रयोजन उसे कहते हैं जिसकी प्राप्ति के लिये या जिसका वर्णन करने के लिये हम कोई कार्य करते हैं। हम या तो इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के लिये या अनिष्ट वस्तु का त्याग करने के लिये ही कोई कार्य करते हैं। ये दोनों ही प्रयोजन कहलाते हैं।

५. दृष्टान्त सर्वसम्मत उदाहरण को कहते हैं जिसके द्वारा युक्ति की पुष्टि होती है। यह किसी विवाद या तर्क का एक आवश्यक और उपयोगी अंग है। दृष्टान्त ऐसा होना चाहिये जिसे वादी और प्रतिवादी दोनों ही एकमत से स्वीकार करें। जब कोई कहता है कि अमुक स्थान में आग अवश्य होगी क्योंकि वहाँ धुआँ है तो वह चूल्हे

---

† देखिये न्याय-सूत्र और भाष्य, १.१.६-२२

❀ भाष्य १.१.६

‡ न्याय-सूत्र और भाष्य १.१.२३

का दृष्टान्त दे सकता है क्योंकि चूल्हे के सम्बन्ध में तो यह सभी मानते हैं कि वहाँ धुआँ भी है और आग भी है।

६. सिद्धान्त उसे कहते हैं जो किसी दर्शन के अनुसार युक्ति-सिद्ध सत्य माना जाता है। यदि कोई दर्शन किसी मत को प्रतिष्ठित सत्य मानता है तो वह उस मत का सिद्धान्त समझा जाता है। जैसे न्याय-दर्शन का यह एक सिद्धान्त है कि चैतन्य आत्मा का आगन्तुक या आकस्मिक गुण है। उसी तरह भारतीय दर्शनों में यह सर्वतन्त्र या सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि बाह्य वस्तुओं के ज्ञान के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है।

७. अवयव—जब किसी मत या सिद्धान्त को अनुमान के द्वारा सिद्ध करने की आवश्यकता होती है तो अनुमान पाँच वाक्यों से बना होता है। इन वाक्यों को अवयव कहते हैं। किन्तु जो वाक्य अनुमान का अंग नहीं है उसे अवयव नहीं कह सकते हैं। इन अवयवों का विस्तृत वर्णन हम अनुमान-प्रकरण में करेंगे।

८. तर्क उस युक्ति को कहते जिसमें किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिये उसकी विपरीत-कल्पना के दोष दिखलाये जाते हैं। यह एक प्रकार का ऊह (कल्पना) है। इसलिये यह प्रमाणों के अन्दर नहीं आता। लेकिन यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति में यह बड़ा सहायक होता है। इसकी विस्तृत व्याख्या आगे की जायगी।

६. निर्णय किसी विषय के संबंध में निश्चित ज्ञान को कहते हैं। इसकी प्राप्ति किसी प्रमाण के द्वारा ही होती है। संशय के दूर होने पर ही निर्णय पर पहुंचा जा सकता है और इसके लिये सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष की सभी युक्तियों का विचार करना आवश्यक होता है। संशय के निराकरण के बाद ही निर्णय की प्राप्ति होती है। इसकी प्राप्ति के बाद निर्णायक के मन में कुछ भी संशय अवशिष्ट नहीं रहता। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि किसी प्रमाण के द्वारा किसी विषय के सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान पाना ही निर्णय है।

१०. वाद उस विवाद को कहते हैं जो तर्क-शास्त्र के नियमों के अनुसार होता है और जिसका उद्देश्य विवाद-विषय के सम्बन्ध में यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करना है। वाद में वादी और प्रतिवादी दोनों ही अपने मत की पुष्टि करना चाहते हैं और दूसरे के मत का खंडन करना चाहते हैं। किन्तु दोनों ही का उद्देश्य यथार्थ-ज्ञान की प्राप्ति करना ही रहता है। गुरु और शिष्य यदि सच्चे जिज्ञासु हों तो उनमें जो आपस में विवाद होता है उसे हम वाद कह सकते हैं।

११. जल्प—वादी और प्रतिवादी के कोरे वाद-विवाद को, जिसका उद्देश्य यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करना नहीं होता है, जल्प कहते हैं। इसमें वाद के सभी लक्षण तो वर्त्तमान रहते हैं, लेकिन इसमें सत्य-प्राप्ति की इच्छा का ही अभाव रहता है। यहाँ वादियों का उद्देश्य केवल विजय प्राप्त करना रहता है, जिसका फल यह होता है कि वे जान बूझकर भी दुष्ट युक्तियों का प्रयोग करते हैं। वकील कभी-कभी अपनी बहस में जल्प का प्रयोग करते हैं।

१२. वितण्डा वह है जिसमें वादी अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता, केवल प्रतिवादी के पक्ष का खंडन ही करता है। जल्प में वादी किसी न किसी तरह अपने मत का प्रतिपादन करता है और प्रतिवादी के मत का खंडन कर उस पर विजय प्राप्त करना चाहता है, किन्तु वितण्डा में तो वह केवल प्रतिवादी के मत का जैसे-तैसे खंडन करके ही जीतना चाहता है। इसके सिवा अन्य बातों में जल्प और वितण्डा में पूरा साम्य है। अतः हम वितण्डा को निरर्थक बकवाद कह सकते हैं जिसमें वादी प्रतिवादी के मत का केवल खंडन ही करता है। जैसे, अपने पक्ष को साबित करने के बदले दूसरे पक्ष के वकील को गाली देना।

१३. हेत्वाभास उस हेतु को कहते हैं जो वस्तुतः हेतु नहीं है, लेकिन हेतु के जैसा प्रतीत होता है। सामान्यतः अनुमान के दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। अनुमान-प्रकरण में हेत्वाभासों का अलग-अलग वर्णन किया जायगा।

१४. छल एक प्रकार के दुष्ट उत्तर का नाम है। जब प्रतिवादी वादी के शब्दों का विवक्षित अर्थात् बोधित अर्थ को छोड़कर कोई दूसरा अर्थ ग्रहण करके दोष दिखलाता है तो उसे छल कहते हैं। मान लीजिये कोई कहता है कि 'बालक नव-कम्बल वाला है'। उसके कहने का आशय है कि बालक को एक नया कम्बल है। अब यदि 'नव-कम्बल' का दूसरा अर्थ लेकर यह आक्षेप किया जाय कि 'नहीं, बालक नव-कम्बल नहीं है अर्थात् उसके पास नौ कम्बल नहीं हैं तो यह छल होगा। व्यापक अर्थ में प्रयुक्त शब्द को संकुचित अर्थ में लेकर या मुख्यार्थ को छोड़ कर गौण या लाक्षणिक अर्थ को लेकर आक्षेप करना भी छल होगा।

१५. जाति— 'जाति' शब्द यहाँ एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यह भी दूसरे प्रकार का दुष्ट उत्तर है। जब हम वादी की दोष-रहित युक्ति का खंडन करने के लिये किसी भी प्रकार के सादृश्य या वैषम्य पर अवलम्बित दुष्ट अनुमान की सहायता लेते हैं तो उस अनुमान को जाति कहते हैं। मान लीजिये एक अनुमान है कि 'शब्द अनित्य है, क्योंकि यह घट की भाँति एक कार्य है।' अब यदि इस अनुमान का खंडन करने के लिये कोई कहे कि 'नहीं, शब्द नित्य है, क्योंकि यह दिक् की तरह अशरीरी है, तो यह एक जाति होगी, क्योंकि नित्य और अशरीरी में कोई व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है।

१६. निग्रहस्थान—वाद-विवाद में जहाँ पराजय का स्थान पहुँच जाता है, उसे निग्रह-स्थान कहते हैं। निग्रह-स्थान के दो कारण हैं—एक तो गलत ज्ञान, दूसरा अज्ञान। जब कोई वादी अपनी या अपने विपक्ष की युक्तियों को गलत समझता है या समझ ही नहीं सकता तो वह एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ उसे हार माननी पड़ती है। जब वाद-विवाद में कोई प्रतिज्ञा या हेतु को बदलता है या दोषपूर्ण युक्तियों की सहायता लेता है तो वह भी उसके पराजय का कारण होता है।

न्याय-दर्शन तर्कप्रधान वस्तुवाद है। वस्तुवाद उस मत को कहते हैं जिसके अनुसार बाह्य-वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान पर निर्भर नहीं होता। अर्थात् वस्तुओं का अस्तित्व मन या ज्ञाता से स्वतंत्र रहता है। मानसिक भावों का तथा सुख-दुःख की भावनाओं का अस्तित्व मन पर निर्भर होता है। जब तक मन के द्वारा इनकी अनुभूति नहीं होती है, तब तक उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता है। किन्तु घट, पट, वृक्ष, पशु जैसे बाह्य पदार्थ हमारे मन पर निर्भर नहीं हैं। हमें इन वस्तुओं का ज्ञान हो या न हो, इनका अपना अस्तित्व है। वस्तुवाद वह दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार किसी भी वस्तु का अस्तित्व आत्मा के ज्ञान पर निर्भर नहीं होता। किन्तु विज्ञानवाद के अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञान ही के कारण है। ज्ञान से पृथक् उनका कोई अस्तित्व नहीं है। जिस तरह भावनाओं का या विचारों का अस्तित्व मन के अन्तर्गत है, उसी तरह सांसारिक वस्तुओं का अस्तित्व भी हमारे या ईश्वर के मन के अन्तर्गत है। न्याय वस्तुवादी इसलिये है कि न्याय के अनुसार संसार की सभी वस्तुएँ ज्ञान या मन पर निर्भर नहीं हैं। न्याय का वस्तुवाद अनुभव एवं तर्क पर अवलम्बित है। न्याय के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति अर्थात् जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने पर ही हो सकती है। किन्तु तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के पहले यह जानना आवश्यक है कि ज्ञान क्या है, ज्ञान-प्राप्ति के क्या-क्या उपाय हैं, यथार्थ-ज्ञान में और मिथ्या-ज्ञान में क्या भेद है, इत्यादि। अतः न्याय-वस्तुवाद ज्ञान-सम्बन्धी विचारों पर पूरा-पूरा अवलम्बित है। वस्तुतः दर्शन मात्र का आधार प्रमाण-विचार है। इस प्रकार हम देखते हैं कि न्याय-दर्शन को तर्कप्रधान वस्तुवाद कहना बिलकुल ठीक है।

न्याय वस्तुवादी है

२. प्रमाण-विचार

न्याय का तत्त्व-विचार उसके प्रमाण-विचार पर अवलम्बित है। इसके अनुसार यथार्थ-ज्ञान प्राप्त करने के चार उपाय हैं। (१) प्रत्यक्ष

(२) अनुमान, (३) उपमान, तथा (४) शब्द। हम एक-एक कर इनकी व्याख्या करेंगे। किन्तु इन प्रमाणों की व्याख्या करने के पहले हमें जान लेना चाहिये कि ज्ञान क्या है, ज्ञान के कितने भेद हैं, और यथार्थ-ज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान में क्या अन्तर है।

(१) ज्ञान का स्वरूप और उसके भेद

वस्तुओं की अभिव्यक्ति को ज्ञान या बुद्धि कहते हैं। जिस तरह किसी दीये का प्रकाश वस्तुओं को प्रकाशित करता है उसी तरह ज्ञान भी अपने विषयों को प्रकाशित करता है। ज्ञान कई प्रकार का होता है। पहले तो ज्ञान के दो भेद हैं—प्रमा (प्रमिति) तथा अप्रमा। प्रमा यथार्थ-ज्ञान को कहते हैं। प्रमा के चार भेद हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द। अप्रमा मिथ्या-ज्ञान को कहते हैं। अप्रमा चार प्रकार की होती है। स्मृति, संशय, भ्रम (विपर्यय) तथा तर्क। प्रमा किसी वस्तु के असंदिग्ध तथा यथार्थ-अनुभव को कहते हैं। हाथ की कलम का जो मुझे अभी प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है यह यथार्थ-ज्ञान है। क्योंकि इस प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा कलम का ठीक-ठीक ज्ञान मुझे मिल रहा है और इसमें मुझे जरा भी संदेह नहीं हो रहा है। स्मृति को यथार्थ-ज्ञान नहीं कह सकते हैं। क्योंकि स्मृति किसी बीती हुई वस्तु या घटना की होती है। स्मृति के द्वारा उसका साक्षात्कार नहीं होता। उसका मन के द्वारा केवल स्मरण होता है ❀। संशयात्मक ज्ञान को प्रमा नहीं कह सकते हैं, क्योंकि इसमें असंदिग्ध ज्ञान नहीं होता। यद्यपि भ्रम में कोई संशय नहीं है और वह प्रत्यक्ष भी हो सकता है, फिर भी वह विषय का यथार्थरूप प्रकाशित नहीं

ज्ञान क्या है?

दो प्रकार के ज्ञान, प्रमा और अप्रमा

प्रमा क्या है?

अप्रमा के भेद—स्मृति, संशय, भ्रम और तर्क

❀ कुछ मीमांसक स्मृति को प्रमा इसलिये नहीं मानते कि इसके द्वारा कोई नया ज्ञान नहीं प्राप्त होता। इसके द्वारा किसी बीते अनुभव की पुनरावृत्ति होती है, किसी अनधिगत या नये विषय का ज्ञान नहीं होता।

करता। ऐसा होता है कि सायंकाल किसी रस्सी को हम साँप समझ लेते हैं। ऐसी अवस्था में जो साँप का ज्ञान होता है, वह संशयात्मक नहीं होता। जब तक साँप का ज्ञान रहता है तब तक वह बिलकुल असंदिग्ध रहता है। लेकिन फिर भी यह सत्य नहीं है, क्योंकि इसमें यथार्थानुभव नहीं होता। तर्क भी प्रमा नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा वस्तुओं का कुछ भी ज्ञान नहीं मिलता। तर्क का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। मान लीजिये, आप अपनी कोठरी की खिड़की के निकट बैठे हुए हैं। खिड़की से आप देखते हैं कि दूर के एक घर से धुआँ उठ रहा है। आप कहते हैं कि उस घर में आग लग गई है। आपके निकट बैठा हुआ आपका मित्र कहता है कि आग नहीं लगी है। आप तर्क करते हैं कि यदि आग नहीं लगी है तो धुआँ नहीं उठ सकता। 'यदि ऐसा न हो तो ऐसा नहीं हो सकता'— इस तरह की युक्ति देकर आप अपने मित्र के कथन का खंडन करना और अपने कथन की पुष्टि करना चाहते हैं। इसी प्रकार की युक्ति को तर्क कहते हैं। इसे प्रमा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इसके द्वारा किसी वस्तु का यथार्थानुभव नहीं होता। जैसे, ऊपर के उदाहरण में आग का अनुभव नहीं होता, वरं धुएँ के आधार पर आग के सम्बन्ध में जो अनुमान किया गया है, केवल उसीकी पुष्टि होती है। आप कहते हैं कि यदि आग न रहे तो धुआँ न हो। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि इसके द्वारा आपको आग का प्रत्यक्ष-ज्ञान हुआ या अनुमान-सिद्ध ज्ञान ही हुआ।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रमा और अप्रमा में भेद क्या है? अर्थात् ज्ञान कब सत्य होता और कब असत्य होता है? ज्ञान

प्रमा और अप्रमा का भेद

तभी सत्य होता है जब वह अपने विषय के यथार्थ-रूप को प्रकाशित करता है। ऐसा नहीं होने पर उसे असत्य समझना चाहिये। मान लीजिये आप किसी फूल को देखकर कहते हैं कि वह फूल लाल है। आपका यह ज्ञान सत्य तभी समझा जा सकता है, जब वह फूल वास्तव में लाल

हो। आप का यह समझना कि सूर्य चलायमान है गलत है, क्योंकि वस्तुतः गति पृथ्वी में है और हम गलती से सूर्य को गतिशील समझते हैं। सूर्य तो अपेक्षाकृत गतिहीन है। यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि हम कैसे समझते हैं कि उपर्युक्त उदाहरणों में पहले का ज्ञान सत्य है तथा दूसरे का मिथ्या है ? अर्थात् हम किसी ज्ञान की सत्यता या असत्यता की परख कैसे करते हैं ? वैशेषिक, जैन तथा बौद्ध दार्शनिकों की तरह नैयायिक उपर्युक्त प्रश्न का इस प्रकार समाधान करते हैं। मान लीजिये कि आप सुबह चाय पीने बैठे हैं। आप चाय को कुछ कम मीठी पाते हैं। आप को कुछ अधिक चीनी की जरूरत होती है। सामने रक्खे हुए वर्तन में एक प्रकार की सफेद बुकनी है जिसे चीनी समझकर अपनी चाय में मिला देते हैं। इसके बाद आपको चाय पहले से अधिक मीठी मालूम पड़ने लगती है। ऐसा होने पर ही 'यह बुकनी चीनी है'—यह ज्ञान यथार्थ साबित होता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आप नमक को चीनी समझकर चाय में मिला देते हैं। किन्तु चाय पीने पर आपको पता चलता है कि वह चीनी नहीं वरं नमक था। इस तरह हम देखते हैं कि ज्ञान जब ज्ञात वस्तु के यथार्थ धर्म का प्रकाशक नहीं होता तब वह अयथार्थ होता है*। यथार्थ-ज्ञान तथा मिथ्या-ज्ञान के पार्थक्य को समझने के लिये एक दूसरा भी ढंग है। किसी वस्तु के ज्ञान के आधार पर यदि हम उस वस्तु के सम्बन्ध में कुछ कार्य करें और वे कार्य सफल निकलें तो उस ज्ञान को यथार्थ समझना चाहिये। किन्तु सफलता के बदले यदि विफलता प्राप्त हो तो उस ज्ञान को मिथ्या समझना चाहिये। यथार्थ-ज्ञान से सफलता मिलती है तथा मिथ्या-ज्ञान से विफल होना पड़ता है। इन्हें क्रमशः प्रवृत्तिसामर्थ्य तथा प्रवृत्तिविसंवाद कहते हैं†।

---

* तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं यथार्थम्। तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं भ्रमः।

† पूरी व्याख्या के लिये श्रीयुत सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का The Nyaya Theory of Knowledge, तृतीय तथा पंचम अध्याय, देखिये।

(२) प्रत्यक्ष

पाश्चात्य तर्क-विज्ञान में प्रत्यक्ष-प्रमाण की समस्याओं का पूरा समाधान नहीं हुआ है। हम साधारणतः प्रत्यक्ष-ज्ञान को यथार्थ समझते हैं। साधारणतया कोई भी अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान को झूठ नहीं समझता है। अतः प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता के विषय में छान-बीन करना हास्यास्पद नहीं तो कम से कम अनावश्यक जरूर समझा जाता है। भारतीय दार्शनिक इस सम्बन्ध में अधिक अन्वेषी हैं। इन्होंने प्रत्यक्ष-सम्बन्धी समस्याओं का उसी प्रकार अनुसंधान किया है जिस प्रकार पाश्चात्य दार्शनिकों ने अनुमान सम्बन्धी समस्याओं का किया है।

(क) प्रत्यक्ष का लक्षण

प्रमा का अर्थ यथार्थ ज्ञान है। अतः प्रत्यक्ष-प्रमा का निम्न-लिखित लक्षण बतलाते हैं। प्रत्यक्ष उस असंदिग्ध अनुभव को कहते हैं जो इन्द्रिय-स्पर्श से उत्पन्न होता है और यथार्थ भी होता है[1]। मेरे सामने जो पुस्तक है उसका ज्ञान मेरी आँखों तथा पुस्तक के सम्पर्क से होता है। साथ-साथ मैं बिलकुल असंदिग्ध भाव से समझता हूँ कि यह वस्तु पुस्तक है। दूर की किसी वस्तु को मैं मनुष्य या कोई स्तम्भ समझता हूँ। इसका अर्थ यह होता है कि उस वस्तु के सम्बन्ध में मेरा असंदिग्ध ज्ञान नहीं है। अतः इस ज्ञान को यथार्थ-ज्ञान नहीं कहा जा सकता। रस्सी को जब साँप समझ लिया जाता है तो वह ज्ञान असंदिग्ध तो होता है किन्तु यथार्थ नहीं होता। अतः भ्रमात्मक ज्ञान को भी यथार्थ प्रत्यक्ष नहीं मान सकते हैं।

प्रत्यक्ष क्या है ?

वस्तु के साथ इन्द्रिय के सम्पर्क होने से जो अनुभव उत्पन्न होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष के इस लक्षण को अनेक भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक भी इसे मानते हैं। किन्तु कुछ नैयायिक तथा वेदान्ती इसे नहीं मानते हैं।

[1] न्यायसूत्र, १.१.४

इनका कथन है कि इन्द्रिय-संयोग के विना भी प्रत्यक्ष-ज्ञान हो सकता है। ईश्वर को सभी विषयों का प्रत्यक्ष-ज्ञान है, किंतु ईश्वर को इन्द्रियाँ नहीं है। जब रस्सी को भ्रमवश मैं साँप समझ लेता हूँ तो इन्द्रिय-स्पर्श का अभाव रहता है, क्योंकि वहाँ कोई वास्तविक साँप नहीं है जिसके साथ आँखों का सम्पर्क हो। सुख-दुःख आदि जितने मनोभाव हैं सबों का प्रत्यक्ष इन्द्रिय-स्पर्श के विना ही होता है। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रिय-स्पर्श प्रत्यक्ष-ज्ञान के सभी भेदों का सामान्य-लक्षण नहीं है। अतः इन्द्रिय-स्पर्श प्रत्यक्ष के लिये नितान्त आवश्यक नहीं है। प्रत्यक्षों का सामान्य-लक्षण इन्द्रिय-स्पर्श नहीं, वरं साक्षात्-प्रतीति है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष-ज्ञान तब होता है जब उसका साक्षात्कार होता है, अर्थात् जब उस वस्तु का ज्ञान विना किसी पुराने अनुभव या विना किसी अनुमान के होता है*। मध्याह्न के समय यदि आप अपना मस्तक ऊपर उठावें तो आपको सूर्य का ज्ञान बिना किसी अनुमान के प्राप्त हो जायगा। किसी अनुमान की वहाँ न तो कोई आवश्यकता है न अनुमान करने का समय ही रहता है, क्योंकि सूर्य का ज्ञान मस्तक के ऊपर उठाने के साथ ही हो जाता है। अतः कुछ भारतीय तार्किक साक्षात्-प्रतीति को ही प्रत्यक्ष कहते हैं, यद्यपि वे मानते हैं कि अधिकांश प्रत्यक्ष इन्द्रिय-स्पर्श के कारण ही होते हैं†।

(ख) प्रत्यक्षों का प्रकार-भेद

प्रत्यक्ष के भेदों का निरूपण कई प्रकार से किया जा सकता है।

लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष

एक प्रकार से प्रत्यक्ष लौकिक या अलौकिक हो सकता है। इस विभेद में यह देखा गया है कि इन्द्रिय का वस्तु के साथ किस तरह संयोग होता है। साधारण

---

* देखिये तर्क-भाषा, (पृ० ५); सिद्धान्त मुक्तावली, (पृ० २३५-३६); तत्त्व चिंतामणि (पृ० ५३१-४३, ५५२)।

† ज्ञानाकरणकं ज्ञानम् (प्रत्यक्षः)—गंगेश उपाध्याय, तत्त्व-चिंतामणि

ढंग से जब इन्द्रिय का स्पर्श वस्तु के साथ होता है तब लौकिक प्रत्यक्ष होता है। लौकिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—वाह्य तथा मानस। वाह्य प्रत्यक्ष आँख, नाक, कान, त्वचा तथा जिह्वा के द्वारा होता है। मानस प्रत्यक्ष मानसिक अनुभूतियों के साथ मन के संयोग से होता है। इस तरह लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार के होते हैं। चाक्षुप, श्रौत, स्पार्शन, रासन, घ्राणज तथा मानस। अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। सामान्य-लक्षण, ज्ञान-लक्षण, तथा योगज।

वाह्य और मानस प्रत्यक्ष

न्याय के अनुसार।(वैशेषिक, जैन, तथा मीमांसा के अनुसार भी) छः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनमें पाँच वाह्य हैं तथा एक अन्तरिन्द्रिय है। वाह्य इन्द्रियाँ ये हैं—नाक, जिह्वा, आँख, त्वचा और कान। इनके द्वारा क्रमशः गन्ध, रस, रंग, स्पर्श और शब्द का ज्ञान प्राप्त होता है। ये इन्द्रियाँ भौतिक होती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय उस भौतिक तत्त्व से निर्मित है जिसका विशेष गुण वह जान सकती है। इस बात के प्रमाण में यह कहा जा सकता है कि अधिकांश इन्द्रियों के सम्बन्ध में हम वे ही नाम व्यवहृत करते हैं जो उनके द्वारा ज्ञातव्य भौतिक गुणों के सम्बन्ध में करते हैं। इसके पीछे शायद यह सिद्धान्त निहित है कि सदृश ही सदृश का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मन अन्तरिन्द्रिय है। इसके द्वारा आत्मा की इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख तथा दुःख का प्रत्यक्ष होता है। यह वाह्य इन्द्रियों की तरह भूतों का बना हुआ नहीं है। इसकी ज्ञान-शक्ति किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं के ज्ञान में ही सीमित नहीं रहती, वरं सभी प्रकार के ज्ञानों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के लिये यह केन्द्रीय 'इन्द्रिय का काम करता है। न्याय की तरह वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा प्रभृति भी मन को अन्तरिन्द्रिय मानते हैं। किन्तु कुछ वेदान्ती इस मत का विरोध तथा तिरस्कार करते हैं।

ज्ञान के छः करण

(ग) अलौकिक-प्रत्यक्ष

अलौकिक प्रत्यक्ष तीन प्रकार का होता है। पहला सामान्य-लक्षण कहलाता है। हम कहते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं।

अलौकिक के तीन भेद-(१) सामान्य-लक्षण

इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल अमुक-अमुक मनुष्य मरणशील हैं। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि केवल मृत मनुष्य ही मरणशील थे। वरं इसका तो अर्थ यह है कि जितने भी मनुष्य हैं, चाहे वे अतीत काल के हों, वर्त्तमान काल के हों या भविष्य के हों, सभी मरणशील हैं। अर्थात् मृत्यु केवल विशेष-विशेष मनुष्य के लिये लागू नहीं होती, वरं मनुष्य जाति के लिये लागू है। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि हम मनुष्य-जाति के बारे में कैसे जानते हैं? साधारण या लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा हम मनुष्य-जाति को नहीं जान सकते क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति का अर्थात् सभी मनुष्यों का इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है। लेकिन फिर भी यह निर्विवाद है कि सम्पूर्ण मनुष्य-जाति का ज्ञान हम लोगों को प्राप्त होता है। अन्यथा हम यह कभी नहीं कह सकते कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। नैयायिक कहते हैं कि मनुष्य-जाति का ज्ञान अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। अर्थात् मनुष्यमात्र का ज्ञान उसके सामान्य-गुण 'मनुष्यत्व' के द्वारा होता है। जब हम किसी व्यक्ति को देख कर उसे मनुष्य समझते हैं तो हमें उसमें अवश्य ही मनुष्यत्व का भी प्रत्यक्ष होता है, अन्यथा हम नहीं कह सकते कि प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा ही हम जानते हैं कि वह मनुष्य है। मनुष्यत्व का प्रत्यक्ष अनुभव होने का ही अर्थ है मनुष्यत्व-धर्म-विशिष्ट सभी व्यक्तियों को जानना। इस प्रकार के प्रत्यक्ष-ज्ञान को सामान्य-लक्षण प्रत्यक्ष कहते हैं, क्योंकि सामान्य-ज्ञान के द्वारा ही इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। इसे अलौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत इसलिये रक्खा गया है कि यह साधारण या लौकिक प्रत्यक्ष से भिन्न है।

अलौकिक प्रत्यक्ष के दूसरे भेद को ज्ञान-लक्षण कहते हैं। हम प्रायः कहते हैं कि 'बर्फ ठंढी दीख पड़ती है' 'पत्थर ठोस दीख पड़ता है' 'घास मुलायम दीख पड़ती' है इत्यादि। यदि इनवाक्यों को अक्षरशः लिया जाय तो इनसे यही अर्थ निकलेगा कि बर्फ का ठंढापन, पत्थर का ठोसपन, या घास का मुलायम होना आँखों के द्वारा देखा जा सकता है। लेकिन ठंढापन या ठोसपन तो स्पर्श के द्वारा जाना जा सकता है। उसे आँखें कैसे देख सकती हैं ? उण्ड, (Wundt) वार्ड, (Ward) तथा स्टाउट (Stout) जैसे पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ऐसे अनुभवों को Complication का नाम देते हैं ❀। Complication के अनुसार भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होते हैं वे आपस में मिलकर एक हो जाते हैं। इस तरह एक हो जाने पर एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का भी अनुभव कर सकती है। चंदन के टुकड़े को देखकर जब कोई मनुष्य यह कहता है— 'मैं एक सुगन्धित चंदन के टुकड़े को देख रहा हूँ,' तो इसका अर्थ यह होता है कि वह व्यक्ति आँखों के द्वारा उस चंदन के गन्ध का अनुभव कर रहा है। प्रश्न उठता है कि आँखों के द्वारा गन्ध का अनुभव कैसे हो सकता है जब हम यह जानते हैं कि गन्ध का ज्ञान नाक से ही हो सकता है ? नैयायिक इसका समाधान इस प्रकार करते हैं।

(२) ज्ञान-लक्षण

अतीत में हमने कई बार चंदन-काष्ठ को देखा है। चंदन के रंग को देखने के साथ-साथ उसके गन्ध का भी घ्राण किया है। इस तरह

❀ Stout का Manual of Psychology, पृ० १०२; Wundt का Human and Animal Psychology, पृ० २८५-८६; Ward का Psychology नामक निबन्ध (Encyclopaedia Britannica नवम संस्करण, खण्ड २०, पृ० ५७) देखिये। Woodworth ने अपनी Psychology में (नवम संस्करण पृ० ११५) शीशे में बंद गुलाब के गन्ध के अनुभव को Hallucination बतलाया है।

उसके रंग में तथा गन्ध में एक सम्बन्ध स्थापित हो गया है। यही कारण है कि चंदन को देखने से ही उसके गन्ध का भी अनुभव साथ-साथ हो जाता है। इस उदाहरण में वर्त्तमान गन्ध का अनुभव अतीत के गन्ध के ज्ञान पर आधारित है। अर्थात् इस तरह का अनुभव अतीत ज्ञान के कारण होता है। इसीलिये इसे 'ज्ञान-लक्षण' प्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञान-लक्षण भी अलौकिक है, क्योंकि इसके अनुसार एक इन्द्रिय किसी दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान का अनुभव कर सकती है, जो साधारणतया संभव नहीं है।

तीसरे प्रकार के अलौकिक प्रत्यक्ष को योगज कहते हैं। इसके द्वारा भूत तथा भविष्य, गूढ़ तथा सूक्ष्म—सभी प्रकार की वस्तुओं की साक्षात् अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूति केवल उन व्यक्तियों को हो सकती है जिन्होंने अपने योगाभ्यास के द्वारा अलौकिक शक्ति प्राप्त की है। जो व्यक्ति योग में पूर्ण सिद्ध हैं उन्हें योगज शक्ति आपसे आप प्राप्त हो जाती है और उस शक्ति का कभी नाश नहीं होता। ऐसे व्यक्ति को 'युक्त' कहते हैं। जिन्होंने योग में आंशिक सिद्धि प्राप्त की है उन्हें 'युंजान' कहते हैं। युंजान व्यक्ति को योगज शक्ति आपसे आप प्राप्त नहीं हो जाती, वरं उसको इसके लिये कुछ ध्यान-धारणा की आवश्यकता पड़ती है। श्रुति तथा अन्यान्य प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर भारतीय दार्शनिक योगज प्रत्यक्ष की वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। वेदान्ती न्याय-दर्शन के सामान्य-लक्षण तथा ज्ञान-लक्षण का खंडन करते हैं और उनकी सत्यता को नहीं मानते। किंतु वे योगी प्रत्यक्ष अर्थात् योगज-ज्ञान का खंडन नहीं करते हैं क्योंकि वह तो शास्त्रसम्मत समझा जाता है ❀।

(३) योगज

(घ) लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद

पहले हम देख चुके हैं कि लौकिक प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—वाह्य तथा मानस। दूसरी दृष्टि से इसके अन्य प्रकार के और दो

❀ अद्वैत-सिद्धि, पृ० १३८-३९ ; वेदान्त-परिभाषा, अध्याय १ देखिये।

भेद हो सकते हैं—निर्विकल्पक तथा सविकल्पक। प्रत्यक्ष-ज्ञान का अविकसित या विकसित रूप इस विभेद का आधार है। प्रत्यक्ष के अविकसित रूपको निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं तथा इसके विकसित रूप को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। इन दोनों प्रकार के प्रत्यक्षों के अतिरिक्त एक प्रकार का और प्रत्यक्ष होता है जिसे प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। इस तरह नैयायिकों के अनुसार लौकिक प्रत्यक्ष के तीन रूप हैं—निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा। अलौकिक प्रत्यक्ष तो सभी सविकल्पक होते हैं क्योंकि ये तो सदाही निश्चित और स्पष्ट होते हैं।

अन्य दृष्टि से लौकिक प्रत्यक्ष के तीन भेद—

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में किसी वस्तु के अस्तित्व मात्र का ज्ञान होता है। इसमें इस बात का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता कि यह वस्तु क्या है? मान लीजिये किसी नारंगी को आप देखते हैं। जब आप उसे देख लेते हैं अर्थात् आप की आँखों के साथ उसका संयोग स्थापित हो जाता है, तब आपको उसके रूप-रंग का ज्ञान होता है और आप समझते हैं कि यह नारंगी है। इसका अर्थ यह होता है कि जिस क्षण आपने उस फल को सबसे पहले देखा अर्थात् जिस क्षण आपकी आँखों के साथ उसका सम्बन्ध स्थापित हुआ उसी क्षण आपको इस बात का ज्ञान नहीं हुआ कि यह नारंगी है। क्योंकि उस समय आपको उस वस्तु के रंग-रूप का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो सका था। उस समय केवल आपको यह ज्ञान प्राप्त हो सका था कि यह एक विशेष प्रकार की वस्तु है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। एक परीक्षार्थी को लीजिये। परीक्षा के प्रथम दिन परीक्षार्थी की मानसिक अवस्था कुछ इस तरह की रहती है कि वह परीक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु पर अपना ध्यान नहीं लगा सकता। उसका मन अधिकतर इसी उधेड़बुन में लगा रहता है कि परीक्षा में क्या प्रश्न आयेंगे? किस प्रश्न का क्या उत्तर होगा? इत्यादि। इसलिये इसकी बहुत अधिक संभावना है कि

(१) निर्विकल्पक

उस दिन प्रातःकाल स्नान करते समय उसको जल का स्पष्ट ज्ञान न हो सके। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि उस परीक्षार्थी को स्नान करते समय जल का जरा भी ज्ञान नहीं हुआ था। उसको यदि जल का कुछ भी ज्ञान नहीं हुआ होता तो वह स्नान की क्रिया सम्पन्न नहीं कर सकता। अतः यह मानना आवश्यक है कि उसको जल का कुछ-कुछ ज्ञान अवश्य हुआ था। हाँ, यह ठीक है कि उसे जल के सम्बन्ध में स्पष्ट तथा विस्तृत ज्ञान नहीं हो सका था। अर्थात् इस तरह का ज्ञान नहीं हुआ था कि 'यह जल है', 'यह तरल है', 'यह शीतल है', इत्यादि। इस तरह के अस्पष्ट प्रत्यक्ष को निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं।

किसी वस्तु के स्पष्ट तथा निश्चित प्रत्यक्ष को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। सविकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु-विषयक धर्मों का स्पष्ट ज्ञान रहता है। निर्विकल्पक में वस्तु के अस्तित्व मात्र का बोध होता है, किन्तु सविकल्पक में इस प्रकार का स्पष्ट ज्ञान मिलता है कि यह वस्तु अमुक है। नारंगी को देखकर जब हम अपने मन में यह सोचते हैं कि "यह नारंगी है" तो हमें केवल नारंगी के अस्तित्व मात्र का ज्ञान नहीं होता वरं यह भी ज्ञान होता है कि यह वस्तु एक विशेष प्रकार का फल है। अर्थात् हम स्पष्टतया जानते हैं कि यह नारंगी है। "यह नारंगी है"—इस वाक्य में "यह" उद्देश्य है तथा 'नारंगी' विधेय है। इस तरह हम देखते हैं कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में केवल "यह" मात्र का ज्ञान होता है। किंतु सविकल्पक में "यह" के ऊपर एक वाक्य की रचना हो जाती है जिसके द्वारा उस "यह" का स्वरूप-निर्धारण होता है। ऊपर के विचारों से यह स्पष्ट है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के हुए बिना सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। जब तक किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रत्यक्ष नहीं होता है तब तक यह निर्धारण कैसे हो सकता है कि वह वस्तु क्या है? तालाब में जब तक किसी वस्तु को हम देख नहीं लें तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि वह वस्तु ज.. है तथा उसके अमुक-अमुक गुण हैं।

(२) सविकल्पक प्रत्यक्ष

'प्रत्यभिज्ञा' पहचान को कहते हैं। यदि किसी व्यक्ति को देखने से मन में यह भाव उत्पन्न हो कि इसी व्यक्ति से मुझे अमुक समय में अमुक स्थान पर भेंट हुई थी तो इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा में पहचान का भाव अवश्य वर्त्तमान रहता है। नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का निर्विकल्पक, सविकल्पक तथा प्रत्यभिज्ञा में जो भेद किया है. उसे बौद्ध तथा अद्वैत-वेदान्ती नहीं मानते हैं।

(२) प्रत्यभिज्ञा

(३) अनुमान

(क) अनुमान का लक्षण

अनुमान क्या है ?

प्रत्यक्ष के पश्चात् अनुमान होता है। अनुमान 'अनु' तथा 'मान' के योग से बना है। अनु का अर्थ है 'पश्चात्' तथा मान का अर्थ है 'ज्ञान'। अतः अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्वज्ञान के पश्चात् आता है। उदाहरण के द्वारा इसे समझना ठीक होगा। "पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है तथा जो धूमवान् है वह वह्निमान् है।" "देवदत्त मरणशील है, क्योंकि वह मनुष्य है और सभी मनुष्य मरणशील हैं।" पहले उदाहरण में पर्वत से उठते हुए धुएँ को देखकर हम इस निगमन पर पहुंचते हैं कि वहाँ आग है, क्योंकि हमें इस बात का पहले से ही ज्ञान है कि धुआँ और आग में व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित है। दूसरे उदाहरण में देवदत्त में मनुष्यत्व वर्त्तमान होने के कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वह मरणशील है, क्योंकि मनुष्यत्व में तथा मृत्यु में व्याप्ति का सम्बन्ध है। अतः अनुमान उस विचार-प्रणाली को कहते हैं जिसमें हम किसी लिङ्ग के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, क्योंकि उन दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध वर्त्तमान रहता है। आचार्य ब्रजेन्द्रनाथशील कहते हैं—"अनुमान में प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं प्रत्युत किसी लिङ्ग के द्वारा इस निश्चय पर पहुँचा जाता है कि अमुक वस्तु में अमुक गुण विद्यमान है।"

(ख) अनुमान के अवयव

अनुमान के लक्षण से यह स्पष्ट है कि किसी अनुमान में कम से कम तीन पद होंगे तथा कम से कम तीन वाक्य होंगे। अनुमान में हम किसी वस्तु के किसी अप्रत्यक्ष गुण या लक्षण के बारे में जानते हैं। ऐसे निश्चय पर पहुँचने के लिये एक साधन की आवश्यकता होती है। उस साधन में तथा जिस निश्चय पर पहुँचते हैं उसमें अच्छेद्य सम्बन्ध का होना आवश्यक है। आग और धुएँ वाले उदाहरण में हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि पर्वत में आग है। पर्वत की आग को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं। प्रश्न उठता है कि इस निश्चय पर पहुंचने का क्या साधन है। यह साधन धुआँ है क्योंकि धुआँ और आग में व्याप्ति सम्बन्ध है। हम देखते हैं कि इस धुआँ और आग वाले अनुमान के तीन भाग हैं। पहला यह है कि 'पर्वत में धुआँ है।' दूसरा यह है कि 'धुआँ तथा आग में व्याप्ति है' जिसे हम पहले से जानते हैं। तीसरा यह है कि 'पर्वत में आग है,' यद्यपि उस आग को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते हैं। यहाँ पर्वत 'पक्ष' है। इसे पक्ष इसलिये कहते हैं इस अनुमान में पर्वत के सम्बन्ध में ही यह विचार होता है कि वह वह्निमान् है या नहीं ? है तो किस प्रकार है ? अग्नि 'साध्य' है क्योंकि अनुमान के द्वारा पर्वत के सम्बन्ध में यही सिद्ध करना रहता है कि उसमें अग्नि है। धुआँ 'लिङ्ग' है। लिङ्ग का अर्थ चिह्न है। उपर के उदाहरण में धुआँ आग का चिह्न है। इसी के द्वारा यह सिद्ध होता है कि पर्वत में अग्नि है। लिङ्ग को 'हेतु' या 'साधन' भी कहते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र के अनुसार Syllogism में तीन पद होते हैं—Minor, Major तथा Middle. भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार भी अनुमान में तीन पद होते हैं। पक्ष, साध्य और हेतु। भारतीय तर्कशास्त्र में Minor, Major तथा Middle के लिये क्रमशः 'पक्ष', 'साध्य' तथा 'हेतु' (साधन या लिङ्ग) शब्द व्यवहृत होते हैं। पक्ष अनुमान का

अनुमान में तीन पद और कम से कम तीन वाक्य होते हैं

अनुमान के पद—पक्ष, साध्य और हेतु (हेतु को लिङ्ग या साधन भी कहते हैं)

वह अंग है जिसके लिये अनुमान की सृष्टि होती है। साध्य उसे कहते हैं जो पक्ष के सम्बन्ध में सिद्ध किया जाता है। हेतु उसे कहते हैं जिसके द्वारा पक्ष के सम्बन्ध में साध्य सिद्ध किया जाता है। साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है, यह हेतु के द्वारा ही सिद्ध होता है।

अनुमान के वाक्य

विचारक्रम के अनुसार अनुमान में सबसे पहले हेतुसहित पक्ष का ज्ञान होता है। तब हेतु तथा साध्य की व्याप्ति का ज्ञान होता है। अन्त में यह निश्चय निकलता है कि साध्य का सम्बन्ध पक्ष के साथ है। पहले हम किसी पर्वत से धुआँ उठते देखते हैं। तब इस बात की याद आती है कि धुएँ के साथ आग का व्याप्ति-सम्बन्ध है। इसलिये अन्त में इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि पर्वत में आग है। अनुमान के अवयवों का क्रम मानसिक विचार-क्रम की दृष्टि से तो यही है। किंतु इसी को जब वाक्यों के द्वारा व्यक्त किया जाता है तो सबसे पहले पक्ष का सम्बन्ध साध्य के साथ स्थापित किया जाता है। जैसे "पर्वत वह्निमान् है"। उसके बाद इसका हेतु बतलाया जाता है। अर्थात् यह बतलाया जाता है कि किस हेतु के कारण पर्वत वह्निमान है। जैसे—"चूंकि पर्वत धूमवान् है"। यहाँ धूम हेतु है। अन्त में यह दिखलाया जाता है कि साध्य के साथ हेतु का अच्छेद्य सम्बन्ध है। जैसे—"जहाँ धुआँ है वहाँ आग है, जैसे चूल्हे में"। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुमान में कम से कम तीन वाक्य अवश्य होते हैं। ये वाक्यनिश्चयात्मक (Categorical) हैं। ये या तो विधानात्मक (Affirmative) या निषेधात्मक (Negative) हो सकते हैं। ऊपर जिस प्रकार का क्रम निर्धारित हुआ है उसमें प्रथम वाक्य Syllogism के Conclusion से, द्वितीय वाक्य Syllogism के Minor Premise से और तृतीय वाक्य Syllogism के Major Premise से मिलते हैं। अतः भारतीय तर्कशास्त्र के अनुसार अनुमान एक Syllogism है जिसमें तीन निश्चयात्मक वाक्य होते हैं। भारतीय अनुमान तथा Syllogism

में भेद यह है कि Syllogism के क्रम से अनुमान का क्रम ठीक विपरीत रहता है। Syllogism में conclusion सबसे अन्त में आता है, किंतु अनुमान में यह सबसे पहले आता है। Syllogism में Major premise सबसे पहले आता है, किंतु अनुमान में यह सबसे अन्त में आता है।

भारतीय तार्किकों का कथन है कि यदि अनुमान स्वार्थ हो अर्थात् अपने लिये ही तो उसे क्रमबद्ध वाक्यों के रूप में प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। जब अनुमान परार्थ होता है अर्थात् जब दूसरों के सम्मुख किसी तथ्य के प्रदर्शन की आवश्यकता होती है तो अनुमान को क्रमबद्ध एवं शृंखलित रूप में प्रकट करने की आवश्यकता होती है।

स्वार्थ और परार्थ अनुमान

इस तरह हम देखते हैं कि भारतीय अनुमान का रूप पाश्चात्य Categorical Syllogism से बहुत मिलता है। किंतु दोनों में कई भेद भी हैं। पाश्चात्य तर्क-विज्ञान के अनुसार Syllogism में तीन वाक्य होते हैं। इनमें पहला major premise, दूसरा minor premise तथा तीसरा conclusion होता है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार अनुमान के द्वारा यदि दूसरों को कुछ समझाने की जरूरत हो तो इसे पाँच स्पष्ट वाक्यों में व्यक्त करना चाहिये। इन वाक्यों को अवयव कहते हैं। इन अवयवों के नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन हैं *। पंचावयव अनुमान का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—

(१) राम मरणशील है (प्रतिज्ञा)।

(२) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)।

(३) सभी मनुष्य मरणशील हैं; जैसे, देवदत्त, मोहन, सोहन प्रभृति (उदाहरण)।

---

* तर्क-भाषा पृ० ४८-४६ देखिये। अनुमान के आकार के सम्बन्ध में सतीशचन्द्र चटर्जी का The Nyaya Theory of Knowlege, पृ० २९७-३०५ देखिये।

(४) राम भी मनुष्य है (उपनय)।

(५) अतः वह मरणशील है (निगमन)।

प्रतिज्ञा प्रथम वाक्य है। यह किसी विशेष बात का कथन या अभिवचन है। हेतु दूसरा वाक्य है। इसमें प्रतिज्ञा का कारण दिखलाया जाता है। तीसरा उदाहरण है। यह एक पूर्ण व्यापक वाक्य है जिसके द्वारा साध्य और हेतु का अविच्छिन्न सम्बन्ध उदाहरण सहित दिखलाया जाता है। चौथा उपनय है। इसके द्वारा यह दिखलाया जाता है कि उदाहरण-वाक्य प्रस्तुत विवेच्य विषय में भी लागू होता है। पाँचवाँ निगमन है। निगमन उसे कहते हैं जो पहले के वाक्यों से निकलता है†।

(३) *अनुमान का आधार*

हेतु और साध्य के बीच जो व्यापक सम्बन्ध रहता है उसी के द्वारा अनुमान होता है। इस सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। अनुमान में पक्ष और साध्य का जो सम्बन्ध स्थापित किया

अनुमान की दो आवश्यक बातें —

जाता है उसके लिये दो बातें आवश्यक हैं। एक पक्ष और हेतु का सम्बन्ध है तथा दूसरी हेतु और साध्य का व्याप्ति-सम्बन्ध। 'पर्वत में आग है' इस निगमन के लिये एक तो यह जानना आवश्यक है कि पर्वत में धुआँ है तथा दूसरा यह भी जानना आवश्यक है कि धुआँ और आग में व्याप्ति-सम्बन्ध है। इससे स्पष्ट है कि अनुमान के लिये दो बातें आवश्यक हैं। पहली पक्ष में हेतु का होना अर्थात् पर्वत में धुएँ का होना और दूसरी

अनुमान और व्याप्ति

हेतु और साध्य में व्याप्ति-सम्बन्ध होना अर्थात् धुआँ और आग में अच्छेद्य सम्बन्ध का होना। 'पर्वत में आग है'— यह तभी सिद्ध हो सकता है जब पर्वत के धुएं में तथा आग में व्यापक सम्बन्ध वर्त्तमान रहे।

---

† मीमांसकों तथा वेदान्तियों का कथन है कि अनुमान के लिये प्रथम तीन या अन्तिम तीन अवयव ही पर्याप्त है।

हेतु तथा साध्य के इस व्यापक सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं। व्याप्ति-ज्ञान अनुमान का करण या साधन माना जाता है, क्योंकि अनुमान का निगमन इसी पर निर्भर करता है। व्याप्ति के सम्बन्ध में दो प्रश्न उठते हैं। (१) व्याप्ति क्या है? (२) व्याप्ति का ज्ञान किस तरह प्राप्त होता है?

प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि व्याप्ति का अर्थ 'व्यापकता' है। व्याप्ति से दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध का बोध होता है जिनमें एक व्याप्य है तथा दूसरी व्यापक है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु में व्यापक तब होती है जब वह वस्तु उस दूसरी वस्तु के साथ बराबर रहती है। कोई वस्तु दूसरी वस्तु में व्याप्त तब होती है जब उस के साथ वह दूसरी वस्तु बराबर रहती है। ऊपर के उदाहरण में धुआँ व्याप्त है, क्योंकि धुएँ के साथ आग बराबर पायी जाती है। कोई भी ऐसा धूमवान पदार्थ नहीं है जो वह्निमान् न हो। लेकिन यद्यपि यह सत्य है कि सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं तथापि सभी वह्निमान् पदार्थ धूमवान् नहीं होते, जैसे तप्त लौह-खंड। न्यूनाधिक विस्तार वाले दो पदों में जब व्याप्ति का सम्बन्ध होता है तो उसे असमव्याप्ति या विषमव्याप्ति कहते हैं। जैसे धुएँ और आग में। दो पदों में जब इस प्रकार का विषम-सम्बन्ध रहता है तो एक से (कम विस्तार वाले से) दूसरे का (अधिक विस्तार वालेका) अनुमान किया जा सकता है, किन्तु दूसरे से पहले का अनुमान नहीं हो सकता। धुएँ से आग का अनुमान किया जा सकता है किन्तु आग से धुएँ का अनुमान नहीं हो सकता। किंतु जब समान विस्तार वाले दो पदों में व्याप्ति का सम्बन्ध रहता है तो उसे समव्याप्ति कहते हैं। समव्याप्ति वाले पदों की व्यापकता बराबर होने के कारण एक से दूसरे का और दूसरे से पहले का अनुमान किया जा सकता है। जैसे अभिधेय और प्रमेय। जो अभिधेय है वह प्रमेय है और जो प्रमेय है वह अभिधेय है।

व्याप्ति के दो प्रकार

किसी भी अनुमान के हेतु तथा साध्य में किसी प्रकार की व्याप्ति का होना नितान्त आवश्यक है। इसी प्रकार का नियम पाश्चात्य Syllogism में भी है। Syllogism का मूल सिद्धान्त यह है कि दो पूर्ववाक्यों में कम से कम एक व्याप्तिमूलक अवश्य होना चाहिये। हेतु-पद तथा साध्य-पद के बीच व्याप्ति के सम्बन्ध से साधारणतः यह बोध होता है कि उन दोनों में साहचर्य है। अर्थात् जहाँ धुआँ है वहाँ आग है। किन्तु प्रत्येक साहचर्य को व्याप्ति नहीं समझना चाहिये। यह तो सत्य है कि आग के साथ प्रायः धुआँ दीख पड़ता है। फिर भी दोनों में व्याप्ति नहीं है, क्योंकि धुएँ के बिना भी आग रह सकती है। तात्पर्य यह है कि

व्याप्ति का लक्षण

धुआँ और आग का साहचर्य कुछ उपाधियों पर निर्भर होता है जो उपाधियाँ धुआँ तथा आग से भिन्न हैं। आग में धुआँ का अस्तित्व आर्द्र इंधन अर्थात् जलावन के भींगेपन पर निर्भर करता है। यदि इंधन भींगा न हो तो धुआँ नहीं हो सकता। अतः हेतु और साध्य के उस साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं जो उपाधिहीन हो। यह हेतु-पद और साध्य-पद का नियत अनौपाधिक सम्बन्ध है।

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि व्याप्ति का ज्ञान किस प्रकार होता है? "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं" या "सभी मनुष्य मरणशील हैं"—इस तरह के सर्वव्यापी वाक्यों की स्थापना कैसे होती है? चार्वाकों के

व्याप्ति-ज्ञान की विधियाँ

लिये इस तरह की कोई समस्या नहीं है, क्योंकि ये लोग प्रत्यक्षवादी हैं। ये अनुमान की प्रामाणिकता को मानते ही नहीं। अन्यान्य भारतीय दर्शन, जो अनुमान की प्रामाणिकता को मानते हैं, व्याप्ति-ज्ञान की समस्या का अपने-अपने ढंग से समाधान करते हैं। बौद्धों के अनुसार व्याप्ति का

चार्वाकों के अनुसार

ज्ञान कार्य-कारण-सम्बन्ध या तादात्म्य-सम्बन्ध के द्वारा हो सकता है। ये सिद्धान्त मनुष्य के विचार तथा कर्म के लिये नितान्त आवश्यक हैं। इनका ज्ञान मनुष्य के

बौद्धों के अनुसार

लिये स्वाभाविक तथा स्वतःप्राप्त होता है। दो वस्तुओं में यदि कार्य-कारण का सम्बन्ध हो तो उन दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध अवश्य होगा, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति कारण के विना कभी नहीं होती है। कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बौद्ध-दार्शनिक पंचकारणी की सहायता लेते हैं। पंचकारणी निम्नलिखित निरीक्षण-प्रणाली का नाम है—

(१) कारण या कार्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं है। (२) कारण का प्रत्यक्ष हुआ। (३) शीघ्र ही कार्य भी दृष्टिगोचर हुआ। (४) कारण का लोप हुआ। (५) शीघ्र ही कार्य भी लुप्त हो जाता है। व्याप्ति-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये बौद्ध-दार्शनिक तादात्म्य की भी सहायता लेते हैं। दो वस्तुओं में यदि तादात्म्य है अर्थात् एक का अस्तित्व यदि दूसरी वस्तु के अंतर्गत है तो दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध अवश्य होगा। सभी मनुष्य जीव हैं। अर्थात् मनुष्य जीवों के अंतर्गत है। विना जीवत्व का मनुष्य मनुष्य नहीं कहा जा सकता। अतः मनुष्य तथा जीव में तादात्म्य होने के कारण व्याप्ति का सम्बन्ध है।

वेदान्तियों का मत है कि व्याप्ति की स्थापना अतीत अव्यभिचारी साहचर्य के अनुभव पर अवलम्बित है। अतीत में यदि दो वस्तुओं का साहचर्य देखा जाय अर्थात् बराबर उन्हें एक साथ देखा जाय तो दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध अवश्य मानना चाहिये।

वेदान्तियों के अनुसार

व्यभिचार दर्शनेसति सहचारदर्शनम्—अर्थात् यदि दो वस्तुओं को बराबर एक साथ देखें, और उनका व्यभिचार (व्यतिक्रम) देखने में नहीं आवे तो दोनों में साहचर्य का सम्बन्ध मानना चाहिये।

नैयायिकों का भी वेदान्तियों की तरह यही मत है कि व्याप्ति की स्थापना ऐसे ही अनुभव पर अवलम्बित है जिसका अतीत में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ हो। वे, बौद्धों की तरह कार्य-कारण या तादात्म्य सम्बन्ध जैसे सिद्धान्तों की सहायता नहीं लेते हैं। किन्तु वे वेदान्तियों की

नैयायिकों के अनुसार

तरह केवल अव्यभिचारी अनुभव की ही सहायता नहीं लेते, वरं इसकी पुष्टि तर्क तथा सामान्य-लक्षण-प्रत्यक्ष के द्वारा भी करते हैं। न्याय की व्याप्ति-स्थापन-प्रणाली इस प्रकार की है—प्रथम हम यह देखते हैं कि दो वस्तुओं में अन्वय का सम्बन्ध है। अर्थात् एक वस्तु के रहने पर दूसरी भी रहती है। इसका एक भी व्यतिक्रम नहीं देखा जाता। उदाहरणार्थ, जब-जब जहाँ-जहाँ धुआँ देखा गया है उसके साथ आग भी देखी गई है। अन्वय के बाद व्यतिरेक की सहायता ली जाती है। अर्थात् आग के नहीं रहने से धुआँ भी नहीं पाया गया है। एक के नहीं रहने पर दूसरे का नहीं रहना व्यतिरेक कहलाता है। व्याप्ति के सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये व्यतिरेक का होना भी नितान्त आवश्यक है। अन्वय तथा व्यतिरेक यदि मिला दिये जाँय तो वे मिल कर पाश्चात्य तर्क-शास्त्र के Joint Method के सदृश हो जाते हैं। व्यतिरेक के बाद व्यभिचाराग्रह का क्रम आता है। इसमें यह जानने का प्रयत्न किया जाता है कि दोनों वस्तुओं में व्यभिचार तो नहीं है। अर्थात् ऐसा तो नहीं है कि एक का आविर्भाव दूसरे के बिना भी हो जाता है। ऐसा हो जाने से उसे व्यभिचार कहते हैं। इन तीनों आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर उन दोनों वस्तुओं में नियत सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

न्याय-प्रणाली के आवश्यक अंग

(१) अन्वय

(२) व्यतिरेक

(३) व्यभिचाराग्रह

लेकिन अभी भी हम यह नहीं कह सकते कि वह नियत सम्बन्ध अनौपाधिक अर्थात् उपाधिहीन है। हम देख चुके हैं कि व्याप्ति केवल नियत नहीं होती वरं उसे अनौपाधिक भी होना चाहिये। अतः व्याप्ति-निर्माण-प्रणाली का चौथा क्रम उपाधि-निरास है। उपाधि-निरास के द्वारा एक-एक कर सभी उपाधियों का निराकरण किया जाता है। उपाधियों का निराकरण किये बिना व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। अर्थात् दो वस्तुओं में व्याप्ति का सम्बन्ध तब तक स्थापित नहीं हो

(४) उपाधिनिरास

सकता है जब तक उन दोनों का साहचर्य किसी अन्य उपाधि पर निर्भर करता है। मैं बिजली का बटन दबाता हूँ और रोशनी हो जाती है। यदि बटन नहीं दबाता हूँ तो रोशनी नहीं होती है। यहाँ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों वर्त्तमान हैं। इससे यदि कोई इस निश्चय पर पहुँचे कि बटन दबाने में तथा रोशनी में व्याप्ति का सम्बन्ध है तो उसका विचार दोषपूर्ण होगा। क्योंकि उसने उपाधि की ओर ध्यान नहीं दिया है जैसे बिजली की शक्ति। बिजली की शक्ति के बिना केवल बटन दबाने से रोशनी नहीं हो सकती है। बिजली की रोशनी के लिये बिजली की शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। चूंकि यह कोई जरूरी नहीं है कि बटन दबाने के समय बिजली की शक्ति वर्त्तमान रहे ही, इसलिये बटन दबाने तथा रोशनी में व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। नैयायिक उपाधि का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं—उपाधि वह है जिसका साहचर्य किसी अनुमान के साध्य के साथ रहता है किंतु हेतु या साधन के साथ नहीं रहता है। अर्थात् उपाधि को साध्यसमव्याप्ति तथा अव्याप्तसाधन होना चाहिये। उदाहरण के द्वारा हम इन बातों का स्पष्टीकरण कर सकते हैं। यदि धुएँ से अग्नि का अनुमान नहीं करके कोई अग्नि से धुएँ का अनुमान करे तो यह अनुमान उपाधि-दुष्ट व्याप्ति पर निर्भर होने के कारण भ्रमात्मक हो जायगा। क्योंकि यहाँ धूम साध्य है और अग्नि साधन है, और आग में तभी धुआँ हो सकता जब आग की उत्पत्ति भींगे इंधन से हुई हो। यहाँ हम देख सकते हैं कि उपाधि 'आर्द्रेंधन' साध्य 'धूम' के साथ बराबर पाई जाती है, किन्तु हेतु अग्नि के साथ बराबर नहीं पाई जाती क्योंकि ऐसे भी अग्निवान् पदार्थ होते हैं जो धूमवान नहीं होते, जैसे विद्युत् आदि। अतः हम कह सकते हैं कि उपाधि (आर्द्रेंधन) साध्य (धूम) समव्याप्त है और अव्याप्त-साधन (अग्नि) है। अतः दो वस्तुओं में नियत सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उपाधि-निरास नितान्त आवश्यक है। ऐसा नियत अनौपाधिक सम्बन्ध स्थापित करने के

लिये विभिन्न परिस्थितियों में दोनों वस्तुओं के अन्वय तथा व्यतिरेक का भूयोदर्शन या पुनः पुनः निरीक्षण करना चाहिये। इस भूयोदर्शन के क्रम में यदि हम देखें कि साध्य के उपस्थित या अनुपस्थित होने पर हेतु के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु उपस्थित या अनुपस्थित न हो जाती है तो हम समझेंगे कि हेतु और साध्य का साहचर्य उपाधिहीन है। इस तरह हेतु और साध्य के बीच नियत सम्बन्ध स्थापित करने के समय जितनी उपाधियों की आशंका रहती है सबों का निराकरण हो जाता है और तब हम कह सकते हैं कि उन दोनों के बीच व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित हुआ। अतः हम देखते हैं कि नियत और अनौपाधिक सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहते हैं।

(२) तर्क

किन्तु व्याप्ति के सम्बन्ध में एक संशय रह ही जाता है। ह्यूम (Hume) या चार्वाक जैसे संशयवादी कह सकते हैं कि यदि केवल अतीत एवं वर्त्तमान अनुभव को लिया जाय तो हम कह सकते हैं कि धुएँ तथा आग की व्याप्ति में कोई व्यतिक्रम नहीं पाया गया है। किन्तु इसका क्या प्रमाण है कि यह सम्बन्ध ग्रहनक्षत्रों जैसे सुदूर स्थानों के लिये तथा भविष्य के लिये भी लागू होगा? इस संशय को दूर करने के लिये नैयायिक व्याप्ति-रक्षा के निमित्त तर्क की सहायता लेते हैं। वे कहते हैं कि "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं"—यह व्याप्ति तर्क के द्वारा इस प्रकार प्रमाणित हो सकती है। यदि यह वाक्य सत्य नहीं है तो इसका विरोधी वाक्य "कुछ धूमवान पदार्थ वह्निमान् नहीं हैं" अवश्य सत्य होगा। किन्तु यह वाक्य सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि इसका खंडन कार्य-कारण-सम्बन्ध के सिद्धान्त के द्वारा हो जाता है। कार्य-कारण-सम्बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। इसलिये धुएँ का भी कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा। अब यदि हम कहते हैं कि कुछ धूमवान् पदार्थ वह्निमान् नहीं है तो इसका अर्थ यह होता है कि धूम का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह्नि के अतिरिक्त धूम का कोई अन्य कारण विदित

नहीं है। अतः कार्य-कारण-सिद्धान्त के अनुसार ऊपर का विरोधी वाक्य सत्य नहीं समझा जा सकता। इस पर यदि कोई हठी व्यक्ति कहे कि कभी-कभी बिना कारण के भी कार्य उत्पन्न हो सकता है तो उसका उत्तर व्यवहार-सम्बन्धी व्याघातों के द्वारा दिया जा सकता है। ऐसे हठी व्यक्ति से पूछा जा सकता है कि यदि बिना कारण के कोई कार्य सम्पन्न हो जा सकता है तो रसोई पकाने के लिये आप आग की खोज क्यों करते हैं ? न्याय-दर्शन की यह तर्क-प्रणाली पाश्चात्य तर्कशास्त्र के argumentum reductio ad absurdum से मिलती-जुलती है।

ऊपर के वृत्तान्तों से यह स्पष्ट है कि किस तरह नैयायिक देखी हुई व्यक्तिगत घटनाओं के द्वारा व्याप्ति की स्थापना करते हैं। किन्तु फिर भी वे कहते हैं कि व्यक्तियों (Particulars) को ही देखकर किसी जाति के बारे में जो व्याप्ति-ज्ञान होता है वह इतना निश्चित नहीं है जितना निश्चित "सब मनुष्य मरणशील हैं" ऐसे वाक्य को हम समझते हैं।

(६) सामान्य-लक्षण प्रत्यक्ष

"सभी कौए काले हैं" यह वाक्य अतीत के अनुभव के आधार पर स्थापित किया गया है। किन्तु इस वाक्य में उतनी सत्यता नहीं है जितनी "सभी मनुष्य मरणशील हैं" में है। उजले कौए की कल्पना करना अमर मनुष्य की कल्पना से अधिक सरल है। जिस तरह कोयल काली, भूरी, या कई रंगों की हो सकती है, उसी तरह कौआ भी काला या भूरा हो सकता है। किन्तु हमलोग अपने को अमर नहीं मान सकते हैं तथा इस कल्पना के अनुसार हमलोग अपना कोई भी काम नहीं कर सकते हैं। प्रश्न उठ सकता है कि ऊपर के दोनों वाक्यों में इस तरह का भेद क्यों है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है। कौए का स्वभाव कुछ ऐसा नहीं है कि वह काला अवश्य ही होगा। किन्तु मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह एक न एक दिन अवश्य मरेगा। हम कौए को इसलिये काला नहीं कहते कि कौए दूसरे रंग के हो ही नहीं सकते वरन् इसलिये कहते हैं कि हमने

अबतक उन्हें बराबर काला पाया है। किन्तु मनुष्य को मरणशील इसलिये कहते हैं कि उनके स्वभाविक धर्म मनुष्यत्व में और मृत्यु में आवश्यक सम्बन्ध है। देवदत्त, राम तथा मोहन इसलिये मरणशील नहीं हैं कि वे देवदत्त, राम तथा मोहन हैं, वरं इसलिये मरणशील हैं कि वे सभी मनुष्य हैं अर्थात् उन सबों में 'मनुष्यत्व' है। इससे स्पष्ट है कि केवल व्यक्तियों (Particulars) के प्रत्यक्ष के द्वारा निश्चित व्याप्ति-ज्ञान नहीं हो सकता, प्रत्युत उन सभी व्यक्तियों में अनुगत जो जाति या सामान्य-धर्म है उसी के प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है। अतः नैयायिक सामान्य-लक्षण-ज्ञान के आधार पर ही व्याप्ति की स्थापना करते हैं। "सभी मनुष्य मरणशील हैं"— इस वाक्य में 'मनुष्यत्व' तथा 'मृत्यु' में सम्बन्ध स्थापित किया गया है। "सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं"— इसमें 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' में सम्बन्ध जोड़ा गया है। जभी हम 'मनुष्यत्व' तथा 'मृत्यु' में सम्बन्ध जोड़ते हैं तभी हम यह कह सकते हैं कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। इसका कारण यह है कि 'मनुष्यत्व' से किसी विशेष मनुष्य का बोध नहीं होता वरं मनुष्यमात्र का बोध होता है, क्योंकि मनुष्यमात्र में मनुष्यत्व है। अतः हमें यह नहीं सोचना चाहिये कि थोड़े से अतीत अनुभवों के आधार पर ही व्याप्ति की स्थापना हो सकती है। ऐसा करना दोषपूर्ण होगा। "कुछ मनुष्य मरणशील हैं" इस अनुभव के आधार पर यदि हम यह कहें कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं।' तो किसी जाति के कुछ अंश के ज्ञान के द्वारा हम समग्र जाति के बारे में अनुमान करते हैं। यहाँ संदेह का कारण रह जाने से अनुमान पूर्ण निश्चयात्मक नहीं होता। अतः हम देखते हैं कि व्याप्ति-निश्चय के लिये व्यक्तियों में अनुगत जाति-धर्म या सामान्य का प्रत्यक्ष नितान्त आवश्यक है ❀।

❀ व्याप्ति की कुछ ऐसी ही व्याख्या R. M. Eaton के General Logic, (चतुर्थ खंड) में दी गई है। विशद वर्णन के लिये 'The Nyaya Theory of Knowledge' देखिये। (अध्याय १०, १२)

(घ) अनुमान के भेद

हम ऊपर देख चुके हैं कि भारतीय तर्क-शास्त्र के अनुसार अनुमान में व्याप्ति (induction) और निगमन (deduction) दोनों ही सम्मिलित हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि अनुमान में कम से कम तीन निश्चित वाक्य अवश्य होते हैं। अतः जितने भी अनुमान हैं सभी निश्चयात्मक वाक्यों से बने हैं और उनकी यथार्थता केवल संभावित या संभावनामूलक नहीं है, प्रत्युत वस्तु-मूलक या वास्तविक भी होती है। इसलिये पाश्चात्य तर्क-शास्त्र के अनुमान के कुछ प्रकार-भेद न्याय के अनुमान में नहीं पाये जाते हैं। नैयायिक अनुमान के तीन प्रकार के मुख्य भेद मानते हैं।

स्वार्थ और परार्थ अनुमान

हम देख चुके हैं कि एक दृष्टि से अनुमान के दो भेद होते हैं— स्वार्थ तथा परार्थ। यह विभेद अनुमान के प्रयोजन-भेद के अनुसार किया गया है। कभी-कभी हम अपने ज्ञान के लिये अनुमान करते हैं। इसे स्वार्थानुमान कहते हैं। किन्तु कभी-कभी किसी बात को दूसरों को समझाने के लिये भी हम अनुमान करते हैं। यह 'परार्थ अनुमान कहलाता है। स्वार्थानुमान का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। कोई मनुष्य पर्वत में धुआँ देखता है। तब उसे यह स्मरण होता है कि धुआँ और आग में व्याप्ति का सम्बन्ध है। अन्त में वह इस निगमन पर पहुँचता है कि पर्वत में आग है। यह अनुमान अपने लिये हुआ है, इसलिये इसे स्वार्थानुमान कहते हैं। किन्तु जब कोई मनुष्य स्वयं समझता है कि पर्वत में आग है और इस बात को दूसरे को समझाने की कोशिश करता है तो वह इस प्रकार का अनुमान करता है— "पर्वत वह्निमान् है, क्योंकि यह धूमवान् है तथा जो धूमवान् है वह वह्निमान् है, जैसे पाक-गृह। उसी प्रकार पर्वत धूमवान् है। अतः वह भी वह्निमान् है ❀।

❀ तर्क-संग्रह, पृ० ४६-४९ देखिये।

अन्य प्रकार-भेद के अनुसार अनुमान तीन प्रकार के होते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट ❀। यह व्याप्ति के प्रकार-भेद के अनुसार हुआ है। पूर्ववत् तथा शेषवत् अनुमान कार्य-कारण के नियत सम्बन्ध के द्वारा होते हैं, किन्तु सामान्यतोदृष्ट कार्य-कारण के द्वारा नहीं होता। न्याय के अनुसार कार्य के अव्यवहित नियत पूर्ववर्त्ती घटना को कारण कहते हैं और कारण के नित्य अव्यवहित परवर्ती घटना को कार्य कहते हैं †।

(१) पूर्ववत्
(२) शेषवत् और
(३) सामान्यतो दृष्ट अनुमान

पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें भविष्यत् कार्य का अनुमान वर्त्तमान कारण से होता है। जैसे, होनेवाली वर्षा का अनुमान वर्त्तमान समय के मेघों को देखकर करना। शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें वर्त्तमान कार्य से विगत कारण का अनुमान किया जाता है। जैसे नदी को गंदी तथा वेगवती धारा को देखकर विगत वृष्टि का अनुमान करना।

(१) पूर्ववत्

(२) शेषवत्

इन दोनों अनुमानों में जो व्याप्ति प्रयुक्त हुई है उसमें साधन तथा साध्य के बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध वर्त्तमान है ‡। सामान्यतो दृष्ट में जो व्याप्ति प्रयुक्त होती है उसके साधन-पद तथा साध्य-पद के बीच कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं रहता। साधन-पद साध्य-पद का न तो कारण है न कार्य ही है। एक से दूसरे का अनुमान इस आधार पर नहीं होता कि उसमें कारण-कार्य-सम्बन्ध है, वरं केवल इस आधार पर होता है कि वे दोनों बराबर एक दूसरे के साथ पाये जाते हैं। सामान्यतो दृष्ट का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। समय-समय पर देखने से मालूम पड़ता है कि चन्द्रमा

❀ न्याय-सूत्र तथा भाष्य १.१.५ देखिये।

† तर्क-भाषा (पृ० २), तर्क-संग्रह तथा तत्त्वदीपिका (पृ० ३५-३६) देखिये।

‡ इस प्रकार की व्याप्ति को पाश्चात्य तर्क-शास्त्र में Scientific Induction कहा जाता है।

आकाश के भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहता है । इससे उसकी गति को प्रत्यक्ष नहीं भी देखकर हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि चन्द्रमा गतिशील है । इस अनुमान का आधार यह है कि अन्यान्य वस्तुओं के स्थान-परिवर्त्तन के साथ-साथ उनकी गति का भी प्रत्यक्ष होता है । इसलिये हम यह अनुमान करते हैं कि चन्द्रमा के स्थानान्तरित होने के कारण उसमें भी गति होगी, यद्यपि चन्द्रमा की गति को हम प्रत्यक्ष नहीं देखते । इसी तरह किसी अपरिचित पशु के शृंगों को देखकर हम अनुमान करते हैं कि उस पशु का खुर फटा होगा । इस प्रकार के अनुमान कार्य-कारण-सम्बन्ध के द्वारा नहीं होते प्रत्युत सामान्य सादृश्य के अनुभवों के द्वारा ही होते हैं । अतः हम देखते हैं कि सामान्यतो दृष्ट अनुमान उपमान से मिलता-जुलता है ❀ ।

(१) केवलान्वयी, (२) केवलव्यतिरेकी और (३) अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान

एक तीसरे प्रकार के प्रकार-भेद के अनुसार अनुमान तीन तरह के होते हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, तथा अन्वयव्यतिरेकी । यह प्रकार-भेद बहुत युक्तिपूर्ण है, क्योंकि यह व्याप्ति-स्थापन-प्रणाली के प्रकार-भेद पर अवलम्बित है । हम तो देख ही चुके हैं कि अनुमान के लिये व्याप्ति कितना आवश्यक है । केवलान्वयी अनुमान उसे कहते हैं जिसके साधन तथा साध्य में बराबर साहचर्य देखा जाता है । अर्थात् जिसकी व्याप्ति केवल अन्वय के द्वारा स्थापित होती है और जिसमें व्यतिरेक का सर्वथा अभाव होता है । इसका स्पष्टीकरण हम निम्नलिखित उदाहरण के द्वारा कर सकते हैं—

(१) केवलान्वयी

❀ कुछ अन्य व्याख्याताओं के अनुसार पूर्ववत् अनुमान उसे कहते हैं जो दृष्ट दो वस्तुओं के बीच नियत सम्बन्ध या व्याप्ति के द्वारा होता है और शेषवत् अनुमान उसे कहते हैं जिसमें संभावित कोटियों के अंतर्गत जो कोटियाँ असंगत हैं उनके निराकरण के द्वारा शेष का अनुमान किया जाता है । यथा, 'शब्द या तो द्रव्य है या गुण या कर्म । किन्तु वह द्रव्य भी नहीं है और कर्म भी नहीं है, (क्योंकि द्रव्य और कर्म के लक्षण इसमें नहीं पाये जाते) इसलिये यह गुण है' ।

सभी प्रमेय (ज्ञेयवस्तु) अभिधेय (नाम से पुकारने के योग्य) हैं,

घट प्रमेय है,

अतः घट अभिधेय है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में उद्देश्य और विधेय के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध है। इसके विधेय के साथ उद्देश्य के किसी अंश के सम्बन्ध का व्यतिक्रम नहीं हो सकता है, क्योंकि यह संभव नहीं है कि किसी भी ज्ञेय द्रव्य का नाम नहीं दिया जा सकता। कम से कम यह ज्ञेय है यह तो अवश्य ही कहा जायगा। यहाँ व्याप्ति सिद्ध करने के लिये कोई व्यतिरेकी दृष्टान्त अर्थात् 'जो अभिधेय नहीं है वह अज्ञेय है, ऐसा दृष्टान्त नहीं मिल सकता। क्योंकि जैसे पहले कहा गया है' ऐसी कोई वस्तु हम नहीं देख सकते जिसका कोई नाम नहीं रक्खा जा सकता। इसीलिये इस प्रकार की व्याप्ति का नाम केवलान्वयी है।

केवलव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साध्य के अभाव के साथ साथ साधन के अभाव की व्याप्ति के ज्ञान से अनुमान होता है, साधन और साध्य की अन्वयमूलक व्याप्ति से नहीं। इसलिये इस व्याप्ति की स्थापना व्यतिरेकी-प्रणाली के द्वारा ही हो सकती है। क्योंकि पक्ष के अतिरिक्त साधन का और कोई दृष्टान्त नहीं जिसमें उसका साध्य के साथ अन्वय देखा जाय। इस अनुमान का उदाहरण यों दिया जा सकता है :—

(२) केवल व्यतिरेकी

अन्य भूतों से जो भिन्न नहीं है उसमें गन्ध नहीं है।

पृथ्वी में गन्ध है।

अतः पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है।❀

❀ केवलव्यतिरेकी अनुमान का दूसरा उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है—सूर्य अन्य नक्षत्रों से भिन्न है, क्योंकि यह स्थावर है; जो अन्य नक्षत्रों से भिन्न नहीं है, वह स्थावर नहीं है।

इस अनुमान के प्रथम वाक्य में साध्य के अभाव के साथ साधन के अभाव की व्याप्ति दिखलायी जाती है। साधन "गन्ध" को पक्ष "पृथ्वी" के सिवा और कहीं देखना संभव नहीं है। इसलिये साधन और साध्य के बीच अन्वयमूलक व्याप्ति स्थापित नहीं हो सकती। इस प्रकार हम देखते हैं कि यहाँ व्यतिरेकमूलक व्याप्ति पर ही अनुमान किया जा सकता है।

(३) अन्वय व्यतिरेकी

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान उसे कहते हैं जिसमें साधन और साध्य का सम्बन्ध अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों ही के द्वारा स्थापित होता है। इस अनुमान का व्याप्ति-वाक्य इस प्रकार स्थापित होता है—साधन के उपस्थित रहने पर साध्य भी उपस्थित रहता है। साध्य के अनुपस्थित रहने पर साधन भी अनुपस्थित रहता है। इस प्रकार व्याप्ति का ज्ञान अन्वय और व्यतिरेक की सम्मिलित प्रणाली पर निर्भर करता है। निम्नलिखित युग्म अनुमान के द्वारा अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान का स्पष्टीकरण हो सकता है :—

(१) सभी धूमवान् पदार्थ वह्निमान् हैं;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(२) वह्निहीन पदार्थ धूमहीन है;
पर्वत धूमवान् है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

(५) *हेत्वाभास*

(*अनुमान के दोष*)

पाँच हेत्वाभास

भारतीय तर्क-शास्त्र में अनुमान के दोषों को हेत्वाभास कहते हैं। हेत्वाभास का अर्थ है हेतु का आभास होना। अर्थात् हेतु नहीं होने पर भी हेतु के जैसा प्रतीत होना। हेत्वाभास पाँच प्रकार के होते हैं—(१) सव्यभिचार, (२) विरुद्ध,

(३) सत्प्रतिपक्ष, (४) असिद्ध तथा (५) बाधित। हम इनका एक-एक कर विचार करेंगे।

(१) सव्यभिचार प्रथम हेत्वाभास का नाम सव्यभिचार है। सव्यभिचार का उदाहरण यों है :—

सभी द्विपद बुद्धिमान् हैं;
हंस द्विपद हैं;
अतः हंस बुद्धिमान् हैं।

इस अनुमान का निगमन गलत है। क्योंकि हेतु 'द्विपद' और साध्य बुद्धिमान् में अव्यभिचारी साहचर्य नहीं है। कुछ द्विपद बुद्धिमान् हैं और कुछ नहीं भी हैं। ऐसे हेतु को सव्यभिचार कहते हैं।

सव्यभिचार-हेतु के द्वारा एक ही निगमन नहीं निकलता, प्रत्युत दो विरोधी निगमन निकल सकते हैं। अनुमान का नियम यह है कि हेतु और साध्य में अव्यभिचारी साहचर्य हो। किन्तु साध्य के साथ सव्यभिचारी हेतु का नियत साहचर्य नहीं पाया जाता। उसका साहचर्य केवल साध्य के साथ ही नहीं, वरं अन्य वस्तुओं के साथ भी पाया जाता है। अतः इस हेतु को साध्य का अनैकान्तिक (अनियत) सहचर कहा जाता है। हम इसका एक और दृष्टान्त ले सकते हैं—

सभी प्रमेय वह्निमान् हैं;
पर्वत प्रमेय है;
अतः पर्वत वह्निमान् है।

यहाँ 'प्रमेय' हेतु है। प्रमेय वह्निमान् भी हो सकते हैं और वह्निहीन भी हो सकते हैं। जैसे पाकगृह वह्निमान् है और तालाब वह्निहीन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी प्रमेय वह्निमान् नहीं हैं। इसलिये हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि 'पर्वत वह्निमान् है क्योंकि यह प्रमेय है'। इस प्रकार की युक्ति के द्वारा तो हम यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि पर्वत वह्निहीन है।

दूसरे प्रकार के हेत्वाभास को 'विरुद्ध' कहते हैं। एक उदाहरण लीजिये। "वायु गुण है, क्योंकि यह रिक्त है।" इस अनुमान में हेतु

(२) विरुद्ध

'रिक्त' तो विरोधी है क्योंकि यह वायु के गुणत्व को सिद्ध नहीं करता, वरं उसका विरोध ही करता है। अतः विरुद्ध-हेतु उसे कहते हैं जो निगमन-वाक्य को सिद्ध करने के वजाय यथार्थतः उसका खंडन ही करता है। विरुद्ध-हेतु उस अनुमान में पाया जाता है जिसमें वह साध्य के अस्तित्व को नहीं, प्रत्युत उसके अभाव को ही पक्ष में सिद्ध करता है। नैयायिक इसका उदाहरण इस प्रकार देते हैं। "शब्द नित्य है, क्योंकि यह एक परिणाम है।" हेतु 'परिणाम' शब्द के नित्यत्व को नहीं, वरं इसके अनित्यत्व को सिद्ध करता है, क्योंकि जो परिणाम है वह नित्य नहीं हो सकता। सव्यभिचार और विरुद्ध में यह भेद है कि सव्यभिचार हेतु के द्वारा निगमन की सिद्धि निश्चित रूप से नहीं होती, किन्तु विरुद्ध हेतु के द्वारा निगमन का खंडन हो जाता है।

(३) सत्प्रतिपक्ष

तीसरा हेत्वाभास 'सत्प्रतिपक्ष' है। यह दोष तब होता है जब एक अनुमान का कोई दूसरा प्रतिपक्षी अनुमान हो। जैसे—

(१) शब्द नित्य है,
क्योंकि यह श्राव्य है;

तथा (२) शब्द अनित्य है,
क्योंकि यह घट की भाँति एक कार्य है।

द्वितीय अनुमान प्रथम अनुमान के निगमन को खंडित कर देता है। प्रथम अनुमान में हेतु 'श्राव्य' के द्वारा शब्द की नित्यता सिद्ध की गई है। किन्तु द्वितीय अनुमान में हेतु 'कार्य' के द्वारा उसकी अनित्यता सिद्ध की गई है। दूसरे अनुमान का हेतु ठीक है, इसलिये इसके द्वारा पहले अनुमान का हेतु खंडित हो जाता है। अतएव पहले अनुमान में 'सत्प्रतिपक्ष' का दोष है। विरुद्ध और सत्प्रतिपक्ष में भेद

यह है कि विरुद्ध में जो हेतु है उसके द्वारा ही उसके निगमन का खंडन हो जा सकता है, किन्तु सत्प्रतिपक्ष में निगमन का खंडन अन्य संभावित अनुमान के हेतु के द्वारा होता है।

चौथा हेत्वाभास 'असिद्ध' या 'साध्यसम' है। साध्यसम हेतु वह है जो स्वयं साध्य की भाँति असिद्ध रहता है। इस हेतु का अस्तित्व कल्पना मात्र है। जिस तरह साध्य का अस्तित्व अभी तक सिद्ध नहीं है उसी प्रकार हेतु का अस्तित्व भी सिद्ध नहीं रहता। इसलिये उसे साध्य-सम कहते हैं। और जब यह स्वयं असिद्ध रहता है तो फिर किस प्रकार यह निगमन की सत्यता को निश्चित कर सकता है? एक उदाहरण लीजिये। "आकाश-कमल सुगंधित है, क्योंकि साधारण कमल की तरह इसमें कमलत्व है।" इसमें हेतु 'कमलत्व' का कोई आधार ही नहीं है, क्योंकि आकाश-कमल का अस्तित्व ही संदिग्ध है। इस तरह हम देखते हैं कि यहाँ हेतु स्वयं असिद्ध है। अतः तज्जन्य दोष को भी असिद्ध ही कहते हैं।

(४) असिद्ध

पाँचवाँ हेत्वाभास 'बाधित' है। एक उदाहरण लेकर हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं। 'अग्नि शीतल है, क्योंकि यह एक द्रव्य है।' यहाँ 'शीतल' साध्य है और 'द्रव्य' हेतु है। यह अनुमान सही नहीं है, क्योंकि हम स्पर्शज्ञान से अग्नि में केवल शीतलता का अभाव ही नहीं पाते बल्कि उष्णता का स्पष्ट अनुभव पाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि हेतु 'द्रव्य' के द्वारा जो अनुमान सिद्ध किया जाता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण से बाधित हो जाता है। अतः किसी अनुमान का हेतु यदि अन्य किसी प्रमाण से बाधित हो जाय, तो वह अनुमान दोषपूर्ण होता है और उस दोष को बाधित कहते हैं। सत्प्रतिपक्ष और बाधित में भेद यह है कि सत्प्रतिपक्ष दोष तब होता है जब कोई अनुमान किसी दूसरे अनुमान से खंडित हो जाता है और बाधित-दोष तब होता है जब कोई अनुमान प्रत्यक्ष या अन्य किसी अनुमानेतर प्रमाण से खंडित होता है।

(५) बाधित

(४) उपमान

न्याय के अनुसार उपमान तीसरा प्रमाण है। इसके द्वारा संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का ज्ञान होता है अर्थात् इसके द्वारा किसी नाम और उसके नामी के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। कोई विश्वासयोग्य व्यक्ति आपके सामने किसी ऐसी वस्तु का वर्णन करें जिसे आपने कभी न देखा हो और पीछे उस वस्तु को देखकर आप कहें कि यह वस्तु वही है जिसका वर्णन आप के सामने किया गया था, तो यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होगा। एक उदाहरण लेकर हम इसे स्पष्ट कर सकते हैं। मान लीजिये कि आप नहीं जानते हैं कि 'गवय' या नील-गाय क्या है। कोई जंगल का रहने वाला आप से बतलाता है कि यह गाय के आकार-प्रकार की होती और गाय से बहुत मिलती-जुलती है। अब यदि आप किसी जंगल में बतलाये हुए आकार-प्रकार का कोई पशु देखते हैं और समझते हैं कि यही गवय है तो आपका यह ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होता है ❀। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। मान लीजिये कि किसी लड़के ने हनुमान नहीं देखा है। उसे कहा जाता है कि यह बन्दर के सदृश ही होता है, केवल इससे आकार में बड़ा होता और इसका मुंह काला होता है। तब यदि वह लड़का हनुमान् को देखकर समझ जाय कि यही हनुमान् है, तो उसे हनुमान का ज्ञान उपमान के द्वारा प्राप्त होता है। पाश्चात्य दार्शनिक डाक्टर एल० एस० स्टेब्बिङ्ग (L. S. Stebbing) † का भी कहना है कि सादृश्य-ज्ञान के द्वारा शब्दों का वाच्य-वस्तुओं से परिचय हो सकता है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं कि नाम और नामी के सम्बन्ध के ज्ञान को ही उपमान कहते हैं। उपमान-प्रमाण के लिये यह आवश्यक है कि हमें किसी परिचित वस्तु के साथ ज्ञातव्य वस्तु के सादृश्यों का ज्ञान प्राप्त रहे और आगे

संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध को उपमान कहते हैं

❀ देखिये तर्क-संग्रह, पृ० ६२-६३।

† देखिये Modern Introduction to Logic, पृ० १३

चलकर उन सादृश्यों का प्रत्यक्षीकरण हो। जब हम गवय में गो के सादृश्य को देखते हैं और पहले सुनी हुई इस बात का स्मरण करते हैं कि गवय गो के सदृश ही है, तभी हम जानते हैं कि इसका नाम गवय है ※।

उपमान पर अन्य दर्शनों के विचार

अन्य कुछ भारतीय दर्शन उपमान-प्रमाण को नहीं मानते हैं। चार्वाक कहते हैं † कि उपमान प्रमाण नहीं है क्योंकि इससे नामी का यथार्थ-ज्ञान नहीं मिल सकता। बौद्ध दार्शनिक उपमान को प्रमाण तो मानते हैं किन्तु उनके अनुसार यह प्रत्यक्ष और शब्द का ही एक परिवर्त्तित रूप है। अतः इसे स्वतंत्र प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं है। ‡ वैशेषिक + तथा सांख्य × उपमान को अनुमान का ही एक प्रकार मानते हैं। अतः इनके अनुसार यह न तो कोई विशेष प्रकार का ज्ञान ही है, न कोई स्वतंत्र प्रमाण ही है। जैन ÷ उपमान को प्रत्यभिज्ञा मानते हैं। मीमांसक ¶ और वेदान्ती § उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण तो मानते हैं, किन्तु ये इसका कुछ भिन्न अर्थ करते हैं। हम इसका वर्णन मीमांसा-दर्शन में करेंगे। ※※

※ देखिये न्याय-भाष्य, १. ६; न्याय-मंजरी १४१-४२

† देखिये न्याय-सूत्र और भाष्य, २. १. ४२

‡ देखिये न्याय-वार्त्तिक, १. १. ६

+ देखिये तर्क-संग्रह और दीपिका, पृष्ठ ६३

× तत्त्व कौमुदी ५

÷ प्रमेय-कमल-मार्त्तण्ड, अध्याय ३

¶ शास्त्र-दीपिका पृष्ठ ७४-७६

§ वेदान्त-परिभाषा, अध्याय ६

※※ उपमान के समीक्षात्मक विवरण के लिये Nyaya Theory of Knowlege, अध्याय १६ देखिये।

(५) शब्द

(क) शब्द का अर्थ और उसके भेद

न्याय के अनुसार चौथा प्रमाण शब्द है। शब्दों एवं वाक्यों से जो वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है उसे शब्द कहते हैं। सभी शब्द-ज्ञान यथार्थ नहीं होते। अतः शब्द को प्रमाण तभी समझा जाता है जब इसके द्वारा यथार्थ-ज्ञान मिलता है। आप्त या यथार्थवादी व्यक्तियों के वचन शब्द-प्रमाण समझे जाते हैं ¶। यदि किसी व्यक्ति को यथार्थ-ज्ञान प्राप्त रहे और वह अन्य व्यक्तियों के उपकार के लिये उस ज्ञान को प्रकट करे तो उसके वचन सत्य समझे जाते हैं ❀। किन्तु यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कोई वचन या वाक्य स्वतः तो वस्तुओं का ज्ञान नहीं करा सकता। किसी वाक्य के शब्दों को देखने से ही वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो जाता। शब्दों को देखकर तथा उनके अर्थ को समझ लेने पर ही उनसे कोई ज्ञान प्राप्त होता है। अतः शब्द यथार्थ या प्रमाणिक तो तब होता है जब वह किसी विश्वासयोग्य व्यक्ति का शब्द होता है और उससे ज्ञान तभी प्राप्त होता है जब उसका अर्थ मालूम हुआ रहता है। अतः विश्वासयोग्य व्यक्ति के वचन के अर्थ का ज्ञान शब्द-प्रमाण है †।

शब्द क्या है ?

शब्द का प्रकार-भेद दो ढंगों से हो सकता है। एक ढंग से तो शब्द दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होते हैं। दृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे ऐसी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है जिनका प्रत्यक्ष हो सके। अदृष्टार्थ शब्द उसे कहते हैं जिससे अदृष्ट वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है। साधारण मनुष्य तथा महात्माओं के विश्वासयोग्य वचन, धर्म-ग्रन्थों की वैसी

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द

¶ देखिये न्याय सूत्र १. १. ७.

❀ तार्किक-रक्षा पृ० ९४-९५

† तर्क-संग्रह, पृ० ७३; भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली, ८१

उक्तियाँ जो दृष्ट पदार्थों के सम्बन्ध की हों, न्यायालय में साक्षियों के वचन, विश्वासयोग्य किसानों की कृषि-सम्बन्धी उक्तियाँ, वर्षा के लिये धर्म-ग्रन्थों में बताये हुए विधान इत्यादि दृष्टार्थ शब्द के अंतर्गत हैं। किन्तु प्रत्यक्ष के बाहर वस्तुओं के सम्बन्ध में जो साधारण मनुष्यों, महात्माओं, धर्म-गुरुओं, एवं धर्म-ग्रन्थों के विश्वासयोग्य वचन होते हैं, अर्थात् परमाणु आदि विषयों के सम्बन्ध में जो वैज्ञानिकों के वचन हैं, पाप और पुण्य के सम्बन्ध में जो धर्म-गुरुओं के वचन हैं, ईश्वर, जीव की नित्यता आदि के सम्बन्ध में जो धर्म-ग्रन्थों की उक्तियाँ हैं—ये सभी अदृष्टार्थ-शब्द के अंतर्गत हैं।

दूसरे ढंग से भी शब्द के दो भेद किये जाते हैं—वैदिक और लौकिक *। वैदिक शब्द स्वयं ईश्वर के वचन माने जाते हैं। अतः वैदिक शब्द बिलकुल निर्दोष एवं अभ्रान्त हैं। किन्तु लौकिक शब्द सभी सत्य नहीं होते। ये मनुष्यों के वचन हैं, अतः ये सत्य या मिथ्या भी हो सकते हैं। लौकिक शब्द केवल वे ही सत्य होते जो विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वचन होते हैं। हम देखते हैं कि शब्द का प्रथम प्रकार-भेद ज्ञातव्य विषयों के स्वरूप के अनुसार हुआ है, किन्तु दूसरा प्रकार-भेद शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हुआ है। किन्तु दोनों ही से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि नैयायिकों के अनुसार शब्द की उत्पत्ति किसी व्यक्ति से ही होती है—चाहे वह व्यक्ति कोई मनुष्य हो या स्वयं भगवान हो। जहाँ तक शब्दों की सत्यता का प्रश्न है, साधारण मनुष्य, महात्मा, धर्म-गुरु एवं धर्म-ग्रन्थ के शब्दों में (जो ईश्वर के द्वारा प्रकट होते हैं) कोई भेद नहीं है †।

(ख) वाक्य-विवेचन

विश्वासयोग्य व्यक्तियों के कथित या लिखित वाक्यों के अर्थ को समझने से जो वस्तुओं का ज्ञान होता है, वह शब्द-प्रमाण के

---

* तर्क-संग्रह पृ० ७३ ; तर्कभाषा, पृ० १४

† शब्द के विस्तृत विवरण के लिये The Nyaya Theory of Knowledge, पृ ३८१-८९ देखिये।

द्वारा होता है। अतः यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि वाक्य क्या है और वह समझ में किस तरह आता है? हम जानते हैं कि वाक्य ऐसे पदों का समूह है जो एक विशेष ढंग से क्रमबद्ध रहते हैं। पद भी ऐसे अक्षरों का समूह है जो विशेष प्रकार से क्रमबद्ध रहते हैं*। पद का अर्थ ही उसकी विशेषता है। पद का किसी विषय के साथ एक निश्चित सम्बन्ध रहता है। अतः जब वह सुना जाता या पढ़ा जाता है तो वह उस विषय का ज्ञान उत्पन्न कर देता है। इस तरह हम देखते हैं कि शब्द अर्थ का प्रतीक है। शब्दों में अर्थ बोध कराने की जो क्षमता है उसे शब्दों की शक्ति कहते हैं। न्याय के अनुसार यह शक्ति ईश्वरेच्छा पर निर्भर रहती है†। ईश्वर के कारण ही शब्दों के अर्थ सर्वदा निश्चित रहते हैं, क्योंकि संसार में जितने प्रकार की व्यवस्था या एकरूपता हम पाते हैं सब ईश्वर-जनित ही है।

वाक्य का लक्षण

वाक्य पदों का वह समूह है जिससे कोई अर्थ निकले। किसी भी प्रकार का समूह अर्थपूर्ण वाक्य नहीं समझा जा सकता। किसी अर्थपूर्ण वाक्य के लिये चार बातें आवश्यक हैं—आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि तथा तात्पर्य‡। हम इनका एक एक कर विचार करेंगे।

वाक्य की चार आवश्यकताएँ—

(१) आकांक्षा

किसी वाक्य के पदों में एक ऐसा गुण रहता है जिसके कारण वे आपस में एक दूसरे के अपेक्षित रहते हैं। इसे ही 'आकांक्षा' कहते हैं। सामान्यतः किसी एक पद से ही पूरा-पूरा अर्थ-बोध नहीं हो सकता। जब तक एक पद का दूसरे पदों के साथ सम्बन्ध न स्थापित किया जाय तब तक वाक्य पूरा नहीं हो सकता है। जब कोई व्यक्ति कहता है—'लाओ', तो

---

* तर्क-संग्रह, पृ० ६३-६४

† तर्क-संग्रह, पृ० ६४

‡ तर्क-संग्रह, ७२; भाषा-परिच्छेद, ८२

तुरत ही यह प्रश्न उठता है कि 'क्या' ? 'लाओ' पद को वस्तु-बोधक पदों की आकांक्षा अर्थात् अपेक्षा रहती है—जैसे 'घड़ा'। पूरा-पूरा अर्थ व्यक्त करने के लिये किसी वाक्य के पदों में जो पारस्परिक अपेक्षा रहती है, उसे ही आकांक्षा कहते हैं।

वाक्य की दूसरी आवश्यकता उसके पदों की 'योग्यता' है। वाक्य के पदों के द्वारा जिन वस्तुओं का बोध होता है उनमें यदि कोई विरोध न हो तो इस विरोध के अभाव को योग्यता कहते हैं। अर्थात् यदि किसी वाक्य के अर्थ में कोई विरोध न पाया जाय तो हम कहेंगे कि इसके पदों में योग्यता वर्त्तमान है। 'आग से सींचो'—इस वाक्य के पदों में योग्यता का अभाव है क्योंकि 'आग' और 'सींचना' में परस्पर विरोध है।

(२) योग्यता

वाक्य की तीसरी आवश्यकता 'सन्निधि' या 'आसत्ति' है। वाक्य के पदों का एक दूसरे से सामीप्य होना ही सन्निधि है। कोई वाक्य तभी अर्थ-सूचक हो सकता है जब उसके पदों में समय एवं स्थान की दृष्टि से नैकट्य हो। यदि उनके बीच समय का बहुत अन्तर रहे तो उनसे वाक्य नहीं बन सकता। उसी प्रकार यदि उनके बीच स्थान का बहुत अन्तर रहे तो वाक्य नहीं बनता। 'एक—गाय—लाओ' इन पदों में आकांक्षा और योग्यता के रहने पर भी इनसे वाक्य नही बन सकता यदि ये एक-एक कर तीन दिनों में बोले जाँय या तीन पृष्ठों पर अलग-अलग लिखे जाँय।

(३) सन्निधि

किसी वाक्य से जिस अर्थ को सूचित करने का अभिप्राय रहता है वही उसका तात्पर्य है। विभिन्न स्थानों में एक ही पद के कई अर्थ हो सकते हैं। किसी विशेष स्थान पर उसका क्या अर्थ होगा यह उसके व्यवहार करनेवाले के अभिप्राय पर निर्भर करता है। अतः उसको समझने के लिये हमें वक्ता या लेखक के अभिप्राय का विचार करना होगा। यदि किसी व्यक्ति को कहा जाय कि 'सैन्धव' लाओ तो वह मुश्किल में पड़ जाता

(४) तात्पर्य

है कि वह नमक ले आवे या घोड़ा ले आवे, क्योंकि सैन्धव का अर्थ सैन्धव नमक और सिंध देश का घोड़ा दोनों है। किन्तु यदि हम वक्ता के अभिप्राय की सहायता लें तो फिर हम समझ जा सकते हैं कि वह क्या चाहता है। अतः वाक्य के अर्थ को हम तभी समझ सकते हैं जब हम उसके तात्पर्य का विचार करें। साधारण मनुष्यों के द्वारा जो पद व्यवहृत होते हैं उनका तात्पर्य तो हम प्रकरण के अनुसार समझ जा सकते हैं। किन्तु वैदिक मंत्रों को समझने के लिये हमें उन नियमों की सहायता लेनी होगी जो मीमांसा-दर्शन में इसके लिये दिये गये हैं।

३. जगत् सम्बन्धी विचार

अब तक तो हम प्रमाणों का विचार कर रहे थे। अब हम प्रमेयों का अर्थात् ज्ञान के विषयों का विचार करेंगे। नैयायिकों के अनुसार आत्मा, शरीर, इन्द्रिय एवं उसके विषय, प्रमा, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग प्रमेय हैं। साथ-साथ द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव भी प्रमेय के ही अन्तर्गत हैं। सभी प्रमेय जड़-जगत् में ही नहीं रहते हैं। इसमें तो केवल भूतों से निर्मित द्रव्य और उनके सम्बन्धी विषय ही रहते हैं। आत्मा, ज्ञान और मन भौतिक नहीं हैं। काल और दिक् भी भौतिक नहीं हैं, फिर भी इनका अस्तित्व जड़-जगत् में ही है। आकाश एक अपरिणामी भूत है। यह जड़-जगत् भूतों से अर्थात् क्षिति, जल, पावक और समीर से बना हुआ है। ये चारो तत्त्व, क्रमशः क्षिति, जल, पावक और समीर के परमाणुओं से बने हुए हैं। ये परमाणु नित्य एवं अपरिवर्तनशील होते हैं। आकाश, काल और दिक् भी नित्य और अनन्त द्रव्य हैं, किन्तु ये परमाणु के बने नहीं होते, विभु होते हैं। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यह जड़-जगत् चार प्रकार के परमाणुओं से बना हुआ है। परमाणुओं के संयोग से बनी हुई सभी वस्तुएँ, उनके गुण तथा उनके पारस्परिक

प्रमेय क्या है ?

परमाणु, आकाश, काल और दिक्

सम्बन्ध, जीव, शरीर, इन्द्रियाँ और उनके द्वारा जानने योग्य वस्तुओं के गुण—ये सभी जड़ जगत् के ही अंतर्गत हैं। आकाश, काल, दिक् एवं इनके विभिन्न रूपान्तर भी जड़-जगत् के ही अन्तर्गत हैं। न्याय और वैशेषिक के संसार-सम्बन्धी विचारों में पूरा सादृश्य है। किन्तु वैशेषिक में संसार का बृहत् वर्णन दिया गया है। वैशेषिक सिद्धान्तों को नैयायिक स्वीकार करते हैं। अतः वे वैशेषिक-दर्शन को समान-तंत्र मानते हैं। इसका पूरा विवरण वैशेषिक दर्शन में किया जायगा।

४. जीवात्मा और मोक्ष

जीवात्माओं को यथार्थज्ञान और मोक्ष पाने के लिये मार्ग-प्रदर्शन करना ही न्याय-दर्शन का उद्देश्य है। हमें यहाँ यह जानना आवश्यक है कि जीवात्मा का क्या स्वरूप है और इसके क्या-क्या लक्षण हैं। भारतीय दर्शन में आत्मा के सम्बन्ध में चार मत हैं। चार्वाक के अनुसार चैतन्य-विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। यह जड़वादी मत है। बौद्धों के अनुसार आत्मा विज्ञानों का प्रवाह है। प्रत्यक्ष-वादियों की भांति ये केवल व्यावहारिक आत्मा (Empirical self) को ही मानते हैं। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, नित्य है एवं स्वप्रकाश-चैतन्य है। आत्मा न तो ज्ञाता है, न ज्ञेय है और न 'अहम्' ही है। विशिष्टाद्वैत-वेदान्त के अनुसार आत्मा केवल चैतन्य नहीं है, बल्कि एक ज्ञाता है जिसे अहम् कह सकते हैं। कहा है—

आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार

ज्ञाता अहमर्थ एवात्मा।

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक का मत वस्तुवादी मत कहा जा सकता है। इनके अनुसार आत्मा एक ऐसा द्रव्य है जिसमें बुद्धि या ज्ञान, सुख-दुःख, राग-द्वेष, इच्छा, कृति या प्रयत्न आदि गुण के रूप में वर्त्तमान रहते हैं। ये जड़-जगत् के गुण नहीं हैं, क्योंकि जड़-द्रव्यों के गुणों की तरह ये वाह्य इन्द्रियों से बोधगम्य नहीं हो सकते। अतः हमें यह मानना ही पड़ता है कि ये एक ऐसे द्रव्य

आत्मा के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक मत

के गुण हैं जो जड़-द्रव्यों से भिन्न है । भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्मा हैं क्योंकि उनके अनुभव एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं । आत्मा अविनाशी तथा नित्य है । यह विभु है, क्योंकि यह काल और दिक् दोनों ही दृष्टियों से बिलकुल असीम है *।

आत्मा शरीर इन्द्रिय, मन एवं विज्ञान-प्रवाह से भिन्न है

शरीर या इन्द्रियों को आत्मा नहीं कहा जा सकता । शरीर आत्मा नहीं है, क्योंकि इसकी अपनी चेतना या ज्ञान नहीं है । वाह्य इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं समझा जा सकता है क्योंकि कल्पना, स्मृति, विचार आदि मानसिक व्यापारों का कारण वाह्य इन्द्रियाँ नहीं हैं । मन को भी आत्मा नहीं माना जा सकता है । न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन अणु है और इसलिये अदृष्ट द्रव्य है । मन ही को यदि आत्मा माना जाय तो सुख, दुःख आदि मन के ही गुण होंगे और मन के अणु होने के कारण इनकी कोई अनुभूति नहीं हो सकेगी । लेकिन सुख-दुःख की अनुभूति तो हमें अवश्य होती है । आत्मा को हम विज्ञानों का सन्तान या प्रवाहमात्र भी नहीं मान सकते हैं (जैसा बौद्ध मानते हैं) । क्योंकि तब हम स्मृति की उत्पत्ति नहीं कर सकते हैं । यदि आत्मा केवल विज्ञानों का प्रवाहमात्र हो तो किसी भी मानसिक अवस्था से इस बात का पता नहीं लग सकता है कि उसके पहले क्या था और उसके बाद क्या आवेगा । नैयायिक अद्वैत-वेदान्तियों के मत को भी (अर्थात् आत्मा स्वप्रकाश-चैतन्य है) नहीं मानते हैं । शुद्ध चैतन्य नाम की ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो न तो किसी ज्ञाता से न किसी ज्ञेय से ही सम्बद्ध हो । चैतन्य के लिये कोई आश्रय-द्रव्य होना आवश्यक है । अतः आत्मा को हम शुद्ध चैतन्य नहीं मान सकते, बल्कि आत्मा एक द्रव्य है जिसका चैतन्य एक गुण है । आत्मा ज्ञान नहीं है बल्कि एक ज्ञाता है जो अहंकाराश्रय तथा भोक्ता भी है † ।

---

* न्याय-भाष्य, १.१.१०; पदार्थ-धर्म-संग्रह, ३० तर्क-भाषा, १८-१९

† भाषा-परिच्छेद और मुक्तावली, ४८-५०; न्यायसूत्र और भाष्य, ३.१.४

यद्यपि ज्ञान या चैतन्य आत्मा का एक गुण है, फिर भी हम इसे आत्मा का स्वरूप-लक्षण नहीं मान सकते। आत्मा में चेतना का संचार तभी होता है जब इसका मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का वाह्य-वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है। यदि ऐसा सम्पर्क नहीं हो तो आत्मा में चैतन्य का उदय नहीं हो सकता। अतः आत्मा जब शरीरमुक्त होता है तब इसमें ज्ञान का अभाव रहता है। इस तरह हम देखते हैं कि चैतन्य आत्मा का एक आगन्तुक गुण है *।

चैतन्य आत्मा का स्वरूप नहीं है

हम कैसे समझ सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न कोई आत्मा नाम की वस्तु है? कुछ प्राचीन नैयायिक † कहते हैं कि आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो सकती। उनके अनुसार आत्मा का ज्ञान या तो आप्तवचनों से होता है या उसके प्रत्यक्ष गुणों यथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, एवं बुद्धि से अनुमान के द्वारा होता है। हमलोगों में राग-द्वेष वर्त्तमान हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु इनका अस्तित्व ही संभव नहीं है यदि कोई स्थायी आत्मा नहीं है। किसी वस्तु को पाने की इच्छा रखने का मतलब यह है कि वह वस्तु सुखद है। किन्तु जब तक हम उसको पा नहीं लेते हैं तब तक उससे कोई सुख नहीं मिल सकता है। अतः उस वस्तु को पाने की इच्छा हम इसलिये रखते हैं कि हम समझते हैं कि ऐसी ही वस्तुओं से अतीत काल में सुख मिला था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इच्छा तभी हो सकती है जब कोई स्थायी आत्मा रहे जिसने अतीत में वस्तुओं से सुख प्राप्त किया हो और जो वर्त्तमान वस्तुओं को अतीत की वस्तुओं के सदृश समझकर उन्हें पाने की अभिलाषा रखता हो। इसी प्रकार द्वेष और प्रयत्न भी बिना स्थायी आत्मा के संभव नहीं हैं। कोई व्यक्ति सुख तभी प्राप्त करता है जब वह कोई ऐसी वस्तु पा लेता है

आत्मा के अस्तित्व के प्रमाण

* वार्त्तिक, २. १. २२; न्याय-मंजरी, पृष्ठ ४३२.

† न्याय-भाष्य, १. १. ९-१०

जिसके द्वारा वह किसी स्मृत सुख का पुनः अनुभव कर सकता है। उसे दुःख तब मिलता है जब वह किसी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है जिसके कारण अतीत में उसे दुःख का अनुभव करना पड़ा हो। इसी प्रकार बुद्धि या ज्ञान के लिये भी एक स्थायी आत्मा का अस्तित्व आवश्यक है। आत्मा सर्वप्रथम किसी विषय को जानने की इच्छा रखता है, तब उसपर बुद्धि के द्वारा विचार करता है और अन्त में उस विषय के सम्बन्ध में असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त करता है। इच्छा, द्वेष आदि की उत्पत्ति न तो शरीर, न इन्द्रिय और न मन के द्वारा ही हो सकती है। जिस प्रकार एक मनुष्य की अनुभूतियों की स्मृति दूसरा मनुष्य नहीं कर सकता है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय या मन के कारण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख एवं बुद्धि या ज्ञान संभव नहीं हो सकते हैं; क्योंकि शरीर या इन्द्रिय भी तो भिन्न-भिन्न शारीरिक अवस्थाओं का एक प्रवाह मात्र है और मन भी क्षणस्थायी मानसिक अवस्थाओं का ही समूह है†।

मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का ज्ञान

किन्तु नव्य-नैयायिक कहते हैं कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा आत्मा का साक्षात् ज्ञान होता है। हाँ, यह ठीक है कि जब कोई इसके अस्तित्व पर संदेह करता है तब उपर्युक्त ढंग से इसको सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है। आत्मा के मानस प्रत्यक्ष के दो रूप हैं। एक तो इसका प्रत्यक्ष शुद्ध चैतन्य के रूप में हो सकता है, जो आत्मा और मन के सम्पर्क से संभव होता और जिसकी अभिव्यक्ति 'मैं हूँ' के रूप में होती है। किन्तु कुछ नैयायिक कहते हैं कि आत्मा स्वयं प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। इसका प्रत्यक्ष बुद्धि, सुख-दुःख या प्रयत्न आदि प्रत्यक्ष-गुण-विशिष्ट रूप में ही हो सकता है। इसीलिये हम कहते भी हैं कि 'मैं जानता हूँ', 'मैं सुखी हूँ, इत्यादि। हम आत्मा का आत्मा के रूप में प्रत्यक्ष नहीं करते हैं, बल्कि इसे ज्ञाता, भोक्ता या कर्त्ता के रूप में ही जान सकते हैं। अतः आत्मा का प्रत्यक्ष चैतन्य

† देखिए भाष्य, १.१.१०,

की किसी न किसी अवस्था के द्वारा ही होता है। हम अपने-अपने आत्माओं का तो स्वयं प्रत्यक्ष कर सकते हैं, किन्तु दूसरों के आत्माओं को उनके बुद्धि-परिचालित-कार्यों से अनुमान करके ही जान सकते हैं। बुद्धि-चालित कार्यों का कारण यह अचेतन शरीर नहीं हो सकता। उनके लिये चेतन आत्मा की ही आवश्यकता है *।

आत्मा किस तरह मोक्ष प्राप्त कर सके यही प्रत्येक भारतीय दर्शन का चरम उद्देश्य है। न्याय-दर्शन में भी तत्त्व-ज्ञान का अनुसंधान इसीलिये किया जाता है कि उसके द्वारा जीवन के लक्ष्य की प्राप्ति हो सके। मोक्ष का वर्णन विभिन्न दर्शनों में भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया है। नैयायिकों के अनुसार मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है। वे इसे अपवर्ग कहते हैं। अपवर्ग का तात्पर्य है शरीर और इन्द्रियों के बंधनों से आत्मा का विमुक्त होना। जब तक आत्मा शरीर-ग्रस्त रहता है तब तक इसके लिये दुःखों का पूर्ण विनाश संभव नहीं है। इन्द्रिय-सहित शरीर के वर्त्तमान रहने पर हम उसका अनुचित एवं अप्रिय वस्तुओं के साथ सम्पर्क रोक नहीं सकते और फलस्वरूप दुःखों से बच नहीं सकते हैं। अतः मोक्ष तभी मिल सकता है जब हम शरीर और इन्द्रियों के बंधनों से मुक्त हो जावें। किन्तु शरीर से मुक्त होने पर आत्मा के दुःखों का ही केवल अन्त नहीं होता है, प्रत्युत उनके सुखों का भी अन्त हो जाता है। यहाँ तक कि इसमें किसी भी प्रकार की अनुभूति अवशिष्ट नहीं रहती। अतः मोक्ष की अवस्था में आत्मा शरीर से पूर्णतया मुक्त होकर सुख-दुःख से परे हो जाता और बिलकुल अचेतन हो जाता है। मोक्ष की अवस्था में जो दुःख का नाश होता है उसका अर्थ यह नहीं कि उस समय दुःख केवल कुछ काल तक स्थगित हो जाता है, जैसा कि प्रगाढ़ निद्रा के समय या किसी रोग से विमुक्त

अपवर्ग का लक्षण

---

* देखिये तर्क-भाषा पृ० ६; तर्क-कौमुदी पृ० ८; आत्मपरिच्छेद और मुक्तावली, ४६-५०।

होने के बाद या किसी शारीरिक या मानसिक कष्ट से मुक्त होने पर होता है। इस अवस्था में तो दुःख का सदा के लिये अन्त हो जाता है। यह आत्मा की वह चरम अवस्था है जिसका वर्णन धर्म-ग्रन्थों में 'अभयम' 'अजरम' 'अमृत्युपदम' आदि नामों से किया गया है ❀।

मोक्ष पाने के लिये सबसे पहले धर्म-ग्रन्थों के आत्मा-सम्बन्धी उपदेशों का श्रवण करना चाहिये। तब मनन के द्वारा आत्मा-सम्बन्धी ज्ञान को सुदृढ़ बनाना चाहिये। और तब निदिध्यासन के द्वारा अर्थात् योग के बतलाये मार्ग के अनुसार आत्मा का निरंतर ध्यान करना चाहिये। इनसे यह लाभ होता है कि मनुष्य आत्मा को शरीर से भिन्न समझने लगता है। तब उसके इस मिथ्या-ज्ञान का कि 'मैं शरीर और मन हूँ' अन्त हो जाता है और तब वह वासनाओं और प्रवृत्तियों से परिचालित नहीं होता। इस तरह जब मनुष्य वासनाओं और प्रवृत्तियों से मुक्त हो जाता है तो उसके वर्त्तमान कर्मों का उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि तब तो वह कोई भी कर्म बिलकुल निष्काम भाव से करता है। अपने संचित कर्मों का फल भोग लेने पर फिर वह जन्म-ग्रहण के चक्र में नहीं पड़ता और इस तरह पुनर्जन्म का अन्त हो जाने पर शरीर के बंधनों का और साथ साथ दुःखों का भी अन्त हो जाता है। यही मोक्ष या अपवर्ग है †।

अपवर्ग या मोक्ष पाने के उपाय—श्रवण, मनन और निदिध्यासन

५. ईश्वर-विचार

न्याय-सूत्र ‡ में ईश्वर का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। महर्षि गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि जीवों के कर्मानुसार ईश्वर

❀ देखिये भाष्य, १.१.२२; प्रश्न उपनिषद्, ५.७

† तर्क-संग्रह और दीपिका पृ० १०६-१०७

‡ न्याय-सूत्र ४.१.१६-२१

जगत् की सृष्टि और जीवों के सुख-दुःख का विधान करते हैं। नव्य नैयायिक भी ईश्वर का पूर्ण विचार करते हैं और इसे मोक्ष के लिये आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर की दया से ही जीवात्मा वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है और तब मोक्ष प्राप्त कर सकता है। कोई भी व्यक्ति ईश्वर की अनुकम्पा के बिना न तो पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न अपवर्ग की ही प्राप्ति कर सकता है। इसलिये यहाँ ये प्रश्न उठ सकते हैं कि ईश्वर क्या है? और इसके अस्तित्व के लिये क्या-क्या प्रमाण हैं?

(१) ईश्वर क्या है?

ईश्वर जगत् का आदिस्रष्टा, पालक तथा संहारक है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता है, वरं नित्य परमाणुओं, दिक्, काल, आकाश, मन तथा आत्माओं से उसकी सृष्टि करता है। ईश्वर के साथ-साथ रहनेवाली नित्य सत्ताओं का जगत् में रूपान्तर होना ही सृष्टि है। यह जगत् धर्म-प्रधान है। इसमें आत्मा अपने-अपने पाप और पुण्य के अनुसार क्रमशः दुःख और सुख के भागी होते हैं। इसके जड़-द्रव्य आत्माओं के आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिये साधन का काम करते हैं। अतः ईश्वर संसार का आदि निमित्त-कारण है, उपादान-कारण नहीं। इसे हम विश्वकर्मा कह सकते हैं। यह संसार का पोषक भी है, क्योंकि इसी की इच्छानुसार संसार कायम रहता है। यह संसार का संहारक भी है, क्योंकि जब-जब धार्मिक प्रयोजनों के लिये संसार के संहार की आवश्यकता जान पड़ती है तब-तब वह विध्वंसक शक्तियों के द्वारा उसका संहार भी करता है। ईश्वर एक, अनन्त और नित्य है। दिक्, काल, मन, तथा आत्मा इसे सीमित नहीं कर सकते। इन द्रव्यों का ईश्वर के साथ वही सम्बन्ध है जो शरीर का इसके अन्दर रहनेवाले आत्मा के साथ है। यद्यपि ईश्वर को मनुष्य के पाप और पुण्य के अनुसार चलना पड़ता है फिर भी वह सर्वशक्तिमान् है। वह सर्वज्ञ है क्योंकि

ईश्वर संसार का स्रष्टा, पालक और संहारक है

उसे सभी वस्तुओं और घटनाओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त है। उसका ज्ञान नित्य है। इस नित्य ज्ञान के द्वारा वह सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ईश्वर नित्य-ज्ञान-युक्त है। अर्थात् वह नित्य ज्ञान का आश्रय है। अतः वह उस ज्ञान के साथ अभिन्न नहीं है जैसा कि अद्वैत वेदान्त मानता है। ईश्वर के छः गुण हैं जिसे 'षडैश्वर्य' कहते हैं। ये गुण उसमें पूर्णरूप से वर्त्तमान हैं। इसके अनुसार

षडैश्वर्य

ईश्वर में अखण्ड ऐश्वर्य (अर्थात् आधिपत्य वीर्य, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य) हैं ❀।

ईश्वर संसार का निमित्त कारण है किन्तु जीवात्माओं के कर्मों का वह प्रयोजक-कारण है। कोई भी जीव, यहाँ तक कि कोई भी

ईश्वर संसार का धर्म-व्यवस्थापक भी है

मनुष्य, अपने कार्यों को करने में पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं है। वह केवल अपेक्षाकृत स्वतंत्र है। अर्थात् वह परमात्मा की प्रेरणा के अनुसार ही कार्य करता है। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् एवं दयालु पिता अपने पुत्र को उसकी मेधा, योग्यता एवं उपार्जित गुण के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सभी जीवों को अपने-अपने अदृष्ट (अतीत संस्कार) के अनुसार कर्म करने को तथा उनके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्त्ता तो है, लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट के अनुसार प्रेरित या प्रयोजित होकर कर्म करता है। अतः ईश्वर को जीव के कर्मों का प्रयोजक-कर्त्ता कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का धर्म-व्यवस्थापक है, उनका कर्म-फल-दाता और उनके सुख-दुःखों का निर्णायक है †।

(१) ईश्वर के लिये प्रमाण

ईश्वर के स्वरूप का विचार तो हमने ऊपर किया है, किन्तु प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिये क्या-क्या प्रमाण हैं?

❀ देखिये षड्दर्शन-समुच्चय, अध्याय १; कुसुमांजलि, ५

† न्याय-भाष्य, ४.१.२१

न्याय-वैशेषिक दर्शन में इसके लिये अनेक प्रमाण हैं जिनके अन्दर पाश्चात्य दर्शन के ईश्वर सम्बन्धी प्रायः सभी प्रमाण आ जाते हैं। यों तो न्याय-दर्शन में ईश्वर के लिये प्रायः दश प्रमाण दिये गये हैं, किन्तु हम यहाँ मुख्य-मुख्य प्रमाणों का ही उल्लेख करेंगे।

(क) इस संसार का जो कर्त्ता है वही ईश्वर है

परमाणुओं से बनी हुई, पर्वत, समुद्र जैसी जितनी सावयव वस्तुएँ हैं, सबों के कारण हैं, क्योंकि सभी घट की तरह कार्य हैं।

सावयव वस्तुओं का कर्त्ता आवश्यक है—वह ईश्वर है

उपर्युक्त प्रकार की सभी वस्तुएँ कार्य हैं इसके लिये दो प्रमाण हैं। एक तो वे सावयव हैं, दूसरे वे मध्यम-परिमाण के हैं। दिक्, काल, आकाश, आत्मा कार्य नहीं हैं क्योंकि ये सावयव नहीं, प्रत्युत विभु हैं। क्षिति, जल, अग्नि और वायु के परमाणु तथा मन भी कार्य नहीं हैं क्योंकि ये अणु तथा निरवयव हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त पर्वत और समुद्र, सूर्य और चन्द्र, तारे और नक्षत्र जैसी जितनी सावयव वस्तुएँ हैं सभी के कुछ न कुछ कारण अवश्य हैं, क्योंकि एक तो ये सावयव हैं, दूसरे ये न तो विभु हैं और न अणु ही हैं। ये सभी वस्तुएँ कई उपादान-कारणों के संयोग से ही बनी हुई हैं। अतः इनका कोई न कोई बुद्धिमान् कर्त्ता अवश्य होगा, क्योंकि बिना किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के संचालन से इन वस्तुओं के उपादान-कारणों में वैसा आकार या रूप नहीं आ सकता जैसा उनमें पाया जाता है। इस बुद्धिमान् कर्त्ता को उपादान-कारणों का (अर्थात् परमाणुओं का) साधन के रूप में अपरोक्ष ज्ञान होना आवश्यक है और उसमें लक्ष्य-पूर्ति की इच्छा और साथ-साथ प्रयत्न की शक्ति होना भी आवश्यक है। इन्हें संक्षेप में 'ज्ञान-चिकीर्षा-कृति' कहते हैं। उसे सर्वज्ञ भी होना चाहिये, क्योंकि सर्वज्ञ ही परमाणु जैसी सूक्ष्म सत्ताओं का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व बिलकुल असंदिग्ध है।[†]

[†] कुसुमांजलि, ५; सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय, ११ तर्क-संग्रह और दीपिका पृ० २१-२२,

नैयायिकों की यह युक्ति पॉल जाने (Paul Janet)†, हर्मन लॉट्ज़ा (Hermann Lotze) ❀, जेम्स मार्टिनो (James Martineau) ‡ जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों के ईश्वर-सम्बन्धी कारण-मूलक युक्ति (Causal Argument) से बहुत मिलती है। इन दार्शनिकों के अनुसार भी इस वस्तु-जगत् का निर्माण किसी बुद्धिमान् कर्त्ता के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि वही उपादान-कारणों को आकार और रूप दे सकता है। जाने कहते हैं कि परस्पर-भिन्न वस्तुओं के जितने भी प्रकार के संयोग होते हैं उनके लिये बुद्धिमान् कर्त्ता की आवश्यकता है, क्योंकि वही भिन्न वस्तुओं में संयोग ला सकता है। उसी प्रकार लॉट्ज़ा और मार्टिनो भी साधारण जड़-द्रव्यों के कारण-कार्य सिद्धान्त के द्वारा एक ऐसी चेतन सत्ता की कल्पना करते हैं जो संसार का आदि-कारण है। बुद्धिमान् कर्त्ता ही संसार का निमित्त-कारण है, यह नैयायिक-मत मार्टिनो के मत से बहुत मिलता है। उनका मत है कि स्रष्टि की इच्छा ही जगत् का कारण है। यहाँ एक बात यह स्मरण रखना चाहिये कि इन पाश्चात्य ईश्वरवादियों में तथा नैयायिकों में कुछ भेद भी है। पाश्चात्य ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर जगत् के उपादानों का केवल संयोजक नहीं है, बल्कि उन उपादानों का स्रष्टा भी है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार वह केवल संयोजक ही है, उपादानों का स्रष्टा नहीं है। फिर भी न्याय-मत पाश्चात्य डीज़्म (Deism) अर्थात् *केवल निमित्त ईश्वरवाद* के बिलकुल सदृश नहीं है। डीज़्म के अनुसार ईश्वर जब संसार की सृष्टि कर लेता है तो उससे वह पृथक् हो जाता है। वह तब संसार की घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। जिस तरह घड़ीसाज घड़ी के बिगड़ जाने

† Final Causes, भाग १, अध्याय १,

❀ Outlines of a Philosophy of Religion, अध्याय १ और २

‡ A Study of Religion, भाग २, अध्याय १,

पर ही उसे फिर ठीक करता है, उसी तरह ईश्वर भी केवल अत्यावश्यक परिस्थितियों में ही संसार की देख-रेख करता है। किन्तु न्याय-दर्शन के अनुसार ईश्वर सर्वदा ही संसार से सम्बन्ध रखता है। क्योंकि यह संसार का केवल स्रष्टा ही नहीं है, वरं इसका रक्षक और संहारक भी है।

(ख) अदृष्ट का अधिष्ठाता ईश्वर है

ईश्वर-सिद्धि के लिये नैयायिकों की दूसरी युक्ति यह है। इस युक्ति के मूल में एक प्रश्न है कि हमलोगों के भाग्यों में जो अन्तर है उसका कारण क्या है? कुछ लोग सुखी हैं तो कुछ दुःखी, कुछ बुद्धिमान् हैं तो कुछ मूर्ख। हमारे ऐहिक जीवन में जो ऐसी-ऐसी भिन्नताएँ हैं, उनका क्या कारण है? हम यह नहीं कह सकते कि उनका कारण है ही नहीं, क्योंकि ये भी तो जीवन की घटनाएँ हैं और कोई भी घटना बिना कारण के नहीं होती। हमारे जीवन में जो सुख या दुःख पाये जाते हैं उनके कारण हमारे इस जीवन के या पूर्वजीवन के कर्म ही हैं। हमारे सुकर्मों से हमें सुख एवं कुकर्मों से दुःख मिलते हैं। हमारे जीवन में जो इस प्रकार की एक व्यवस्था है उसका नियामक 'कर्म' है। कर्म-नियम के अनुसार मनुष्य अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य पाता है। इसमें अचरज की कोई बात नहीं। यह तो कारण-कार्य-सिद्धान्त के बिलकुल अनुकूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है और प्रत्येक कार्य किसी न किसी कारण से उत्पन्न होता है। जो कारण-कार्य-नियम को मानता है और जो इस नियम का प्रयोग आचार-सम्बन्धी विषयों में करता है, वह तो यह अवश्य स्वीकार करेगा कि हमारे कर्म भी उसी प्रकार कारण हैं, जिस प्रकार वाह्य जगत् की घटनाएँ कारण समझी जाती हैं। जिस प्रकार शारीरिक क्रियाएँ शारीरिक कार्य उत्पन्न करती हैं और मानसिक क्रियाएँ मानसिक कार्य उत्पन्न करती हैं, उसी प्रकार अच्छे या बुरे कर्मों से अच्छे या बुरे फल

कर्म-भेद के कारण भाग्य-भेद होता है

अर्थात् सुख या दुःख की उत्पत्ति अवश्य होती है। अतः हमारे सुख या दुःख का कारण हमारा कर्म ही है †।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है। हम देखते हैं कि प्रायः कर्म और फल के बीच समय का बहुत ज्यादा अन्तर पाया जाता है। तो फिर दोनों में कार्य-कारण-सम्बन्ध कैसे स्थापित किया जा सकता है? हमारे कितने ही ऐसे दुःख हैं जिनका कारण वर्त्तमान जीवन में पाया ही नहीं जाता। जो दुःख हमारे वर्त्तमान जीवन के कर्मों के कारण ही होते हैं, वे भी उन कर्मों से तत्क्षण ही उत्पन्न नहीं हो जाते हैं, बल्कि कुछ समय के बाद उत्पन्न होते हैं। युवावस्था का पापी बुढ़ापे में दुःख भोगता है। इसका मतलब यह होता है कि हमारे आत्माओं में अच्छे कर्म पुण्य की और बुरे कर्म पाप की सृष्टि करते हैं और यह पुण्य या पाप कर्मों के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा में रह जाता है। अच्छे या बुरे कर्मों से उत्पन्न पुण्यों या पापों का भण्डार 'अदृष्ट' कहलाता है। अदृष्ट की कल्पना कोई गूढ़ या रहस्यात्मक कल्पना नहीं है। यह तो विदित ही है कि अच्छे कर्मों का मन पर पवित्र प्रभाव पड़ता है और बुरे कर्मों का दूषित प्रभाव पड़ता है। यह भी विदित है कि धर्म के आचरण से निर्भयता, प्रसन्नता, शान्ति आदि सुखों की वृद्धि होती है और

पाप और पुण्य के संग्रह को अदृष्ट कहते हैं। अदृष्ट ही हमारे भाग्य-भेद का कारण है

† यदि संसार की सृष्टि एक ऐसे ईश्वर से हुई है, जो सर्वशक्तिमान् और परम गुणवान् है, तो यह सोचना बिलकुल युक्तिपूर्ण है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा होगा। यदि ईश्वर संसार का स्रष्टा और धर्म-व्यवस्थापक भी है तो यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमलोग अपने कर्मों के लिये ईश्वर के सम्मुख अवश्य उत्तरदायी हैं। साथ-साथ इसका मतलब यह भी होता है कि ईश्वर इस बात का विचार करता है कि हमारे कर्म लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक हैं या नहीं हम ईश्वर और अन्य मनुष्यों के प्रति अपने कर्त्तव्य करते हैं या नहीं। इन्हीं बातों को ध्यान में रख कर ईश्वर हमारे कर्मों को अच्छा या बुरा करार देता है। अतएव यह भी कोई असंगत विचार नहीं है कि ईश्वर हमें अच्छे कर्मों के लिये पुरस्कृत करता और बुरे कर्मों के लिये दण्ड देता है। अतः संसार यदि ईश्वर का बनाया हुआ है तो वहाँ अच्छे कर्मों का फल अच्छा और बुरे कर्मों का फल बुरा अवश्य ही होगा।

अधर्म के आचरण से शंका, चंचलता, अशान्ति आदि दुःखों की वृद्धि होती है। इसी तरह अदृष्ट जो पूर्वकर्मों से उत्पन्न पाप और पुण्य का भंडार है, हमारे वर्त्तमान सुख-दुःखों को उत्पन्न करता है।

लेकिन एक प्रश्न फिर उठ सकता है कि अदृष्ट कर्मों एवं उनके फलों में व्यवस्था कैसे ला सकता है? अदृष्ट तो अचेतन है। यह स्वयं नहीं समझ सकता कि किसी कर्म का फल किस प्रकार का या किस मात्रा का सुख या दुःख होगा। अतः अदृष्ट के परिचालन के लिये एक बुद्धिमान् संचालक की परम आवश्यकता है। अदृष्ट का संचालक जीवात्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि जीवात्मा अपने अदृष्ट के सम्बन्ध में स्वयं कुछ नहीं जानता और अदृष्ट का फल आत्मा की इच्छाओं के विरुद्ध भी हो सकता है। अतः अदृष्ट का संचालक नित्य, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ परमात्मा ही हो सकता है। काण्ट (Kant) कहते हैं कि ईश्वर ही पुण्य के साथ सुख और पाप के साथ दुःख का संयोग करते हैं। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान् और शक्तिशाली राजा अपनी प्रजाओं को उनके अच्छे या बुरे कर्मों के अनुसार पुरस्कार या दण्ड देता है, उसी प्रकार ईश्वर भी हमें हमारे कर्मानुसार सुख या दुःख प्रदान करता है ❀।

किन्तु अदृष्ट के अचेतन होने के कारण ईश्वर का मानना आवश्यक है

(ग) धर्म-ग्रन्थों की प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है।

ईश्वर के अस्तित्व का एक तीसरा प्रमाण वेदों की प्रामाणिकता है। सभी धर्म अपने-अपने धर्म-ग्रंथों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। यहाँ प्रश्न उठता है कि वेदों की प्रामाणिकता का क्या कारण है? नैयायिकों के अनुसार वेदों के प्रामाण्य का कारण ईश्वर है। जिस प्रकार विज्ञानों का प्रामाण्य उनके प्रवर्त्तकों पर निर्भर है, उसी प्रकार वेदों के प्रामाण्य का कारण वह है

ईश्वर के द्वारा व्यक्त होने के कारण ही वेद प्रामाणिक है

❀ कुसुमांजलि, ।

जिसने उन्हें प्रामाणिकता प्रदान की है। वेदों की प्रामाणिकता की जाँच हम अन्य विज्ञानों की तरह ही कर सकते हैं। किन्तु ऐसी जाँच हम केवल वेदों के लौकिक विधानों के बारे में ही कर सकते हैं। उनके अलौकिक विधानों की जाँच इस प्रकार नहीं की जा सकती है। लेकिन फिर भी हम सम्पूर्ण वेद को ठीक उसी तरह प्रामाणिक मान सकते हैं जिस तरह किसी विज्ञान के कुछ अंशों को ही जाँच कर हम उसे पूर्णतः प्रामाणिक मानते हैं। तो हम देखते हैं कि वेदों की प्रामाणिकता उनके रचयिता पर निर्भर है। वेदों का रचयिता जीव नहीं हो सकता क्योंकि जीव उनके अलौकिक एवं अतीन्द्रिय विषयों को नहीं जान सकता है। अतः वेदों का कर्त्ता एक ऐसा पुरुष है जो भूत, वर्त्तमान और भविष्य, मध्य-परिमाणी, विभु और अणु, इन्द्रिय-गम्य और अतीन्द्रिय सभी विषयों का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्य धर्म-ग्रंथों की तरह वेदों की अभिव्यक्ति भी ईश्वर के द्वारा ही हुई है ❀।

(घ) आप्त-वचन भी ईश्वर को प्रमाणित करता है

ईश्वर के अस्तित्व का चौथा प्रमाण यह है कि श्रुति इसके अस्तित्व को मानती है। कुछ आप्त-वचनों को हम यहाँ उद्धृत कर सकते हैं। वृहदारण्यक-उपनिषद (४.४.२२,२४) में कहा गया है कि परमात्मा ही सबों का स्वामी है, सबों का शासक है, सबों का रक्षक है......, सभी प्रकार के नैवेद्यों का अधिकारी परमात्मा है, पुरस्कारों का दाता भी वही है। श्वेताश्वतर-उपनिषद (६-११) में कहा है कि सभी विषयों में एक ही ईश्वर निहित , वह सर्वव्यापी है, सभी विषयों का अंतस्तम आत्मा है, और सबों [illegible] व्यवस्थापक एवं संरक्षक है। कौषीतक्युपनिषद् (४.१८) में क[illegible] है कि वह सभी आत्माओं का शासक है और संसार का कर्त्ता है। भगवद्गीता (नवाँ अध्याय, १७-१८) में भी भगवान् कहते हैं कि मैं ही विश्व का माता-पिता हूँ, मैं ही इसका प्रतिपोषक

श्रुति ईश्वर को प्रमाणित करती है

❀ न्याय भाष्य, २, १, ६८; कुसुमांजलि, ५, पृ० ६२

हूँ और मैं ही इसका अपरिवर्त्तनशील स्वामी हूँ। वे फिर कहते हैं कि मैं ही सबों का अन्तिम लक्ष्य हूँ, संरक्षक हूँ, व्यवस्थापक हूँ, साक्षी हूँ, निवास हूँ, आश्रय हूँ, मित्र हूँ, स्रष्टा हूँ, संहारक हूँ, आधार हूँ और उत्पत्ति एवं नाश का अपरिवर्त्तनशील कारण हूँ।

श्रुति प्रामाणिक क्यों है ?

ये आप्त-वचन इस बात को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है। लेकिन यहाँ एक शंका उत्पन्न हो सकती है कि केवल आप्त-प्रमाण के आधार पर ईश्वर का अस्तित्व कैसे माना जा सकता है ? साधारण मनुष्य, जिसे समीक्षा की प्रवृत्ति नहीं रहती है, वह भले ही इसे मान सकता है। किन्तु दार्शनिक तो कहेगा कि दर्शन में आप्त-वचनों का कोई प्रामाण्य नहीं है। दार्शनिक के अनुसार लौकिक या अलौकिक किसी भी प्रकार के विषय की सिद्धि के लिये केवल तार्किक युक्तियाँ ही आवश्यक हैं। उसके अनुसार तो जब तक तर्कसम्मत युक्तियाँ नहीं दी जाँय तब तक आप्त-वचन बिलकुल बेकार होते हैं। वह ईश्वर-सिद्धि के लिये परम्परागत प्रमाणों को बतलाते हुए कह सकता है कि ये ही ईश्वर के अस्तित्व के यथार्थ प्रमाण हैं। किन्तु जैसा इमैनुवेल काण्ट (Immanual Kant) * और उनके पश्चात् हर्मन लॉट्ज़ा (Hermann Lotze) † ने बतलाया है, ईश्वर-सिद्धि के लिये परम्परागत जितनी भी युक्तियाँ हैं उनमें एक भी ईश्वर को ठीक-ठीक प्रमाणित नहीं कर सकती। किसी विषय को सिद्ध करने का अर्थ है कुछ अभ्युपगमों से अर्थात् स्वीकृत वाक्यों से अनुमान करके उसका अस्तित्व दिखलाना। किन्तु ईश्वर का अनुमान हम ऐसे अभ्युपगमों के आधार पर नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यथार्थतः ईश्वर

ईश्वर-सिद्धि के परंपरागत प्रमाण यथार्थतः प्रमाण नहीं हैं

---

* E. Caird, The Critical Philospohy of Kant, खण्ड २, अध्याय १३ देखिये।

† Outlines of a Philosophy of Religion, अध्याय १ देखिये।

को माने विना किसी अन्य बातों को स्वीकृत ही नहीं किया जा सकता है। ईश्वर की धारणा से अस्तित्व-साधक युक्ति (Ontological proof) के अनुसार ईश्वर की धारणा एक पूर्ण वस्तु की धारणा है। अतः उसमें अस्तित्व अवश्य होगा, क्योंकि अस्तित्व के नहीं रहने से वह अपूर्ण रह जाती है। कारण-रूपी ईश्वर-सिद्धि की युक्ति (Cosmological proof) के अनुसार संसार एक है। अतः उसका कोई मूल-कारण अवश्य होगा। उद्देश्य-मूलक-ईश्वर-सिद्धि की युक्ति (Teleological proof) के अनुसार संसार में विचित्र व्यवस्था होने के कारण उसका एक व्यवस्थापक होना आवश्यक है। किन्तु ये सभी प्रमाण दोषपूर्ण हैं, क्योंकि इनमें ईश्वर की धारणा को स्वीकार करके उसका अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। ईश्वर की धारणा एक पूर्ण धारणा है, इसका अर्थ केवल यह होता है कि ईश्वर की धारणा में अस्तित्व की धारणा भी निहित है। इसका अर्थ यह नहीं होता कि ईश्वर का अस्तित्व है। पास में स्वर्ण-मुद्राओं के नहीं रहने पर भी मैं यह धारणा कर सकता हूँ कि मेरे पास सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। इस धारणामात्र से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि अवश्य ही मेरे पास सहस्र स्वर्ण-मुद्राएँ हैं। उसी प्रकार कार्य से कारण का एवं व्यवस्था से व्यवस्थापक की धारणा अवश्य की जा सकती है। किन्तु किसी बात की धारणा मात्र से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तर्क से ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती। वस्तुतः तर्क के द्वारा किसी भी बात की सिद्धि नहीं हो सकती है। किसी विषय के अस्तित्व का ज्ञान परोक्ष या अपरोक्ष अनुभव के द्वारा ही हो सकता है। जिस व्यक्ति की दृष्टि ठीक है उसने यदि नारंगी का रंग नहीं भी देखा है तो वह केवल लाल और पीले रंग को देखकर उसके बारे में जान सकता है। किन्तु जो व्यक्ति जन्म का अंधा है वह रंगमात्र के बारे

किसी वस्तु के अस्तित्व के लिये अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है

में कुछ नहीं जान सकता, चाहे वह लाख तर्क क्यों न करे। यदि किसी प्रकार चिकित्सा के द्वारा इस अंधे व्यक्ति की दृष्टि ठीक हो जाय तो वह प्रथम बार देखकर ही रंगों का पूरा ज्ञान प्राप्त कर ले सकता है। लॉट्ज़ा ने ईश्वर-सम्बन्धी हमारे ज्ञान के सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि ईश्वर के अस्तित्व के लिये जितनी युक्तियाँ दी जाती हैं वे तो ईश्वर-सम्बन्धी पूर्व से वर्त्तमान हमारे विश्वास के समर्थन के लिये मिथ्या युक्तिमात्र हैं। वे युक्तियाँ केवल यह संकेत करती हैं कि हम किन-किन ढंगों से पारमार्थिक सत्ता के सम्बन्ध में जान सकते हैं। लॉट्ज़ा का यह मत और भी स्पष्ट हो जाता है जब वह एनसेलम (Anselm) की धारणा-मूलक-युक्ति (Ontological proof) का खंडन करते हुए कहता है—"एनसेलम के अनुसार ईश्वर को नहीं मानना असंभव है, क्योंकि बुद्धि, सौन्दर्यानुभव और धार्मिक व्यापारों के द्वारा हमें इसके अस्तित्व का अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। यह सही है कि एनसेल्म की युक्ति बहुत प्रामाणिक नहीं है, लेकिन अतीन्द्रिय पारमार्थिक सत्ता के प्रति जो धर्ममूलक भावना हमारे मन में वर्त्तमान रहती है उसका वह संकेत अवश्य करती है।" इन विचारों से यह स्पष्ट है कि ईश्वर का ज्ञान साक्षात् अनुभव के द्वारा ही हो सकता है, किसी तार्किक युक्ति के द्वारा नहीं। और यदि साक्षात् अनुभव ही वर्त्तमान रहे तो फिर युक्ति की क्या आवश्यकता है? आप जो अभी इस पुस्तक को पढ़ रहे हैं—इस बात को स्पष्ट करने के लिये किसी युक्ति की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर का अपरोक्ष ज्ञान न रहने पर आप युक्तियों की ढेर लगा कर भी उसके अस्तित्व में विश्वास उत्पन्न नहीं कर सकते हैं।

तर्क से नहीं प्रत्युत साक्षात् अनुभूति से ईश्वर का ज्ञान हो सकता है

जिन्हें ईश्वर का या अन्य अलौकिक सत्ता का साक्षात् अनुभव नहीं रहता है उनको उसका ज्ञान पाने के लिये ऋषियों जैसे शुद्ध-चित्त महात्माओं के आप्त-वचनों पर निर्भर करना पड़ता है। अतः श्रुति को, जो ईश्वर-दर्शी महात्माओं के ज्ञानों का संग्रह है, ईश्वर-सिद्धि का प्रमाण अवश्य मानना चाहिये। जिस प्रकार वैज्ञानिक नियम की सत्यता के लिये वैज्ञानिक एवं उनके विज्ञान ही

जिन्हें साक्षात् अनुभव नहीं उन्हें आप्त वचन पर निर्भर करना चाहिये

प्रमाण हैं, उसी प्रकार ईश्वर-सिद्धि के लिये वेद एवं श्रुति भी प्रमाण हैं ❀।

३. ईश्वर-विरोधी युक्तियाँ

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि तीसरी और चौथी युक्तियाँ परस्पर विरोधी हैं। तीसरी युक्ति में यह दिखलाया गया है

अन्योन्याश्रय-दोष का आक्षेप और उसका समाधान

कि ईश्वर ने ही वेदों को व्यक्त किया है। किन्तु चौथी युक्ति में कहा गया है कि वेद ईश्वर का प्रमाण है। अतः हम देखते हैं कि एक युक्ति में ईश्वर से वेदों के प्रामाण्य की सिद्धि होती है। और दूसरी में वेदों से ईश्वर की सिद्धि की जाती है। लेकिन विचारपूर्वक यदि देखें तो इनमें अन्योन्याश्रय का यह दोष नहीं पाया जायगा। किसी विषय का विचार हम दो दृष्टियों से कर सकते हैं— ज्ञान की दृष्टि से और अस्तित्व की दृष्टि से। अस्तित्व की दृष्टि से ईश्वर ही प्रथम है, उसने ही वेदों को व्यक्त किया है एवं उन्हें प्रामाणिक रूप दिया है। किन्तु मनुष्य के ज्ञान की दृष्टि से वेद ही प्रथम है क्योंकि उन्हीं के द्वारा हम ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं। वेदों के ज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं कि हम ईश्वर पर निर्भर करें, क्योंकि उनका ज्ञान तो किसी योग्य शिक्षक के द्वारा भी हो सकता है। सभी परस्परापेक्ष विषयों में अन्योन्याश्रय का दोष नहीं होता। उनमें यह दोष तभी होता है जब वे एक दृष्टि से ही परस्परनिर्भर होते हैं। ऊपर की युक्तियों में वेद को अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्भर माना है, ज्ञान के लिये नहीं। उसी प्रकार ईश्वर को ज्ञान के लिये वेद पर निर्भर माना है, अस्तित्व के लिये नहीं। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय-दोष नहीं है †।

❀ कुसुमाञ्जलि, ५

† सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय ११.

न्याय के ईश्वरवाद के विरुद्ध एक दूसरा भी आक्षेप किया जाता है। वह यह है कि यदि ईश्वर इस संसार का कर्त्ता है तो वह अवश्य शरीरी होगा क्योंकि बिना शरीर के कोई कर्म नहीं किया जा सकता। नैयायिक कहते हैं कि यह आक्षेप बिलकुल युक्तिहीन है क्योंकि यदि ईश्वर का अस्तित्व श्रुति के द्वारा सिद्ध हो गया है तब तो उपर्युक्त आक्षेप निरर्थक हैं। क्योंकि जो सिद्ध हो गया है उसके विरुद्ध फिर आक्षेप क्या? और यदि उसका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हुआ है तो फिर उसके कर्म के विरुद्ध आक्षेप करना भी तो उसी प्रकार निरर्थक है ॐ।

दूसरा आक्षेप और उसका समाधान

सृष्टि के प्रयोजन को लेकर एक तीसरा भी आक्षेप किया जाता है। ईश्वर ने किसी प्रयोजन के लिये ही संसार की सृष्टि की है, क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई व्यक्ति कुछ नहीं करता है। प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने किस प्रयोजन के लिये संसार की सृष्टि की है? यह तो स्पष्ट है कि इसमें ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नहीं हो सकता। क्योंकि वह तो पूर्ण है, उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं मानी जा सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि दूसरों के प्रयोजन के लिये यह सृष्टि हुई है क्योंकि जो केवल दूसरों के लिये प्रयत्न करता है वह बुद्धिमान् नहीं समझा जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर ने करुणावश इस संसार की सृष्टि की है। ऐसी बात यदि होती तो वह सभी जीवों को पूर्णसुखी बना देता और उन्हें दुःख से पीड़ित नहीं होने देता जैसा वे होते रहते हैं। निःस्वार्थ भाव से दूसरों को दुःख से विमुक्त करने की इच्छा ही को तो करुणा कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ईश्वर को हम संसार का कर्त्ता नहीं मान सकते हैं। नैयायिक इस आक्षेप का उत्तर इस प्रकार देते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर ने ठीक ही करुणावश संसार की

तीसरा आक्षेप और उसका समाधान

ॐ सर्व-दर्शन-संग्रह

सृष्टि की है। लेकिन सृष्टि केवल सुखमय है—यह कल्पना बिलकुल अनुचित एवं निराधार है। सृष्टि तो जीवों के पूर्वसंचित कर्मों के अनुसार होती है। अतः इसमें सुख और दुःख दोनों का होना बिलकुल स्वाभाविक है। लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि चूंकि ईश्वर को सृष्टि के लिये जीवों के कर्मों के अनुसार चलना पड़ता है इसलिये वह परतंत्र है। जिस प्रकार किसी का शरीर उसको परतंत्र नहीं बनाता प्रत्युत कर्म करने के लिये एवं लक्ष्य प्राप्त करने के लिये उसका सहायक ही होता है, उसी प्रकार यह संसार ईश्वर को न तो परतंत्र सिद्ध करता है और न उसका बाधक ही बनता है। वह तो उचित लक्ष्यों की प्राप्ति में और सहायक ही होता है *।

६. उपसंहार

न्याय-दर्शन अपने प्रमाण-विचार के कारण ही इतना उच्च और महान् है। प्रमाण-विचार पर ही उसका दार्शनिक मत अवलम्बित है। भारतीय दर्शन के विरुद्ध एक आक्षेप यह किया जाता है कि यह आप्त-वचनों पर अवलम्बित है, इसलिये युक्तिप्रधान नहीं है। किन्तु न्याय-दर्शन से इस आक्षेप का पूरा निराकरण हो जाता है। न्याय का प्रमाण-शास्त्र केवल न्याय वैशेषिक-दर्शन का ही आधार नहीं है। न्याय दर्शन में आत्मा और पारमार्थिक सत्ता सम्बन्धी प्रश्नों का समाधान तर्क-युक्ति के द्वारा ही किया गया है। इसी के द्वारा यह यथार्थ ज्ञान पाने का प्रयत्न करता है और इसी के द्वारा अपने विरुद्ध किये गये आक्षेपों का खंडन भी करता है। किन्तु इसका सत्ता-सम्बन्धी जो बहुसत्तावाद-मत है वह उतना मान्य नहीं है जितना इसका तर्क-शास्त्र है। न्याय के अनुसार इस संसार में परमाणु, मन, आत्मा और ईश्वर नामक अनेक स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं, जो दिक्, काल और आकाश में एक दूसरे से अलग-अलग स्थित हैं। न्याय सम्पूर्ण विश्व के अंतर्गत एक ही परम सत्ता का अस्तित्व नहीं मानता और इस तरह अद्वैतवाद को प्रश्रय नहीं देता। दार्शनिक

* सर्व-दर्शन-संग्रह, अध्याय ११

दृष्टि से न्याय सांख्य या वेदान्त से कुछ हीन समझा जाता है। क्योंकि इसके अनुसार आत्मा स्वभावतः चेतन नहीं है। आत्मा का जब शरीर के साथ संयोग होता है, तभी वह आकस्मिक रूप से चेतन हो जाता है। किन्तु इस मत का खंडन तो हमारी अपनी अनुभूतियों से ही हो सकता है। हमें इस बात का तो साक्षात् अनुभव होता है कि चैतन्य आत्मा का स्वभाव ही है, यह उसका कोई आकस्मिक गुण नहीं। न्याय यह भी मानता है, कि मुक्त आत्मा चेतना-हीन होता है और इसलिये जड़-द्रव्यों से इसको पृथक् करना कठिन है। न्याय-दर्शन में ईश्वर को संसार का कर्त्ता माना गया है। अर्थात् उसे केवल निमित्त-कारण माना गया है उपादान-कारण नहीं। इससे यह मालूम पड़ता है कि भगवान् की तुलना मनुष्य जैसे कर्त्ताओं के साथ की गई है। उपादानों से वस्तुओं के निर्माण का कार्य तो मनुष्यों में प्रायः देखा जाता है। यह सही है कि न्याय में कहीं-कहीं कहा गया है कि ईश्वर के साथ इस संसार का वही सम्बन्ध है जो शरीर का आत्मा के साथ है। किन्तु न्याय में इस विचार का विस्तार पूर्णेश्वरवाद (Theism) के रूप में नहीं हुआ है। फिर भी हमारे जीवन के लिये न्याय का आस्तिकवाद भी कम शिक्षाप्रद और सन्तोषजनक नहीं है।

६

वैशेषिक दर्शन

१. विषय-प्रवेश

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक हैं महर्षि कणाद । कहा जाता है कि वे इतने बड़े संतोषी थे कि खेतों से चुने हुए अन्न-कणों के सहारे ही जीवन-यापन करते थे। इसलिये उनका उपनाम पड़ा 'कणाद।' उनका वास्तविक नाम 'उलूक' था। अतएव वैशेषिक दर्शन 'काणाद' या 'औलूक्य' दर्शन के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस दर्शन में 'विशेष' नामक पदार्थ की विशद रूप से विवेचना की गई है। इसलिये यह 'वैशेषिक' कहलाता है ।

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद

इस दर्शन पर सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ है कणाद का वैशेषिक सूत्र। इसमें दस अध्याय हैं और प्रत्येक दो आह्निकों (भागों) में विभक्त है। इस पर प्रशस्तपाद का *'पदार्थ धर्म संग्रह'* नामक प्रसिद्ध भाष्य है। यह कोरा भाष्य ही नहीं है, बल्कि वैशेषिक दर्शन का एक स्वतंत्र मूलग्रन्थ सा है। शंकराचार्य के *शारीरकभाष्य* पर लिखित दो टीका-ग्रन्थों ※ से पता चलता है कि सिंहल देश के रावण नामक राजा ने वैशेषिकसूत्र पर टीका की थी, परन्तु वह प्राप्य नहीं है । प्रशस्तपादभाष्य (पदार्थधर्मसंग्रह) पर दो उत्तम टीका-ग्रन्थ हैं—(१) उदयनाचार्य की *किरणावली*, और (२) श्रीधराचार्य की *न्यायकन्दली*। इसके बाद का जो वैशेषिक साहित्य है वह न्याय और वैशेषिक इन दोनों का सम्मिश्रण है।

वैशेषिक-साहित्य

※ देखिये—प्रकटार्थ और रत्नप्रभा, २।२।११

ऐसे ग्रन्थों में शिवादित्य की *सप्तपदार्थी*, लौगाक्षि भास्कर की *तर्ककौमुदी*, वल्लभाचार्य की *न्यायलीलावती* और विश्वनाथ पंचानन का *भाषापरिच्छेद* (*सिद्धान्तमुक्तावली* नामक टीका के साथ) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है अर्थात् जीव का मोक्ष। दोनों के अनुसार, समस्त दुःखों का मूल-कारण अज्ञान है, इन दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति ही मोक्ष है और उसकी प्राप्ति यथार्थ तत्त्वज्ञान से हो सकती है। इन विषयों में एकमत रहते हुए भी, न्याय और वैशेषिकों में दो मुख्य बातों को लेकर मतभेद पड़ता है—

न्याय और वैशेषिक का सम्बन्ध

(१) जहाँ न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द—ये चार प्रमाण मानता है, वहाँ वैशेषिक प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो ही प्रमाणों को स्वतंत्र मानता है और शेष (उपमान और शब्द) को अनुमान ही के अन्तर्गत कर लेता है।

(२) जहाँ नैयायिक सोलह पदार्थों के नाम (इनका वर्णन न्याय-दर्शन के अध्याय में देखिये) गिनाते हैं, वहाँ वैशेषिक केवल सात पदार्थ मानते हैं। इन्हीं में सब कुछ का समावेश हो जाता है।

वैशेषिक के सातों पदार्थ ये हैं—(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय (७) अभाव। वैशेषिक दर्शन में इन्हीं पदार्थों की विस्तृत व्याख्या और सूक्ष्म आलोचना की गई है।

वैशेषिक के सात पदार्थ

'पदार्थ' का शाब्दिक अर्थ है वह वस्तु जिसका किसी 'पद' (शब्द) से बोध होता है।' अतः जितनी भी वस्तुएँ हैं या जिनका नामकरण संभव है, वे सभी पदार्थ हैं। वैशेषिक ऐसे पदार्थों को दो भागों में बाँटता है—(१) भाव-पदार्थ और (२) अभाव-पदार्थ। जिन वस्तुओं की सत्ता है अर्थात् जो विद्यमान है (जैसे मिट्टी,

छः भाव-पदार्थ और एक अभाव-पदार्थ

पत्थर, मन, आत्मा) वे भाव-पदार्थ कहलाते हैं। जिसकी सत्ता नहीं है वह अभाव-पदार्थ कहलाता है। भाव पदार्थ छः हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। वैशेषिक सूत्र में केवल इन्हीं का उल्लेख है। पीछे के ग्रन्थकारों ने 'अभाव' नामक सातवाँ पदार्थ भी जोड़ दिया है॥।

२. पदार्थ

(१) द्रव्य †

द्रव्य गुण और कर्म का आधार तथा समवायि कारण है

द्रव्य वह पदार्थ है जो स्वतः गुण या कर्म से भिन्न होते हुए भी उनका आश्रय-स्वरूप है। द्रव्य के विना कोई गुण या कर्म (निराधार रूप में) नहीं रह सकता। गुण और कर्म जब रहेंगे तब किसी न किसी द्रव्य ही में। उसी वस्तु को 'सत्' कहा जाता है जिसमें कोई गुण या कर्म हो। ये गुण और कर्म जिस आधार में रहते हैं वह 'द्रव्य' कहलाता है। अर्थात् गुण-कर्म का आधार ही द्रव्य है। द्रव्य अपने सावयव कार्यों का समवायि कारण भी होता है। जैसे, किसी रंग के तन्तुओं (सूत) के संयोग से कार्यरूप पट (वस्त्र) का निर्माण होता है। यहाँ तन्तु पट के समवायि कारण हैं, क्योंकि वह (पट) उन्हीं (तन्तुओं) से बना है और उनमें समवेत (अन्तर्निहित) है। इसी तरह, लकड़ी और सीसा पेंसिल के समवायि कारण हैं (क्योंकि पेंसिल उन्हीं से बनी है) ‡।

॥ देखिये, तर्कामृत, अध्याय १; तर्कभाषा, पृ० २६; वैशेषिकसूत्र, १।१।१४

† देखिये तर्कसंग्रह (उद्देश और द्रव्य प्रकरण), तर्कभाषा पृ० २०-२३, वैशेषिक सूत्र १।१ १५

‡ समवायि कारण से भिन्न असमवायि कारण होता है। जैसे, तन्तु-पट वाले उदाहरण में तन्तुओं का रंग असमवायि कारण है। तन्तुओं का जो रंग होता है वही पट का भी रंग होता है। यहाँ रंग का साक्षात् सम्बन्ध तन्तुओं से है जो पट के उपादान कारण हैं। रंग स्वतः उपादान कारण नहीं, उपादान कारण का सहकारी है। अतः वह कार्य का साक्षात् कारण नहीं। एक तीसरे

द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं—(१) पृथ्वी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिक् (८) आत्मा और (९) मन । इनमें प्रथम पाँच 'पंचभूत' कहलाते हैं क्योंकि प्रत्येक में कोई न कोई विशेष गुण पाया जाता है जिसका वाह्येन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्ष होता है। पृथ्वी का विशेष गुण है गन्ध। और और वस्तुओं में (जैसे जल या वायु में) जो गन्ध का अनुभव होता है वह इस कारण से कि उनमें कुछ पृथ्वी का अंश भी सम्मिलित रहता है। इसीलिये कदला पानी महँकता है, स्वच्छ जल नहीं। जल का विशेष गुण है रस, तेज का रूप, वायु का स्पर्श, आकाश का शब्द। ये पाँचो विशेष गुण पाँच वाह्येन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। जिस इन्द्रिय से जिस विशेष गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसीके आधार-भूत द्रव्य से उस इन्द्रिय की उत्पत्ति होती है। जैसे, घ्राणेन्द्रिय पृथ्वी के तत्त्वों से निर्मित है। रसनेन्द्रिय जल के तत्त्वों से। इसी तरह चक्षु (आँख) का उपादान कारण तेज, त्वचा का वायु और श्रवणेन्द्रिय (कान) का उपादान कारण आकाश है। पार्थिव द्रव्य गन्धयुक्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि घ्राणेन्द्रिय—जिससे गन्ध

द्रव्य नौ प्रकार के हैं

प्रकार का भी कारण होता है जिसे निमित्त कारण कहते हैं। यह न तो कार्य का उपादान कारण होता है न उपादान का सहकारी होता है, फिर भी कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक होता है। जैसे, करघा (जो तन्तुओं के संयोग में सहायक होता है) वस्त्र का निमित्त कारण है। इनके अतिरिक्त कार्य के प्रयोजक और भोक्ता कारण भी होते हैं। जैसे, जुलाहा (कपड़ा बुननेवाला) वस्त्र का प्रयोजक कारण है (जो उपादानादि कारणों की सहायता से कार्य का निर्माण करता है)। इसी तरह जिसके उपयोग के लिये कपड़ा बुना जाता है वह उसका भोक्ता कारण है। इस प्रसंग में अरस्तू साहब (Aristotle) द्वारा कारणों का वर्गीकरण (Formal, Material, Efficient और Final Cause) देखिये।

का ज्ञान होता है पार्थिव है। इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श और शब्द को ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ क्रमशः तेज, जल, वायु और आकाश के कार्य समझी जाती हैं।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु—ये द्रव्य कारण-रूप में नित्य और कार्यरूप में अनित्य होते हैं। अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं, क्योंकि परमाणु निरवयव, अनादि और अनन्त होता है। इनके अतिरिक्त सभी कार्य-द्रव्य जो परमाणुओं के संयोग से उत्पन्न होते हैं और इसलिये (संयोगज या सावयव होने के कारण) अवयव-विश्लेष या विनाश को प्राप्त हो सकते हैं, अनित्य हैं।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु नित्य हैं और उनसे बने कार्य-द्रव्य अनित्य हैं

सामान्यतः परमाणु प्रत्यक्षगोचर नहीं होता। परमाणुओं का अस्तित्व अनुमान से जाना जाता है। संसार के सभी कार्यद्रव्य (जैसे, घड़ा, कुर्सी, टेबुल आदि) सावयव होते हैं। जो भी कार्यद्रव्य होता है वह सावयव होता है, क्योंकि कार्य का अर्थ ही है भिन्न-भिन्न अवयवों का एक विशेष रूप से संयुक्त होना। अब यदि हम किसी कार्य-द्रव्य के अवयवों का विच्छेद करते चले जाँय तो क्रमशः महत् से क्षुद्र, क्षुद्र से क्षुद्रतर और अन्ततः ऐसे क्षुद्रतम अवयवों पर पहुंच जाँयगे जिनका किसी प्रकार विभाग नहीं हो सकता। ऐसे अविभाज्य क्षुद्रतम कणों को परमाणु कहते हैं। परमाणु अनादि है, क्योंकि वह निरवयव होता है और उत्पन्न होने का अर्थ है अवयवों से संयुक्त होना। परमाणु का नाश भी नहीं हो सकता क्योंकि नाश का अर्थ है अवयवों का विच्छेद होना और परमाणु के अवयव नहीं होते। इस प्रकार अनादि और अनन्त होने के कारण परमाणु नित्य हैं।

पाँचवाँ भौतिक द्रव्य आकाश है जो शब्द का आधार है। शब्द प्रत्यक्ष होता है, किन्तु आकाश नहीं। किसी द्रव्य का वाह्य प्रत्यक्ष

होने के लिये उसमें दो बातों का होना आवश्यक है— (१) महत्त्व (बड़ा परिमाण) और (२) उद्भूत-रूपवत्त्व (प्रकट रूप)। आकाश का कोई सीमित परिमाण या रूप नहीं होता। यह शब्द का सर्वव्यापी आधार है, और शब्द ही के ज्ञान से इसका अनुमान किया जाता है। प्रत्येक गुण का कुछ न कुछ आधार होना चाहिये। शब्द पृथ्वी, जल, तेज, वायु, इनमें किसी का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि इन द्रव्यों के गुण (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श) श्रवणगोचर नहीं होते और शब्द श्रवणगोचर होता है। इसके अतिरिक्त इन द्रव्यों से रिक्त—अपेक्षाकृत शून्य—स्थान में भी शब्द का प्रादुर्भाव होता है।

आकाश नित्य, सर्वव्यापी और अगोचर है।

शब्द दिक्, काल, आत्मा और मन का भी गुण नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्द के अभाव में भी ये विद्यमान रहते हैं। इसलिये शब्द का आधार एक पृथक् द्रव्य मानना होगा। यही आकाश है। आकाश एक और नित्य है क्योंकि यह निरवयव और निरपेक्ष है अर्थात् इसकी सत्ता किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर नहीं रहती। यह सर्वव्यापी है, क्योंकि इसकी कहीं इयत्ता (सीमा) नहीं, और इसका ा ि सर्वत्र प्रत्यक्ष होता है।

आकाश की तरह दिक् और काल भी अगोचर द्रव्य हैं। इनमें प्रत्येक एक, नित्य और सर्वव्यापी है। 'यहाँ' और 'वहाँ,' 'निकट' और 'दूर'— इन प्रत्ययों का कारण 'दिक्' है, जिसका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है। इसी तरह, भूत, भविष्य, वर्त्तमान, प्राचीन और अर्वाचीन— इन प्रत्ययों का कारण काल है। आकाश, दिक् और काल— ये तीनों यद्यपि एकात्मक और अविभाज्य हैं, तथापि उपाधि-भेद से ये नाना प्रतीत होते हैं और इनके अंश एक दूसरे से भिन्न मालूम होते हैं। जैसे घट के भीतर का आकाश बाहर के आकाश से पृथक् ज्ञान पड़ता है, यद्यपि आकाश एक है। इसी तरह 'पूर्व और पश्चिम' 'दिन और घंटा' दिक् और काल के औपाधिक भेद हैं।

दिक् और काल भी अगोचर हैं।

आत्मा नित्य और सर्वव्यापी द्रव्य (विभु) है जो चैतन्य का आधार है। आत्मा दो प्रकार के होते हैं— (१) जीवात्मा और (२) परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर एक है और जगत्-कर्त्ता के रूप में उसका अनुमान किया जाता है। जीवात्मा का ज्ञान आभ्यन्तरिक प्रत्यक्ष से होता है। जैसे 'मैं सुखी हूँ,' 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि विशेष अनुभवों के द्वारा जीवात्मा के गुण प्रकट होते हैं। जीवात्मा अनेक हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों में भिन्न-भिन्न जीवात्मा रहते हैं।

आत्मा नित्य, व्यापक और चैतन्य का आधार है।

जीवात्मा और उसके गुणों (सुख दुःखादि) को प्रत्यक्ष करने वाला आभ्यन्तरिक साधन या अन्तरिन्द्रिय मन है। यह परमाणु रूप है, अतः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसका अस्तित्व इन बातों से अनुमान किया जाता है— (१) जिस प्रकार जगत् के वाह्य पदार्थों के त्यक्ष ज्ञान के लिये वाह्येन्द्रियों की जरूरत पड़ती है, उसी प्रकार आभ्यन्तरिक पदार्थों (जैसे आत्मा, ज्ञान, इच्छा, सुख-दुःखादि के अनुभव आदि) के साक्षात्कार के लिये एक आभ्यन्तरिक साधन (इन्द्रिय) होना चाहिये। इसी का नाम मन है। (२) दूसरे, यह देखने में आता है कि यद्यपि पाँचो वाह्येन्द्रियाँ एक ही समय अपने अपने विषयों से संयुक्त रहती हैं तथापि हमें रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, इन सभी का एक ही साथ अनुभव नहीं होता। मान लीजिये, आप अपने घर में किसी मित्र के साथ वार्त्तालाप कर रहे हैं। आपकी नजर उनके चेहरे पर है, कान उनके शब्द सुन रहे हैं, त्वचा का सम्पर्क कुर्सी से है, रसना का मुंह में डाली हुई इलायची से, और टेबुल पर रखे हुए गुलदस्ते की खुशबू नाक में जा रही है। परन्तु एक ही साथ इन सभी विषयों की अनुभूति आपको नहीं होती। (अर्थात् जिस क्षण में शब्द पर ध्यान है उस क्षण में कुर्सी के स्पर्श का नहीं।) ऐसा क्यों होता है? इस बात से सूचित होता है कि वाह्येन्द्रियों का

मन एक अगोचर अणु द्रव्य है। मन के अस्तित्व के लिये प्रमाण

विषयों के साथ जो सम्पर्क है उसके अतिरिक्त भी कोई ऐसा कारण है जिसकी वजह से एक समय (क्षणविशेष) में एक ही विषय की अनुभूति हो सकती है अर्थात् भिन्न भिन्न संवेदन एक साथ (युगपत्) नहीं होकर पूर्वापर (आगे-पीछे) के सम्बन्ध से होते हैं।

एक ही समय में जो जो विषय बाह्येन्द्रियों के साथ संयुक्त रहते हैं उनमें उसी विषय का प्रत्यक्ष अनुभव (संवेदन) होता है, जिस ओर हमारा ध्यान रहता है। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्यक्षीकरण के लिये विषय पर मनोयोग होना भी आवश्यक है। प्रत्येक संवेदन में विषयेन्द्रिय-संयोग के साथ-साथ मन का संयोग भी रहता है, नहीं तो उस विषय की प्रतीति होती ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि आभ्यन्तरिक इन्द्रिय के रूप में मन का अस्तित्व मानना जरूरी है। भिन्न भिन्न प्रतीतियों के पौर्वापर्य सम्बन्ध से भी मन का परमाणु रूप (निरवयव) होना सिद्ध होता है। क्योंकि यदि मन सूक्ष्मतम परमाणुरूप नहीं होता तो इसके भिन्न-भिन्न अवयवों का संयोग एक ही साथ भिन्न भिन्न इन्द्रियों से हो सकता और इस तरह एक ही समय में अनेक प्रतीतियों का होना संभव होता। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे हम कह सकते हैं कि मन निरवयव या परमाणुरूप है और प्रत्यक्ष का आभ्यन्तरिक साधन है। यह वह अन्तरिन्द्रिय है जिसके द्वारा आत्मा विषयों का ग्रहण करता है।

(२) गुण ❀

गुण की परिभाषा यों की गई है— गुण वह पदार्थ है जो द्रव्य में रहता है पर स्वयं गुण या कर्म से युक्त नहीं होता। द्रव्य स्वतः (स्वतंत्र रूप में, किसी में आश्रित होकर नहीं) विद्यमान रहता है और कार्यों का समवायि कारण होता है। गुण की सत्ता द्रव्य में आश्रित रहती है। वह (गुण) कभी समवायि कारण नहीं होता।

गुण द्रव्य में रहता है। गुण का गुण या कर्म नहीं होता।

❀ देखिये, वैशेषिक सूत्र १ १ १६, तर्कसंग्रह (गुण प्रकरण), तर्कभाषा (पृ० २४-२८)।

क्योंकि वह किसी का रूप निर्धारित करता है, उसकी सत्ता नहीं। अतएव गुण असमवायिकारण होता है। सभी गुण द्रव्याश्रित होते हैं, इसलिये गुण का गुण होना असंभव है। जैसे, किसी वस्तु का रंग लाल है। यहाँ 'लाल रंग' उस वस्तु विशेष का गुण है, किसी और गुण (जैसे रंग) का नहीं। गुण में कर्म नहीं होता अर्थात् वह द्रव्य में निष्क्रिय रूप से समवेत होकर स्थित रहता है। इस तरह गुण, द्रव्य और कर्म, इन दोनों से भिन्न है।

गुण चौबीस प्रकार के होते हैं।

सब मिलाकर चौबीस प्रकार के गुण होते हैं— (१) रूप (२) रस (३) गन्ध (४) स्पर्श (५) शब्द (६) संख्या (७) परिमाण (८) पृथक्त्व (९) संयोग (१०) विभाग (११) परत्व (१२) अपरत्व (१३) बुद्धि (१४) सुख (१५) दुःख (१६) इच्छा (१७) द्वेष (१८) प्रयत्न (१९) गुरुत्व (२०) द्रवत्व (२१) स्नेह (२२) संस्कार (२३) धर्म (२४) अधर्म। इनमें कई गुणों के अवान्तर विभाग भी होते हैं। जैसे, रूप (रंग) के प्रभेद— श्वेत (उजला), कृष्ण (काला), रक्त (लाल), पीत (पीला), नील (नीला), हरित (हरा)। रस के प्रभेद— मधुर (मीठा), अम्ल (खट्टा), लवण (नमकीन), कटु (कडुआ), तिक्त (तीता), कषाय (कसैला)। गन्ध दो प्रकार का होता है— सुगन्ध और दुर्गन्ध। स्पर्श तीन तरह का होता है— उष्ण (गर्म), शीत (ठंढा) और अशीतोष्ण (न ठंढा न गर्म)। शब्द दो प्रकार का होता है—ध्वन्यात्मक या अस्फुट शब्द (जैसे घंटी या शंख की ध्वनि), और वर्णात्मक या स्फुट शब्द (जैसे 'क' का उच्चारण)।

संख्या, परिमाण और पृथक्त्व।

संख्या पदार्थों का वह गुण है जिसके कारण हम एक, दो, तीन जैसे शब्दों का व्यवहार करते हैं। एक से लेकर ऊपर की ओर अनगनित संख्याएँ हैं। परिमाण पदार्थ का वह गुण है जिसके कारण बड़े और छोटे का भेद दिखाई पड़ता है। यह चार प्रकार का होता है— (१) अणु (सबसे छोटा) (२) ह्रस्व (छोटा) (३) दीर्घ (बड़ा) (४) महत

(सबसे बड़ा)। पृथक्त्व वह गुण है जिसके कारण एक वस्तु और दूसरी वस्तु में भेद दिखाई पड़ता है।

संयोग और विभाग

दो पृथक् रह सकने वाले पदार्थों के सम्बन्ध का नाम संयोग है जैसे, पुस्तक का टेबुल के साथ। कारण और कार्य में जो सम्बन्ध है वह संयोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कारण के विना कार्य का पृथक् अस्तित्व असंभव है। संयोग के अन्त या विच्छेद का नाम विभाग है। संयोग तीन तरह का होता है - (१) अन्यतर-कर्मज—जहाँ एक पक्ष आकर दूसरे से मिल जाता है, (जैसे, पक्षी उड़कर पहाड़ की चोटी पर जा बैठता है), (२) उभय-कर्मज, (जहाँ दोनों पक्षों की क्रिया से संयोग होता है, (जैसे दो पहलवान दो तरफ से आकर आपस में भिड़ जाते हैं), और (३) संयोगज, (जहाँ एक संयोग से दूसरा संयोग हो जाता है (जैसे मेरे हाथ में जो कलम है उससे कागज का संयोग हो रहा है। इस तरह मेरे हाथ का कागज के साथ जो सम्बन्ध है वह संयोगज संयोग है।) इसी तरह, विभाग भी तीन प्रकार का होता है (१) अन्यतर-कर्मज, जहाँ एक पक्ष की क्रिया से संयोग का अन्त होता है (जैसे, पक्षी उड़कर पहाड़ की चोटी पर से चला जाता है), (२) उभय-कर्मज, जहाँ दोनों पक्षों की क्रिया से विभाग होता है (जैसे, दो पहलवान एक दूसरे को छोड़ कर अलग हो जाते हैं), और (३) विभागज, जहाँ एक विभाग से दूसरा विभाग हो जाता है (जैसे, मैं कलम छोड़ देता हूँ तो कागज से भी सम्बन्ध छूट जाता है।)

परत्व और अपरत्व

परत्व और अपरत्व दो प्रकार के होते हैं—कालिक और दैशिक। कालिक परत्व का अर्थ है प्राचीनत्व, कालिक अपरत्व का अर्थ है नवीनत्व। इसी प्रकार दैशिक परत्व का अर्थ है दूरत्व, दैशिक अपरत्व का अर्थ है निकटत्व।

बुद्धि (ज्ञान) और इसके प्रभेदों का वर्णन पहले ही हो चुका है। ❀

❀ देखिये: इस पुस्तक का अध्याय ५ (न्याय दर्शन) पृ० १७६-८१।

सुख-दुःख, इच्छा और द्वेष सर्वविदित विषय हैं। प्रयत्न तीन प्रकार का होता है —(१) प्रवृत्ति (अर्थात किसी वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न, (२) निवृत्ति (अर्थात् किसी वस्तु से छुटकारा पाने के लिये यत्न) और (३) जीवनयोनि (अर्थात् प्राण-धारण की क्रिया)।

बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न

द्रवत्व वह गुण है जिसके कारण जल, दूध आदि तरल पदार्थ बहते हैं। स्नेह वह गुण है जो पार्थिव कणों को आपस में मिलाकर पिंडीभूत करता है। यह गुण केवल जल में पाया जाता है।

गुरुत्व, द्रवत्व

संस्कार तीन प्रकार का होता है—(१) वेग (जिसके कारण किसी वस्तु में गति होती है), (२) भावना (जिसके कारण किसी विषय की स्मृति या प्रत्यभिज्ञा (पहचान) होती है और (३) स्थिति स्थापक (जसके कारण कोई और पदार्थ विक्षोभित होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ जाता है, जैसे, रबड़ का फीता)। धर्म और अधर्म से क्रमशः पुण्य और पाप का बोध होता है जो विहित और निषिद्ध कर्मों के करने से उत्पन्न होते हैं। धर्म से सुख और अधर्म से दुःख की प्राप्ति होती है।

संस्कार, धर्म, अधर्म

इस प्रकार वैशेषिक दर्शन में कुल चौबीस गुण माने जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है— चौबीस ही क्यों ? गुणों की संख्या इससे अधिक या कम क्यों नहीं मानी जाय ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि इन गुणों के अवान्तर प्रभेदों की संख्या भी सम्मिलित कर ली जाय तो बहुत बड़ी सूची बन जायगी। यहाँ केवल वे ही गुण लिये गये हैं जिनका अन्तर्भाव किसी दूसरे गुण में नहीं हो सकता। अर्थात् विशिष्ट गुणों का पृथक् उल्लेख नहीं कर केवल उन्हीं सामान्य गुणों का निर्देश किया गया है जिनके अन्तर्गत विशिष्ट

गुणों की संख्या चौबीस क्यों ?

गुणों का समावेश हो जाता है। जैसे, रूप के अन्तर्गत लाल, पीले आदि रंगों का समावेश हो जाता है। उन रंगों के संयोग से बने हुए मिश्रित रंग भी उसके अंदर आ जाते हैं। (जैसे, नारंगी रंग लाल और पीले का सम्मिश्रण है)। परन्तु इसी प्रकार से रूप का शब्द के अन्तर्गत अथवा किसी अन्य गुण के अन्तर्गत समावेश नहीं हो सकता। इसलिये रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द— पृथक् पृथक् (भिन्न-जातीय) गुण माने गये हैं। इस तरह देखने में आता है कि वैशेषिक में गुणों का जो वर्गीकरण किया गया है, वह एक विशेष दृष्टिकोण से, अर्थात् यह ध्यान में रखते हुए कि गुण मूल है या यौगिक, उसका अन्तर्भाव दूसरे गुण के अंदर किया जा सकता है या नहीं। वैशेषिक मत में 'गुण' से उन धर्मों का तात्पर्य है जो द्रव्यों में निष्क्रिय और मूलरूप में विद्यमान रहते हैं।

(३) कर्म ❀

कर्म का अर्थ

कर्म शारीरिक क्रिया या व्यापार को कहते हैं। गुण की तरह यह भी केवल द्रव्य ही में पाया जाता है। परन्तु यह द्रव्य और गुण, दोनों से भिन्न होता है। द्रव्य, गुण और कर्म, दोनों ही का आश्रय होता है। गुण द्रव्य का निष्क्रिय स्वरूप है, कर्म सक्रिय। गुण अपने आधारभूत पदार्थ का वह निष्क्रिय धर्म है जो उसी में स्थित रहता है। कर्म वह गतिशील व्यापार है जो पदार्थ को स्थानान्तर में पहुंचा देता है। अतएव यह (कर्म) पदार्थों के संयोग और विभाग का कारण होता है। कर्म का कोई गुण नहीं होता, क्योंकि गुण केवल द्रव्य ही में आश्रित रह सकता है। कर्मों का आधार केवल मूर्त्तद्रव्य (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मन) ही हो सकता है। सर्वव्यापी द्रव्यों में (यथा, आकाश, दिक्, काल और आत्मा में) कर्म या गति का होना असंभव है क्योंकि वे एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाते।

❀ तर्कसंग्रह, पृ० ८७, तर्कभाषा पृ० २८, तर्कामृत पृ० ३०, और वैशेषिक सूत्र [illegible] में कर्म की [illegible] विवेचना देखिये।

कर्म पाँच प्रकार के होते हैं— (१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना), (२) अवक्षेपण (नीचे फेंकना), (३) आकुंचन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना) और गमन (चलना)। जिस कर्म के द्वारा ऊपरी प्रदेश के साथ संयोग होता है वह 'उत्क्षेपण' कहलाता है (जैसे, गेंद को ऊपर उछालना)। जिस कर्म के द्वारा निचले प्रदेश के साथ संयोग होता है, वह 'अवक्षेपण' कहलाता है (जैसे, छत पर से नीचे पानी फेकना)। 'आकुंचन' वह कर्म है जिसके द्वारा शरीर से और भी निकटतर प्रदेश के साथ संयोग होता है (जैसे, हाथ-पैर मोड़ना)। 'प्रसारण' वह कर्म है जिसके द्वारा शरीर से दूरवर्त्ती प्रदेश के साथ संयोग होता है (जैसे, हाथ-पैर फैलाना)। इन चारों से अतिरिक्त और जितनी भी गत्यर्थक क्रियाएँ हैं वे 'गमन' के अन्तर्गत आ जाती हैं (जैसे, चलना, दौड़ना)। सभी कर्म प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। पृथ्वी, जल, तेज आदि दृष्टिगोचर पदार्थों की गति का ज्ञान दर्शन वा स्पर्शन से हो सकता है। किन्तु मन अगोचर पदार्थ है, अतः उसकी गति का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता।

कर्म के प्रभेद

(४) सामान्य

एक ही प्रकार की वस्तुएँ समानधर्म (साधर्म्य) रहने के कारण एक ही नाम से पुकारी जाती हैं। देवदत्त, ब्रह्मदत्त आदि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में कुछ ऐसा सामान्य गुण है जिसके कारण वे 'मनुष्य' कहलाते हैं। इसी तरह गाय, घोड़ा आदि सभी जातिवाचक शब्दों के विषय में समझना चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि वह कौन सा पदार्थ है जिसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक जाति के अन्तर्गत समाविष्ट होकर एक नाम से व्यवहृत होते हैं? न्याय-वैशेषिक उसीको सामान्य कहता है। पाश्चात्य दार्शनिक उसे Universal कहते हैं।

'सामान्य' किसे कहते हैं

भारतीय दर्शन में सामान्य को लेकर तीन प्रमुख मत हैं। बौद्ध दर्शन का मत है कि व्यक्ति ही (जैसे, यह गाय, वह गाय) सत्य है,

और व्यक्तियों से अतिरिक्त जाति (जैसे गोत्व) की कोई सत्ता नहीं है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में (जैसे गायों में) जो तादात्म्य की प्रतीति होती है वह एक नाम के कारण। केवल नाम ही सामान्य है। परन्तु नाम किसी सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म का सूचक नहीं है। नाम का अर्थ केवल इतना ही है कि एक नाम वाले पदार्थ दूसरे नाम वाले पदार्थ से भिन्न हैं। जैसे 'गाय' नाम से बोध होता है कि वह पशु-विशेष 'घोड़ा' नामधारी पशु से भिन्न है; यह नहीं कि सभी गायों में कुछ ऐसा सामान्य धर्म है जिसके कारण वे 'गाय' कहलाती हैं। इस मत में सामान्य की सत्ता नहीं मानी जाती। केवल व्यक्ति को सत्य माना जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को 'स्वलक्षण' समझा जाता है। जहाँ न्याय-वैशेषिक सामान्य या जाति की कल्पना करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन केवल नाम और उसका विभेदक अर्थ स्वीकार करता है*। इस मत को 'नामवाद' (Nominalism) कह सकते हैं।

सामान्य-विषयक भिन्न-भिन्न मत

१ बौद्धमत

जैन† और अद्वैत वेदान्ती‡ का मत है कि व्यक्तियों के अतिरिक्त और उनसे भिन्न सामान्य की सत्ता नहीं है। व्यक्तियों का सर्वनिष्ठ आवश्यक धर्म ही सामान्य है। इस तरह सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं, अभिन्न है। सामान्य का व्यक्तियों के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध (relation of identity) है। 'सामान्य' कुछ बाहर से आकर व्यक्तियों में समा नहीं जाता, बल्कि वह उनका आन्तरिक स्वरूप है जिसे हमारी बुद्धि ग्रहण करती है। इस मत को प्रत्ययवाद (Conceptualism) कह सकते हैं।

२ जैन और वेदान्तमत

* देखिये, तर्कभाषा पृ० २८। Six Buddhist Nyaya Tracts, Chap V.

† देखिये, Outlines of Jainism, पृ० ११२।

‡ देखिये, वेदान्त परिभाषा, अध्याय १

न्याय-वैशेषिक ❀ सामान्य के सम्बन्ध में जिस मत का प्रतिपादन करता है उसे वस्तुवाद (Realism) कह सकते हैं । उनके

३ न्याय-वैशेषिक-मत

मतानुसार सामान्य नित्य पदार्थ हैं जो व्यक्तियों से भिन्न होते हुए भी उनमें समवेत हैं । एक ही सामान्य (जैसे गोत्व) अनेकानुगत (अनेक गौओं में समवेत) होता है । भिन्न-भिन्न गौओं में जो एकता की प्रतीति होती है वह इसी सामान्य के कारण । उन सभी में जो एक सामान्य धर्म है उसीके कारण वे एक जाति की समझी जाती हैं और एक नाम से पुकारी जाती हैं । इस प्रकार सामान्य केवल मानसिक प्रत्यय (Concept) नहीं है, उसकी स्वतंत्र सत्ता है ।

कुछ आधुनिक वस्तुवादियों (Neo-Realists) † का विचार है कि सामान्य एक नित्य कालातीत (Timeless) पदार्थ है जो अनेक विषयों (Particulars) में व्याप्त रह सकता है । वे नैयायिकों के साथ इस विषय में भी सहमत हैं कि सामान्य (Universals) में 'सत्ता' (Existence) जाति नहीं । 'सत्ता' जाति केवल द्रव्य गुण और कर्म में रहती है । सामान्य की कोई जाति (सामान्य) नहीं होती । क्योंकि एक प्रकार की वस्तुओं में केवल एक ही सामान्य होता है । यदि एक ही प्रकार की वस्तुओं में दो या अधिक सामान्य पाये जाते तो उनमें परस्पर-भेद या विरोध भी पाया जाना संभव होता और इस तरह उनका वर्गीकरण करना असंभव हो जाता । अर्थात् उन्हीं व्यक्तियों का समावेश गौओं में भी हो जाता और मनुष्यों में भी । परन्तु ऐसा नहीं होता ।

❀ देखिये तर्कसंग्रह पृ० ८७, भाषापरिच्छेद और मुक्तावली (८,१४,१५) तर्कभाषा पृ० २८, तर्कामृत अध्याय १, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १६४

† देखिये, Bertrand Russell, Problems of Philosophy, Chap IX.

विस्तार या व्यापकता की दृष्टिसे सामान्य के तीन भेद होते हैं–(१) पर (२) अपर, और (३) परापर ❀। सबसे अधिक व्यापक समान्य को 'पर', सबसे कम व्यापक सामान्य को 'अपर' और बीचवाले सामान्यों को 'परापर' कहते हैं। 'सत्ता' सब की अपेक्षा अधिक व्यापक (द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में व्यापक) होने के कारण परा जाति है। 'घटत्व' केवल घटों में सीमित होने के कारण अपर सामान्य है। 'द्रव्यत्व' दोनों के बीच में होने के कारण 'परापर' है। यह (द्रव्यत्व) घटत्व, पटत्व आदि की अपेक्षा पर और सत्ता की अपेक्षा अपर है।

सामान्य के प्रभेद

(५) विशेष †

सामान्य का ठीक उलटा 'विशेष' है। जो द्रव्य निरवयव होने के कारण नित्य हैं उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को ही 'विशेष' कहते हैं। ऐसे द्रव्य ये हैं—दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा, पृथ्वी, जल, तेज, तथा वायु के परमाणु। एक मन वा आत्मा का भेद दूसरे से कैसे किया जाय ? जल के एक परमाणु और दूसरे परमाणु में क्या अन्तर है ? उनमें समानता होते हुए भी स्पष्ट अन्तर है। परन्तु अवयवों के धर्मों की भिन्नता होने के कारण वे एक दूसरे से भिन्न हैं, ऐसी कल्पना तो नहीं की जा सकती, क्योंकि उनके अवयव हैं ही नहीं। फिर यह अन्तर है क्यों ? 'विशेष' के कारण। इसी विशेष' के कारण एक परमाणु दूसरे परमाणु से या एक आत्मा दूसरे आत्मा से भिन्न है। द्रव्यों के अपने-अपने व्यक्तिगत स्वरूप ही—जिनके कारण वे एक दूसरे से पहचाने जाते हैं विशेष कहलाते हैं।

विशेष क्या है

❀ देखिये भाषापरिच्छेद और मुक्तावली ८, ६। न्यायलीलावती पृ० ८०-८१। तर्कामृत, अध्याय १।

† देखिये, तर्कसंग्रह पृ० ११-८८; भाषापरिच्छेद, मुक्तावली १०; तर्कभाषा पृ० २८; तर्कामृत अध्याय १; पदार्थधर्म संग्रह पृ० १६८

नित्य द्रव्यों में रहने के कारण विशेष भी नित्य हैं। घट पट आदि अनित्य कार्य-द्रव्यों के विशेष नहीं होते हैं। सावयव पदार्थ (जैसे कुर्सी टेबुल आदि) तो अपने अवयवों की भिन्नता ही के द्वारा एक दूसरे से पहचान लिये जाते हैं। उनका अंतर समझने के लिये विशेष की कल्पना आवश्यक नहीं। केवल निरवयव नित्य द्रव्यों का मूल अन्तर विशेष के कारण होता है। ऐसे द्रव्य असंख्य हैं, इसलिये विशेष भी असंख्य हैं। विशिष्ट द्रव्य अपने विशेष के कारण पहचाने जाते हैं, विशेष स्वतः पहचाने जाते हैं। अर्थात् विशेष का विश्लेषण नहीं किया जा सकता है। उन्हें अन्त्य (Ultimate) समझना चाहिये। विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। वे परमाणु की तरह अगोचर पदार्थ हैं।

विशेष नित्य, असंख्य और अगोचर हैं

(६) समवाय ❀

न्याय-वैशेषिक में दो प्रकार के सम्बन्ध माने जाते हैं--संयोग और समवाय। पृथक्-पृथक् वस्तुओं का कुछ काल के लिये परस्पर मिल जाना संयोग कहलाता है। यह सम्बन्ध क्षणिक या अनित्य है। जैसे नाव का नदी के पानी के साथ सम्बन्ध। ये दोनों पारस्परिक सम्बन्ध विच्छिन्न होने पर भी रह सकते हैं। संयुक्त पदार्थ *युतसिद्ध* (बाहरी संबन्ध से जुड़े हुए) होते हैं। जबतक संयोग का सम्बन्ध बना रहता है तब तक वह (संयोग) दोनों का उभयनिष्ठ गुण होकर रहता है, परन्तु युतसिद्ध द्रव्यों की सत्ता संयोग के अधीन नहीं रहती। नाव नदी के बाहर भी रह सकती है, नदी का अस्तित्व नाव के बिना भी रहता है। अर्थात् उनकी सत्ता संयोग पर निर्भर नहीं है। इस तरह संयोग एक वाह्य सम्बन्ध है जो दो द्रव्यों के

समवाय और संयोग

❀ तर्कसंग्रह पृ० ८८, तर्कभाषा पृ० २, पदार्थधर्मसंग्रह पृ० १७१-७९ भाषापरिच्छेद और मुक्तावली ११, ८०।

आकस्मिक गुण के रूप में प्रकट होकर उन्हें कुछ काल के लिये मिलाये रखता है।

संयोग के विपरीत, समवाय नित्य सम्बन्ध है। यह दो पदार्थों का वह सम्बन्ध है जिसके कारण एक दूसरे में समवेत (अन्तर्व्याप्त) रहता है। सम्पूर्ण, अपने अंशों में; गुण या कर्म, द्रव्यों में; सामान्य, व्यक्तियों में; तथा विशेष नित्य निरवयव द्रव्य में समवेत रहते हैं। इस प्रकार धागों में कपड़ा, गुलाब के फूल में लाल रंग, बहते हुए पानी में गति, भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुषों में सामान्य धर्म 'मनुष्यत्व' और एक जीवात्मा में उसका अपना धर्म 'विशेष' समवेत है।

समवाय नित्य सम्बन्ध है

संयोग दो पृथक् वस्तुओं का अनित्य सम्बन्ध है, जो एक या दोनों के कर्म से उत्पन्न होता है (जैसे, दो नावों का आपस में मिल जाना)। इसके विपरीत, समवाय सम्बन्ध नित्य होता है। सम्पूर्ण सदा अपने अंशों में विद्यमान रहता है। गुण या कर्म सर्वदा अपने आधार-द्रव्य से सम्बद्ध रहता है। जैसे, घड़ा जबतक बना रहता है तबतक भिन्न-भिन्न अवयवों में विद्यमान रहता है। उसी तरह जब तक फूल रहता है, तबतक रंग उसका साथ नहीं छोड़ता। इस प्रकार सम्पूर्ण का अंश के साथ, गुण या कर्म का द्रव्य के साथ, सामान्य का व्यक्ति के साथ और विशेष का नित्य द्रव्य के साथ जो सम्बन्ध है, वह किसी बाहरी कारण से उत्पन्न नहीं होता, उनमें स्वतः विद्यमान रहता है। ऐसे सम्बन्ध को '*अयुतसिद्धि*' कहते हैं। ऐसे अयुतसिद्ध पदार्थों का नित्य आन्तरिक सम्बन्ध ही 'समवाय' कहलाता है। यह सम्बन्ध उन्हीं दो पदार्थों में होता है जिनमें कम से कम एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता। संयुक्त पदार्थों का सम्बन्ध पारस्परिक होता है। जैसे, कलम कागज से संयुक्त है तो कागज भी कलम से संयुक्त है। परन्तु समवाय सम्बन्ध में यह बात नहीं होती। जैसे, शक्कर में मिठास समवेत है, इसका अर्थ यह नहीं कि मिठास में शक्कर समवेत है।

(७) अभाव

ऊपर छः पदार्थों का वर्णन हो चुका है। अभाव वह पदार्थ है जो उपर्युक्त किसी पदार्थ के अन्दर नहीं आ सकता। अतः यह सातवाँ पदार्थ माना जाता है। अभाव का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रात में जब हम आकाश की ओर देखते हैं तो उसमें सूर्य का नहीं होना वैसे ही निश्चित रूप से मालूम होता है जैसे चन्द्रमा या तारों का होना। अतएव वैशेषिक अभाव को भी एक पदार्थ मानता है।

अभाव क्या है ?

कणाद ने पदार्थों की सूची में अभाव का नाम-निर्देश नहीं किया है। इससे कुछ लोग समझते हैं कि वे छः ही पदार्थ मानने के पक्ष में थे। परन्तु वैशेषिक-सूत्र में कई जगह अभाव का प्रमेय रूप में उल्लेख पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रशस्तपाद-भाष्य में (जो वैशेषिक दर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ है) अभाव की सविस्तर व्याख्या मिलती है। इन बातों से सूचित होता है कि छः भाव पदार्थों के अतिरिक्त सातवाँ पदार्थ 'अभाव' भी वैशेषिक महर्षि कणाद को स्वीकृत था*।

अभाव के प्रभेद

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव का अर्थ है किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव। जैसे, अग्नि में शीतलता का अभाव। इसका सांकेतिक रूप होगा—'क' में 'ख' नहीं है। अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु नहीं होना। जैसे, अग्नि जल नहीं है। इसका सांकेतिक रूप होगा— 'क' 'ख' नहीं है।

संसर्गाभाव तीन प्रकार का होता है— (१) प्रागभाव (२) ध्वंसाभाव (३) अत्यन्ताभाव †।

---

* देखिये वैशेषिक सूत्र १।१।४, ६।१।१-१०

† देखिये भाषापरिच्छेद और मुक्तावली १२, तर्कभाषा पृ० २६, तर्कसंग्रह पृ० ८६, तर्कामृत अध्याय १,

किसी कार्यद्रव्य (जैसे घड़ा) की उत्पत्ति के पूर्व में जो उसका अभाव था, वह 'प्रागभाव' कहलाता है। जैसे, कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है। यहाँ घड़ा बनने के पहले मिट्टी में जो उसका (घड़े का) अभाव था, वह प्रागभाव है। यह अभाव अनादिकाल से वर्त्तमान था। जब घड़ा बन गया तब उस अभाव का अन्त हो गया। इसलिये प्रागभाव अनादि और सान्त कहा जाता है।

प्रागभाव

किसी उत्पन्न कार्यद्रव्य के नष्ट हो जाने पर जो उसका अभाव हो जाता है वह ध्वंसाभाव कहलाता है। जो घड़ा बन कर तैयार हुआ है वह कभी फूट भी जा सकता है। जब घड़ा फूट जाता है, तब टूटे हुए टुकड़ों में घड़े का अस्तित्व नहीं रहता, अर्थात् उसका अभाव हो जाता है। यह अभाव ध्वंसाभाव है। यह अभाव घड़ा फूटने के समय से उत्पन्न होता है। इस अभाव का कभी अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि अगर वह घड़ा सचमुच टूट गया तो फिर वही घड़ा तो लौट नहीं सकता। इसलिये ध्वंसाभाव सादि और अनन्त माना जाता है।

ध्वंसाभाव

भाव पदार्थों के साथ यह बात समान्य रूप से लागू होती है कि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश भी होता है। अभाव पदार्थों के सम्बन्ध में इसका उलटा नियम लागू होता है। अर्थात् एकबार जो अभाव उत्पन्न होता है वह फिर नष्ट नहीं हो सकता। जो घड़ा सचमुच टूट गया है ठीक वही घड़ा फिर नहीं बन सकता। इसलिये उस घड़े का ध्वंस (नाश) होने से जो अभाव उत्पन्न हुआ है वह अनन्त है।

दो वस्तुओं में त्रैकालिक (भूत वर्त्तमान और भविष्यत्) सम्बन्ध के अभाव को अत्यन्ताभाव कहते हैं। जैसे, वायु में रूप का अभाव। यह प्रागभाव और ध्वंसाभाव दोनों से भिन्न है। प्रागभाव उत्पत्ति से पूर्वकाल का

अत्यन्ताभाव

होता है । ध्वंसाभाव विनाश के अनन्तर काल का । परन्तु अत्यन्ताभाव किसी विशेष काल को लेकर नहीं होता, वह शाश्वत (सर्वकालिक) बना रहता है । न तो कभी उसकी उत्पत्ति होती है, न कभी उसका विनाश होता है। इस तरह अत्यन्ताभाव अनादि और अनन्त होता है ।

संसर्गाभाव का अर्थ है दो वस्तुओं में संसर्ग या सम्बन्ध का अभाव । अन्योन्याभाव का अर्थ है दो वस्तुओं का पारस्परिक भेद । जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होती है, तब उसका अर्थ यह होता है कि पहली वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में अभाव है और दूसरी वस्तु का पहली के रूप में । घट (घड़ा) पट (कपड़ा) से भिन्न है । इसके मानी यह हुए कि घट का पट के रूप में अभाव है, अर्थात् घट 'पट' नहीं है । इस प्रकार का भेदमूलक अभाव अन्योन्याभाव कहलाता है ।

अन्योन्याभाव

संसर्गाभाव दो वस्तुओं के संसर्ग (सम्बन्ध) का अभाव है । इसलिये इस अभाव का उलटा होगा दोनों वस्तुओं का संसर्ग होना । इसके प्रतिकूल अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में अभाव । इसलिये इस अभाव का उलटा होगा दोनों वस्तुओं का तादात्म्य (ऐक्य) होना । निम्नोक्त उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी । 'खरहे को सींग नहीं होती,' 'बालू में तेल नहीं होता'—इन वाक्यों में खरहे और सींग में, बालू और तेल में, सम्बन्ध का अभाव सूचित किया गया है । इन वाक्यों का उलटा होगा—'खरहे को सींग होती है' 'बालू में तेल होता है ।' अब ये वाक्य लीजिये—'गधा घोड़ा नहीं होता', 'घड़ा चादर नहीं है' इन वाक्यों से गधे और घोड़े का, घड़े और चादर का, भेद प्रकट होता है । इन वाक्यों का उलटा होगा—'गधा घोड़ा है,' 'घड़ा चादर है' । इस तरह हम देखते हैं कि संसर्गाभाव सम्बन्ध (Relation) का अभाव है, अन्योन्याभाव तादात्म्य (Identity) का अभाव है । अत्यन्ताभाव की तरह अन्योन्याभाव भी अनादि और अनन्त होता है ।

३ सृष्टि और प्रलय *

भारतीय दर्शन के अनुसार यह संसार (समस्त भौतिक जगत्) एक प्रकार का लीलास्थल है जो जीवों की उन्नति और मुक्ति के के हेतु रचा गया है। भारतीय दर्शन का यही आध्यात्मिक दृष्टिकोण वैशेषिक में भी विद्यमान है। सृष्टि और प्रलय की व्याख्या वैशेषिक इस प्रकार करता है। संसार के सभी कार्यद्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल तेज और वायु) से बनते हैं। इसलिये वैशेषिक मत को परमाणुवाद (Atomism) भी कहते हैं। परन्तु परमाणुओं के संयोग और विभाग यों ही नहीं हुआ करते। वे कर्मफल के अनुसार प्रेरित होते हैं। इसके अलावे शेष पाँच द्रव्य (आकाश, दिक्, काल, मन और आत्मा) परमाणुओं के भीतर नहीं आते। इसलिये कणाद के परमाणुवाद का स्वरूप पाश्चात्य परमाणुवाद से भिन्न है।

परमाणुवाद

पाश्चात्य परमाणुवाद भौतिकवाद (Materialism) के सिद्धान्त को लेकर चलता है। इसके अनुसार अनादि काल से अनन्त दिक् (Space) में असंख्यों परमाणुओं के भिन्न-भिन्न दिशाओं में घूमने के कारण उनके आकस्मिक संयोग के फलस्वरूप यह संसार बनता और बदलता रहता है। परमाणुओं की गति को निर्धारित करने-वाली कोई चेतन शक्ति नहीं है। जड़ परमाणु स्वतः घुणाक्षरन्याय से एक साथ मिल जाते हैं और फिर अलग हो जाते हैं। उनका नियामक कोई चेतन पदार्थ नहीं वरन अंध प्राकृतिक नियम है।

प्राच्य और पाश्चात्य परमाणु-वाद में भेद।

वैशेषिक का परमाणुवाद आध्यात्मिक सिद्धान्त पर अवलम्बित है। इसके अनुसार परमाणुओं की गति का सूत्रधार ईश्वर है जो जीवों के अदृष्ट के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिये परमाणुओं की क्रियाओं को प्रवर्त्तित करता है। उसी की इच्छा से

* देखिये, पदार्थ धर्मसंग्रह (पृ० ४८-४९), न्यायकंदली (पृ० ५०-५४, कुसुमांजलि २, तत्त्वचिन्तामणि (२)

सृष्टि और प्रलय होते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि यह विश्व मानों एक राजतंत्र राष्ट्र है जो एक बुद्धिमान् सम्राट् की इच्छा से इस प्रकार संचालित और नियन्त्रित होता है कि इसमें सभी नागरिकों को अपनी अपनी स्वतंत्रता और दायित्व के साथ अपनी अपनी आत्मोन्नति और आत्म-विकास करने का यथेष्ट अवसर मिलता है।

वैशेषिक का परमाणुवाद जगत् के उसी भाग की व्याख्या करता है जो अनित्य है अर्थात् जो किसी समय में उत्पन्न और विनष्ट होता है। जगत् के नित्य पदार्थों (आकाश, दिक्, काल, मन, आत्मा और भौतिक परमाणु) की न सृष्टि होती है न संहार। अतएव परमाणु-वाद के द्वारा जिस सृष्टि और प्रलय की व्याख्या होती है उसकी परिधि से वे बाहर हैं। केवल कार्यद्रव्य (Composite effects) अनित्य होते हैं। दो परमाणुओं के संयोग से जो कार्यद्रव्य बनता है वह द्व्यणुक कहलाता है। इसी तरह अणुओं के संयोग से कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति और उसके विच्छेद से कार्यद्रव्यों का विनाश होता है। इन्हीं अनित्य द्रव्यों की सृष्टि और लय का क्रम बतलाना परमाणुवाद का उद्देश्य है।

वैशेषिक का परमाणुवाद

दो परमाणुओं का प्रथम संयोग द्व्यणुक कहलाता है। तीन द्व्यणुकों का संयोग त्र्यणुक या त्रसरेणु कहलाता है। वैशेषिक-मतानुसार यह सूक्ष्मतम कार्यद्रव्य है जो दृष्टिगोचर हो सकता है। परमाणु या द्व्यणुक इससे भी सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकते। उनका ज्ञान अनुमान के द्वारा होता है।

समस्त भौतिक जगत् और उसके कार्यद्रव्य चार प्रकार के (पृथ्वी, जल, तेज और वायु के) परमाणुओं के द्व्यणुकों त्र्यणुकों तथा उनके वृहत्तर संयोगों के परिणाम हैं। परमाणुओं की गति या कर्म के फलस्वरूप ही उनके संयोग होते हैं। इस कर्म या गति का कारण क्या है? जगत् में जो क्रम या

जगत् का स्वरूप

व्यवस्था देखने में आती है उसकी उपपत्ति किस प्रकार की जा सकती है ? वैशेषिक इस प्रश्न का जो उत्तर देता है वह संक्षेप में यों है—जगत् में परमाणुओं के संयोगजन्य भौतिक कार्यद्रव्य भी हैं और शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि और अहंकार से युक्त जीवात्मा भी हैं। ये दिक् काल और आकाश में अवस्थित कार्य-कारण की शृंखला में बंधे हुए हैं। जीवात्मा अपनी बुद्धि ज्ञान और कर्म के अनुसार सुख या दुःख का भोग करते हैं। पुण्य का फल सुख और पाप का फल दुःख होता है। इस तरह जीवात्माओं के सुख-दुःख केवल प्राकृतिक नियमों के अधीन नहीं, बल्कि कर्मफल के नियमों पर भी आश्रित हैं। इस नियम का सारांश है—जैसी करनी, वैसी भरनी। प्राकृतिक कार्य-कारण के नियम का सारांश है—बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। कर्मफल का नियम है—'जो जस करहिं सो तस फल चाखा।'

वैशेषिक के अनुसार सृष्टि और संहार की प्रक्रिया यों है—सृष्टि और संहार के कर्त्ता महेश्वर हैं। वे ही अखिल विश्व के स्वामी या शासक हैं। उन्हींकी इच्छा से संसार की सृष्टि होती है, उन्हींकी इच्छा से प्रलय होता है। वे जब चाहते हैं तब ऐसा संसार बन जाता है जिसमें सभी जीव अपने-अपने कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग कर सकें। जब उनकी इच्छा होती है तब वे इस जाल को समेट लेते हैं। यह सृष्टि और लय का प्रवाह अनादि काल से चला आता है। इसलिये किसी सृष्टि को प्रथम सृष्टि नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक सृष्टि के पूर्व लय की अवस्था रहती है, और प्रत्येक लय के पूर्व सृष्टि की। सृष्टि का अर्थ है पुरातन क्रम का ध्वंस कर नवीन का निर्माण करना। जीवों के प्राक्तन कर्म (पुराकृत पाप और पुण्य) को ध्यान में रखते हुए ईश्वर नव सृष्टि की रचना करते हैं। जब वे सृष्टि-रचना का संकल्प करते हैं तब जीवात्माओं के अदृष्टानुसार उनके भोग-साधन बनने लगते हैं और जीवात्माओं के अदृष्ट उन्हें (जीवों को) उस दिशा में प्रवृत्त करने लगते हैं। वायु-परमाणुओं के संयोग से (द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि

सृष्टि और ईश्वर

रूपों में) वायु-महाभूत की उत्पत्ति होती है जो नित्य आकाश में निरन्तर प्रवाहित होने लगता है। इसी तरह, जल-परमाणुओं के संयोग से जल-महाभूत की उत्पत्ति होती है जो वायु में अवस्थित होकर उसी के द्वारा प्रवाहित होने लगता है। इसी तरह पृथ्वी के परमाणुओं से पृथ्वी का महाभूत उत्पन्न होता है और तेज परमाणुओं में गति उत्पन्न होने से तेज-महाभूत बनता है। ये दोनों जल-महाभूत में अवस्थित रहते हैं। तदनन्तर ईश्वर के अभिध्यान मात्र से विश्व का गर्भस्वरूप ब्रह्माण्ड—उत्पन्न हो जाता है, जो पार्थिव और तैजस परमाणुओं का बीजरूप है। इस ब्रह्माण्ड को ब्रह्मा या विश्वात्मा जो अनन्त ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य के भंडार हैं संचालित करते हैं। अर्थात् वे इस प्रकार चक्र घुमाते हैं कि पुराकृत धर्म और अधर्म के अनुसार जीवों को सुख-दुःख का भोग होता रहता है। यह सारा काम ईश्वर की इच्छा से होता है।

सृष्टि और प्रलय

सृष्टि का चक्र बहुत दिनों तक चलता रहता है। परन्तु यह अनन्त काल तक तो जारी नहीं रह सकता। जिस तरह दिन भर कठिन परिश्रम करने के उपरान्त रात में हम विश्राम करते हैं, उसी तरह एक सृष्टि में नाना योनियों में भ्रमण करने और सुख-दुःख भोगने के उपरान्त जीवों को थोड़ा सा विश्राम करने का अवकाश मिल जाता है। यही प्रलय की अवस्था है। जिस तरह दिन के बाद रात होती है, उसी तरह सृष्टि के बाद प्रलय होता है। इस सृष्टि-लय के क्रम को 'कल्प' कहते हैं। एक कल्प के बाद दूसरा कल्प होता है, दूसरे के बाद तीसरा। यह सिलसिला बराबर जारी रहता है। अपने यहाँ के अधिकांश आस्तिक दर्शनों का यही मत है। यह संसार अनित्य है और कभी न कभी इसका लय होगा ही। यह बात दृष्टान्त के द्वारा समझी जा सकती है। मिट्टी के घड़े कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह पहाड़ भी जो मिट्टी के बने हैं कभी न कभी नष्ट हो जायंगे। जिस तरह कुएँ और तालाब सूखते हैं, उसी तरह कभी न कभी समुद्र भी सूख

जायंगे। जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार कभी न कभी सूर्य का प्रकाश भी बुझ जायगा।

संसार का प्रलय इस क्रम से होता है—जब समयानुसार अन्यान्य जीवात्माओं की तरह विश्वात्मा ब्रह्मा भी अपना शरीर छोड़ देते हैं, तब महेश्वर को संहार करने की इच्छा होती है। उनकी इच्छा के साथ ही जीवों के अदृष्ट अपने कार्य से विरत हो जाते हैं (कुछ काल के लिये लुप्त हो जाते हैं) और उनके शरीर और इन्द्रियों के परमाणु बिखर कर अलग-अलग हो जाते हैं। इस प्रकार शरीर और इन्द्रिय का नाश हो जाने पर केवल पृथक्-पृथक् परमाणु रह जाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी-महाभूत के परमाणुओं में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है और इनके विच्छिन्न हो जाने से महाभूत विलीन हो जाता है। इस तरह क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज और वायु – ये चारों महाभूत विलीन हो जाते हैं। संसार के समस्त कार्य-द्रव्य, शरीर और इन्द्रियाँ, सब तिरोहित हो जाते हैं। केवल चार भूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु) के परमाणु, पाँच नित्य द्रव्य (दिक्, काल, आकाश, मन और आत्मा) तथा जीवात्माओं के धर्माधर्मजन्य भावना या संस्कार-मात्र बच जाते हैं (जिनको लेकर फिर अगली सृष्टि बनती है)।

प्रलय का क्रम

सृष्टि का क्रम यों माना जाता है—वायु→जल→पृथ्वी→तेज। परन्तु प्रलय का क्रम इससे भिन्न है। अर्थात् पृथ्वी→जल→तेज→ वायु। जीवात्मा नित्य माने गये हैं। प्रलय में केवल शरीर का नाश होता है, आत्मा का नहीं ❀।

४. उपसंहार

न्यायदर्शन की तरह वैशेषिक भी वस्तुवादी (Realistic) है। यह ईश्वर के साथ-साथ अनेक जीवात्माओं तथा परमाणुओं का अस्तित्व भी स्वीकार करता है। इस तरह यह ईश्वरवादी (Theistic)

❀ सृष्टि और प्रलय का सविस्तर वर्णन प्रशस्तपादाचार्य के पदार्थ-धर्म-संग्रह में पाया जाता है, जिसका आधार पौराणिक जान पड़ता है।

होते हुए भी अनेकवादी (Pluralistic) है । यह सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं को भिन्न-भिन्न परमाणुओं के संयोग का परिणाम मानता है। किन्तु नित्य परमाणुओं के पारस्परिक संयोग से जो सृष्टि उत्पन्न होती है, उसका आधार नैतिक (Moral) माना गया है। जीवात्माओं के अदृष्टानुसार ही उन्हें कर्मफल भोग कराने तथा अन्ततः उन्हें अपना स्वरूप ज्ञान कराने के निमित्त ही ईश्वर सृष्टि-रचना या संहार करता है। न्याय और वैशेषिक ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता भी मानते हैं और साथ ही साथ जीवात्माओं की स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार करते हैं। चैतन्य को वे आत्मा का आकस्मिक या औपाधिक गुण मानते हैं (आवश्यक धर्म नहीं)। यहाँ कुछ कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। यदि चैतन्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म नहीं है तो फिर उसे विषयों का अनुभव कैसे होता है ? इसी तरह वैशेषिक के ईश्वर भी संसार और जीवात्माओं से परे हैं । जो लोग मोक्ष का अर्थ ईश्वर-सायुज्य समझते हैं, उनकी धार्मिक भावना की सन्तुष्टि ऐसे ईश्वर से नहीं होती।

वैशेषिक दर्शन की महत्त्वपूर्ण देन है पदार्थों का वर्गीकरण और परमाणुवाद। यह भाव और अभाव-पदार्थों के भेद की समीक्षा करते हुए, दोनों को यथार्थ या वास्तविक समझता है। भाव-पदार्थों में भी सत्ता और वृत्ति का अन्तर किया गया है । जो देशकाल में वर्त्तमान रहे वह सत्ता (Existence) है। जिसका दैशिक (Spatial) या कालिक (Temporal) अस्तित्व नहीं है, वह वृत्ति (Subsistence) है। द्रव्य, गुण और कर्म, ऐसे भाव-पदार्थ (Positive entities) हैं जिनकी सत्ता होती है।

सामान्य, विशेष और समवाय भाव-पदार्थ होते हुए भी सत्तावान् नहीं हैं अर्थात् वे किसी द्रव्य, गुण या कर्म की तरह देश-विशेष और काल-विशेष में नहीं रहते। इसलिये उनमें सत्ता (Existence in Time & Space) नहीं, केवल वृत्ति (Being) मात्र है।

वैशेषिक पदार्थों का जो वर्गीकरण करता है, वह उतना आध्यात्मिक नहीं जितना व्यावहारिक है। आध्यात्मिक दृष्टि से जैनमत का वर्गीकरण (जीव और अजीव) अथवा सांख्यमत का वर्गीकरण (प्रकृति और पुरुष) अधिक समीचीन जान पड़ता है। वैशेषिक मत में जड़ परमाणु, जीवात्मा और परमात्मा, सभी एक ही पदार्थ, द्रव्य के अन्तर्गत चले आते हैं। इस वर्गीकरण की यही विशेषता है कि इसमें ज्ञेयत्व (knowability) और अभिधेयत्व (namability) को ध्यान में रखते हुए पदार्थों (Categories) की पूरी तालिका तैयार की गई है।

वैशेषिक परमाणुवाद वह कोरा लोकमत नहीं है जो केवल पृथ्वी जल, तेज और वायु के कणों से सारा संसार निर्मित समझता है। इसकी अपनी विशेषता है। इसी तरह यह भौतिकवाद भी नहीं जो सम्पूर्ण जड़ और चेतन जगत् को भौतिक परमाणुओं के संयोग का फल मात्र मानता है। वैशेषिक मन और आत्मा का पृथक् अस्तित्व मानता है। यह परमाणुवाद का ईश्वरवाद के साथ समन्वय करता है। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता और कर्मफलदाता के रूप में स्वीकार किये गये हैं, परन्तु परमाणुओं या जीवात्माओं के कर्त्ता के रूप में नहीं। वैशेषिक के ईश्वर सर्वनियामक हैं, सर्वस्रष्टा नहीं।

———

७

सांख्य दर्शन

१. विषय-प्रवेश

सांख्यकार कपिल

सांख्य दर्शन के रचयिता हैं महर्षि कपिल। सांख्य अत्यन्त प्राचीन मत है। उसकी प्राचीनता इसी बात से सिद्ध होती है कि श्रुति, स्मृति, पुराण आदि समस्त पुरातन कृतियों में इस विचार-धारा की झलक दिखाई पड़ती है। सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ है कपिल का *तत्त्व समास*। यह अत्यन्त ही संक्षिप्त और सारगर्भित है। अतः सांख्य शास्त्र का मर्म विस्तार-पूर्वक समझाने के लिये उन्होंने *सांख्य-सूत्र* नामक विशद ग्रंथ की रचना की। इसलिये सांख्य-दर्शन 'सांख्य प्रवचन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इसे 'निरीश्वर सांख्य' भी कहते हैं, क्योंकि महर्षि कपिल ने ईश्वरवाद की स्थापना नहीं की है। प्रायः उनका विचार था कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। योग दर्शन में ईश्वर का प्रतिपादन किया गया है। अतः उसे 'सेश्वर-सांख्य' कहते हैं।

सांख्य का साहित्य

महर्षि कपिल की शिष्य-परम्परा में आसुरि और पञ्चशिखाचार्य के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। उन्होंने सांख्यदर्शन पर सरल टीकाग्रन्थ लिखे थे, परन्तु वे काल के गर्भ में विलीन हो गये और अब उनका कुछ पता नहीं चलता। उनके बाद सांख्यदर्शन पर जो सबसे प्राचीन और प्रामाणिक पाठ्यग्रंथ मिलता है वह है ईश्वर कृष्ण की *सांख्य-कारिका*। इसके अतिरिक्त, गौडपाद का *सांख्यकारिका-भाष्य*, वाचस्पति की

तर्क कौमुदी, विज्ञान भिक्षु का सांख्य प्रवचन भाष्य और सांख्यसार भी सांख्यदर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

'सांख्य' नाम की उत्पत्ति कैसे हुई यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि इसका सम्बन्ध 'संख्या' से है और इस दर्शन का यह नाम इसलिये पड़ा है कि इसमें तत्त्वों की संख्या निर्धारित की गई है *। दूसरा मत यह है कि 'संख्या' का अर्थ है सम्यक् ज्ञान और इसी अर्थ में यह दर्शन 'सांख्य' कहलाता है †। न्याय-वैशेषिक की तरह सांख्य दर्शन का भी उद्देश्य है सभी दुःखों से मुक्ति पाने के निमित्त तत्त्वज्ञान की प्राप्ति। इसमें आत्मा के विषय में जितना उच्च कोटि का विचार किया गया है उतना प्रायः वेदान्त को छोड़कर और किसी दर्शन में नहीं। इसलिये आत्मविषयक सम्यक् ज्ञान के अर्थ में 'सांख्य' नाम समीचीन जान पड़ता है। सांख्य दर्शन द्वैतवाद (Dualism) का प्रतिपादन करता है। जहाँ न्याय और वैशेषिक अनेक पदार्थों—परमाणुओं, मनों, और आत्माओं—की सत्ता स्वीकार करता है, वहाँ सांख्य केवल दो मूलतत्त्व मानता है—प्रकृति और पुरुष। इनका क्या स्वरूप है और इनसे सृष्टि का कैसे विकास होता है इसकी विवेचना आगे की जायगी।

सांख्य का अर्थ

२. सांख्य दर्शनके सिद्धान्त

(१) सत्कार्यवाद ‡

सांख्य दर्शन का मुख्य आधार है सत्कार्यवाद। प्रश्न यह है कि कार्य की सत्ता उसकी उत्पत्ति के पूर्व कारण में रहती है या नहीं।

* संख्यां प्रकुर्वते चैव, प्रकृतिंच प्रचक्षते।
तत्त्वानिच चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्त्तिताः।

— महाभारत।

† नहि सांख्यात् परं ज्ञानम्।

— गीता।

‡ देखिये, सांख्य-कारिका और तत्त्व-कौमुदी ८।९, सांख्य-प्रवचन-भाष्य १।११३-२१, अनिरुद्ध-वृत्ति १।११३-२१

न्याय-वैशेषिक और बौद्ध दर्शन उत्तर देते हैं—नहीं। उनके अनुसार जब तक किसी कारण के द्वारा कार्य का प्रादुर्भाव नहीं होता तबतक उसकी कोई सत्ता नहीं मानी जा सकती। यदि उत्पत्ति के पूर्व ही कार्य की सत्ता विद्यमान थी तब फिर उत्पन्न होने का अर्थ ही क्या रह जाता है? और निमित्त कारण का प्रयोजन ही क्या रह जाता है? यदि मिट्टी में घड़ा पहले ही से मौजूद था तो फिर कुम्हार को मेहनत करने और चाक घुमाने की क्या जरूरत? इसके अलावे यदि कार्य पहले ही उपादान कारण में मौजूद था तो फिर हम कारण और कार्य का भेद किस आधार पर करते हैं? मिट्टी और घड़ा दोनों के लिये एक ही नाम का प्रयोग क्यों नहीं करते? मिट्टी का लोंदा ही घड़े का काम क्यों नहीं देता? यदि यह कहा जाय कि दोनों में (मिट्टी और घड़े में) आकार (Form) को लेकर भेद है, तब तो यह स्वीकार करना होगा कि कार्य में कोई वस्तु (विशेष आकृति) ऐसी है जो कारण में नहीं थी, अर्थात् कार्य वास्तविक रूप से कारण में विद्यमान नहीं था। यह सिद्धान्त (अर्थात् कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यमान नहीं रहता है) 'असत् कार्यवाद' कहलाता है।

न्याय, वैशेषिक और बौद्ध दर्शन का असत्कार्यवाद

सांख्य असत्कार्यवाद का खण्डन करते हुए सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करता है। इसके लिये ये युक्तियाँ दी जाती हैं—

(१) यदि कार्य वस्तुतः कारण में अविद्यमान रहता तो किसी भी प्रयत्न से उसका आविर्भाव नहीं होता। क्या बालू से तेल निकाला जा सकता है? या आकाश को मथकर मक्खन तैयार किया जा सकता है? तिल को पेरने से तेल निकलता है, क्योंकि तिल में पहले ही से तेल मौजूद है। वह विशेष अवस्था में (जैसे कोल्हू में पेरने पर) प्रकट होता है। इसलिये निमित्त कारण का काम इतना ही है कि वह उपादान कारण में अप्रत्यक्ष रूप से वर्त्तमान कार्य को प्रत्यक्ष कर दे। दूसरे शब्दों में, कर्त्ता के व्यापार से जिस कार्य की उत्पत्ति होती

सांख्य का सत्कार्यवाद और उसके लिये युक्तियाँ

है वह वस्तुतः अभिव्यक्ति मात्र है। (२) देखने में आता है कि किसी खास कार्य का प्रादुर्भाव खास कारण से ही होता है। जैसे, दही जब बनेगा तब दूध ही से और तेल जब निकलेगा तब बीज ही से। मिट्टी से दही नहीं बन सकता और न पत्थर से तेल निकल सकता है। इससे सूचित होता है कि विशेष कार्य विशेष कारण में (पहले ही से) मौजूद रहता है। नहीं तो किसी भी कारण से किसी भी कार्य की उत्पत्ति होना संभव होता। वैसी हालत में तेली को तेल तैयार करने के लिये तिल या सरसों की जरूरत नहीं पड़ती, वह चाहे जिस चीज से (मिट्टी या कंकड़ से) तेल निकाल लेता। (३) केवल समर्थ कारण से ही अभीष्ट कार्य की प्राप्ति हो सकती है। इससे यह सिद्ध होता है कि कार्य सूक्ष्मरूप से अपने कारण में विद्यमान था। अर्थात् कार्य उत्पन्न होने से पूर्व अव्यक्त अवस्था में रहता है। (४) यदि कार्य सचमुच कारण में अविद्यमान रहता तो इसका अर्थ यह होता कि असत् से सत् की उत्पत्ति होती है (अर्थात् शून्य से किसी वस्तु का प्रादुर्भाव हो जाता है) जो सर्वथा असंभव है। (५) वस्तुतः कार्य कारण से भिन्न नहीं, किन्तु अभिन्न है। एक ही वस्तु की अव्यक्त और व्यक्त अवस्थाओं को हम क्रमशः कारण कार्य के नाम से पुकारते हैं। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर कपड़ा अपने धागों से पृथक् वस्तु नहीं है और न टेबुल अपनी लकड़ी से भिन्न है। मिट्टी का घड़ा वस्तुतः मिट्टी ही है और पत्थर की मूर्त्ति वस्तुतः पत्थर ही।

इन सब बातों से सांख्य इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कार्य अपनी अभिव्यक्ति से पूर्व भी कारण में विद्यमान रहता है। इसी सिद्धान्त को सत्कार्यवाद कहते हैं।

सत्कार्यवाद के दो रूप हैं—(१) परिणामवाद और (२) विवर्तवाद। प्रथम मत (परिणामवाद) के अनुसार, कार्य की उत्पत्ति का अर्थ है कारण का सचमुच रूपान्तरित होना। जैसे दूध का परिणाम दही है, मिट्टी का परिणाम घड़ा है। यहाँ दूध और मिट्टी के वास्तविक रूपान्तर

सत्कार्यवाद के दो रूप

या विकार होने से ही दही या घड़े का प्रादुर्भाव होता है। यह सांख्य का मत है। द्वितीय मत (विवर्त्तवाद) अद्वैत वेदान्त का है। उसका कहना है कि कारण में जो विकार या रूपान्तर परिलक्षित होता है वह वास्तविक नहीं, एक आभास मात्र है। जब रस्सी देखने से साँप का आभास होता है तो रस्सी यथार्थतः साँप में परिणत नहीं हो जाती। रस्सी में केवल साँप की प्रतीति मात्र होती है, साँप की सत्ता उसमें नहीं आ जाती। इसी प्रकार जो नाना विकार हमें परिलक्षित होते हैं वे भ्रम या आभास मात्र हैं। यथार्थतः ब्रह्म का रूपान्तर नहीं होता। वह शाश्वत रूप से एक सा बना रहता है। फिर भी हमें वह नाम-रूपात्मक जगत् के रूप में बदलता हुआ सा मालूम पड़ता है। इस मत के अनुसार कार्य कारण का वास्तविक रूपान्तर नहीं, बल्कि विवर्त्त (appearance) मात्र है।

(२) प्रकृति और उसके तीन गुण ※

सांख्य परिणामवाद (यथार्थ विकार) का सिद्धान्त मानता है। यह सिद्धान्त अन्ततः एक ऐसे मूल उपादान पर ले जाता है जिसका विकार यह सारा संसार है। संसार की सभी वस्तुएं—शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि समेत—कार्यद्रव्य हैं जो कतिपय उपादानों के संयोग से उत्पन्न होते हैं। यह जगत् कार्यकारणों का सन्तान या प्रवाह है, अतः इस शृंखला का मूल कारण होना आवश्यक है। यह कारण क्या है ? यह कारण आत्मा या पुरुष नहीं माना जा सकता क्योंकि वह वास्तव में न तो किसी वस्तु का कार्य होता है न कारण। इसलिये संसार का कारण आत्मा या चैतन्य से इतर वस्तु (जड़ पदार्थ)—में ढूँढना होगा। चार्वाक, बौद्ध, जैन, तथा न्याय-वैशेषिक मतों के अनुसार पृथ्वी, जल, तेज और वायु के परमाणु ही समस्त सांसारिक

संसार का मूल कारण प्रकृति है

※ देखिये, कारिका और कौमुदी ३। १०। १६, प्रवचन भाष्य और वृत्ति १। ११०, १। १२२-३७

विषयों के कारण-स्वरूप हैं। परन्तु सांख्य इस बात से सहमत नहीं होता। उसका कहना है कि मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं से नहीं हो सकती। अतएव हमें ऐसा मूल कारण खोजना चाहिये जिससे केवल स्थूल पदार्थों (जैसे मिट्टी, पानी, पेड़, पहाड़) की ही उत्पत्ति संभव नहीं हो, वरन सूक्ष्म तत्त्व (जैसे मन, बुद्धि, अहंकार) की भी उत्पत्ति हो सके। ऐसा देखा जाता है कि कारण कार्य की अपेक्षा सूक्ष्म और उसमें व्याप्त रहता है। इसलिये संसार का मूल कारण ऐसा होना चाहिये जो जड़ होने के साथ ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो, जो अनादि, अनन्त और व्यापक रूप से जगत् के पदार्थों का कारण हो, जिससे समस्त विषय उत्पन्न होते रह सकें। इसी मूल कारण को सांख्य दर्शन प्रकृति' कहता है। यह सभी विषयों का मूल कारण है। अतः यह स्वयं अनादि है।

समस्त विषयों का अनादि मूल-स्रोत होने के कारण यह प्रकृति नित्य और निरपेक्ष है, क्योंकि सापेक्ष और अनित्य पदार्थ जगत् का मूल कारण नहीं हो सकता। मन, बुद्धि और अहंकार जैसे सूक्ष्म कार्यों का आधार होने के कारण प्रकृति एक गहन, अनन्त और सूक्ष्मातिसूक्ष्म शक्ति है जिसके द्वारा संसार की सृष्टि और लय का चक्र-प्रवाह निरन्तर चलता रहता है।

प्रकृति के अस्तित्व की युक्तियाँ

संसार का मूलभूत सूक्ष्म कारण प्रकृति है, यह इन युक्तियों के बल पर सिद्ध किया जाता है—(१) संसार के समस्त विषय—बुद्धि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त—देश काल से परिच्छिन्न (सीमित) और कारणापेक्ष (पूर्ववर्त्ती कारण पर निर्भर) होते हैं। इसलिये उनका मूलभूत कारण अपरिच्छिन्न और निरपेक्ष होना चाहिये। (२) संसार के समस्त विषयों का यह सामान्य धर्म है कि वे सुख दुःख या मोह (उदासीनता) उत्पन्न करते हैं। इससे सूचित होता है कि उनके मूलभूत कारण में भी ये तीनों गुण मौजूद रहने चाहिये। (३) सभी कार्य ऐसे कारणों

से उत्पन्न होते हैं, जिनमें ये (कार्य) अव्यक्त वा बीजरूप से निहित थे। इसलिये विषय-जगत् जो कार्यों का समूह है अव्यक्त रूप से किसी बीजरूप कारण-जगत् में निहित रहना चाहिये। (४) कार्य कारण से उत्पन्न होता है और नष्ट होने पर पुनः उसमें विलीन हो जाता है। अर्थात् कार्य का प्रादुर्भाव कारण से होता है और पुनः तिरोभाव भी कारण में हो जाता है। इस तरह, प्रत्यक्ष विषय अपने-अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होते हैं। वे विशिष्ट कारण भी अपर सामान्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। इसी तरह ऊपर चढ़ते चढ़ते हम एक मूल कारण पर पहुंच जाते हैं जो जगत् का आदि कारण है।

इसी तरह, प्रलयावस्थामें भौतिक पदार्थ परमाणुओं में लीन हो जाते हैं। परमाणु शक्तियों में लीन हो जाते हैं। इसी तरह सभी वस्तुएँ अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अन्त में एक निरपेक्ष निःसीम व्यापक मूल कारण बच जाता है जो आत्मा के अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुओं को अपने में अन्तर्हित कर कर लेता है। सम्पूर्ण अनात्म (जड़) जगत् के इस सूक्ष्म कारण को सांख्य में प्रकृति, प्रधान, अव्यक्त आदि नाम दिये गए हैं। प्रकृति किसी कारण का कार्य नहीं है। वह स्वयं होती है। यदि मूल प्रकृति का भी कारण कल्पित किया जाय तो पुनः उस कारण का भी कारण कल्पित करना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था प्रसंग (Infinite Regress) आ जायगा। कार्य-कारण की शृंखला में हमें कहीं न कहीं जाकर तो रुकना ही पड़ेगा। जहाँ जाकर हम रुकेंगे और कहेंगे कि यह आदि कारण है, वहीं उस आदि कारण को सांख्य परा या मूला प्रकृति ❀ के नाम से पुकारता है।

सत्त्व, रज और तमोगुण

सत्त्व, रज और तम, इन्हीं तीन गुणों से प्रकृति बनी है। इन तीन गुणों की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है। ये गुण क्या हैं? यहाँ गुण का अर्थ धर्म नहीं। प्रकृति का विश्लेषण करने पर हम उसमें तीन प्रकार

❀ देखिये प्रवचन सांख्य १ । ६५-६८, २ । ५६-७०, ६ । ३६

का स्वरूप शुक्ल (उजला), रजोगुण का स्वरूप रक्त (लाल), और तमोगुण का स्वरूप कृष्ण (काला) कल्पित किया गया है।

तीनों गुणों में परस्पर-विरोध भी है और सहयोग भी। वे सर्वदा एक साथ—एक दूसरे से अविच्छेद्य रहते हैं। उनमें केवल एक ही स्वतः (बिना शेष दो की सहायता से)—कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस प्रकार तेल, बत्ती और आग, इन तीनों भिन्न-भिन्न और विरुद्ध-कोटिक वस्तुओं के सहयोग से दीपक जलता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न गुण विरुद्ध-कोटिक होते हुए भी पारस्परिक सहयोग से सांसारिक विषयों को उत्पन्न करते हैं। इस तरह, संसार की छोटी-बड़ी, स्थूल-सूक्ष्म, सभी वस्तुओं में ये तीनों गुण मौजूद रहते हैं। इनमें प्रत्येक गुण एक दूसरे को दबाने की कोशिश करता है। जो गुण अधिक प्रबल होता है उसीके अनुसार वस्तु का स्वरूप निर्धारित होता है। शेष दो गुण उस वस्तु में गौण रूप से रहते हैं। संसार में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसमें न्यूनाधिक परिमाण में इन तीनों तत्त्वों का सम्मिश्रण नहीं हो। उन्हीं गुणों के अनुसार विषयों का विभाग तीन वर्गों में किया जाता है—इष्ट, अनिष्ट और तटस्थ।

तीनों गुणों का सम्बन्ध

तीनों गुण निरन्तर परिवर्त्तनशील हैं। विकार या परिणाम उनका स्वभाव ही है, इसलिये वे एक क्षण भी अविकृत रूप में नहीं रहते। गुणों में दो तरह के परिणाम होते हैं। प्रलयावस्था में प्रत्येक गुण दूसरों से खिंचकर स्वतः अपने में परिणत हो जाता है, अर्थात् सत्त्व सत्त्व में, रज रज में और तम तम में परिणत हो जाता है। इस प्रकार का परिणाम सरूप परिणाम कहलाता है। इस अवस्था में गुणों से कोई कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि वे पृथक्-पृथक् रह कर कुछ नहीं कर सकते। जब तक गुण आपस में नहीं मिलते और उनमें एक प्रबल नहीं होता तबतक उनसे किसी विषय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं अर्थात् वे असंघटित

गुणों का रूपान्तर

(१)

रूप से ऐसे अव्यक्त पिंड रूप में रहते हैं जिसमें न गति होती है, न शब्द, स्पर्श, रूप, रस या गन्ध होता है और न कोई विषय होता है। यही साम्यावस्था सांख्य की 'प्रकृति' है। दूसरे प्रकार का परिणाम तब उत्पन्न होता है जब गुणों में से एक प्रबल हो उठता है और शेष दो उसके अधीन हो जाते हैं। जब ऐसा होता है, तब विषयों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार का परिणाम विरूप परिणाम कहलाता है। इसी से सृष्टि का प्रारम्भ होता है।

(२) पुरुष या आत्मा *

सांख्य दर्शन का एक तत्त्व है प्रकृति, दूसरा तत्त्व है पुरुष (आत्मा)। आत्मा का अस्तित्व निर्विवाद है। 'मैं हूँ' अथवा "यह मेरा है"—ऐसा प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है और बोलता है। 'मैं' और 'मेरा' ये सभी व्यक्तियों के सहज स्वाभाविक अनुभव हैं जिनके लिये प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः कोई भी व्यक्ति अपना अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता, क्योंकि अस्वीकार करने के लिये भी चेतन आत्मा की आवश्यकता है। इसलिये सांख्य का कहना है कि आत्मा (पुरुष) का अस्तित्व स्वयंसिद्ध (स्वतः प्रकाश्य) है और इसकी सत्ता का किसी प्रकार खण्डन नहीं किया जा सकता।

पुरुष या आत्मा का स्वरूप

जहाँ आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में ऐकमत्य है वहाँ आत्मा के स्वरूप के विषय में नाना मत-मतान्तर हैं। कुछ लोग (चार्वाक या भौतिकवाद के अनुयायी) स्थूल शरीर को ही आत्मा मानते हैं, कुछ लोग इन्द्रियों को, कुछ लोग प्राण को, कुछ लोग मन को। बौद्धमतावलम्बी प्रभृति कुछ दार्शनिक आत्मा को चैतन्य का प्रवाह मात्र समझते हैं। न्याय-वैशेषिक तथा प्राभाकर मीमांसकों के अनुसार आत्मा एक

आत्मा के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत

* देखिये, वेदान्तसार ५१-५६, कारिका और कौमुदी १७-२०, प्रवचन भाष्य और वृत्ति १।६६, २।१२८-३४, ५।६१-६८

अचेतन द्रव्य है जो विशेष अवस्थाओं में चैतन्य का आधार हो जाता है। इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि आत्मा एक चेतन पदार्थ है जो अंशतः अज्ञान के आवरण से आच्छादित रहता है, इसलिये हमें अपने विषय में जो ज्ञान होता है वह अधूरा और एकांगी रहता है। अद्वैत वेदान्त का मत है कि आत्मा शुद्ध चैतन्य है। एक ही आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में अवस्थित है। यह शुद्ध-बुद्ध मुक्त और नित्य आनन्दस्वरूप है। इसलिये वेदान्ती आत्मा को सच्चिदानन्द कहते हैं।

सांख्य मत के अनुसार, आत्मा (पुरुष) शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह सांसारिक विषय नहीं है। मस्तिष्क, स्नायु-मंडल या अनुभव-समूह को आत्मा समझना भूल है। आत्मा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है, कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह चैतन्य का आधार-भूत द्रव्य नहीं, किन्तु स्वतः चैतन्य-स्वरूप है। चैतन्य इसका गुण नहीं, स्वभाव है। सांख्य वेदान्त की तरह आत्मा को आनन्द-स्वरूप नहीं मानता। आनन्द और चैतन्य दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, अतएव उन्हें एक ही पदार्थ का तत्त्व मानना उचित नहीं। पुरुष या आत्मा केवल द्रष्टा है जो प्रकृति की परिधि से परे और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। उसके ज्ञान का प्रकाश सर्वदा बना रहता है। हाँ, ज्ञान के विषय बदलते रहते हैं। एक के बाद दूसरा विषय आता है। परन्तु आत्मा या चैतन्य का प्रकाश स्थिर रहता है, वह नहीं बदलता। आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती। वह निष्क्रिय और अविकारी होता है। वह स्वयंभू, नित्य और सर्वव्यापी-सत्ता है, जो सभी विषयों से अछूता और राग-द्वेष से रहित है। जितने कर्म या परिणाम हैं, जितने सुख या दुःख हैं, वे सभी प्रकृति और उसके विकारों (जैसे शरीर, मन, बुद्धि आदि) के धर्म हैं। आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेना सरासर भ्रम है। जब ऐसे अज्ञान के कारण पुरुष अपने को शरीर या इन्द्रिय (अथवा

आत्मा नित्य और सर्वव्यापी चैतन्य है

मन या बुद्धि) समझ बैठता है, तब उसे आभासित होता है कि वह कर्म या परिवर्त्तन के प्रवाह में पड़ कर नाना प्रकार के दुःख-क्लेशों के दलदल में फंस गया है।

सांख्य में द्रष्टा पुरुष के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये ये युक्तियाँ दी जाती हैं— (१) संसार के समस्त विषय सावयव हैं (अर्थात् अवयवों के संयोग से बने हुए हैं), इसलिये वे साधन-स्वरूप हैं (अर्थात् पुरुषों की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायक हैं)। (२) ये पुरुष अपने साधन-स्वरूप विषयों से सर्वथा भिन्न हैं। अर्थात् विषयों की तरह वे जड़ और सावयव नहीं हैं (क्योंकि ऐसा होने से वे भी किसी के लिये साधन बन जाते)। (३) सभी जड़द्रव्य किसी चेतन सत्ता के द्वारा ही नियन्त्रित होते हैं। जैसे, मशीन तभी काम करती है जब उसकी गतिविधि का नियामक कोई कारीगर रहता है। इसी तरह, जड़ प्रकृति और उसके विकार बिना पुरुषों की सहायता से सृष्टि-रचना नहीं कर सकते। उनकी क्रियाओं का निर्देशक (चेतन पुरुष) होना आवश्यक है। (४) संसार भोग्यपदार्थों (सुख-दुःखों) से भरा है। यदि कोई उनका चेतन भोक्ता (भोग करने वाला) नहीं रहे तो फिर उनका भोग कैसे संभव होगा। (५) जगत् में कम से कम कुछ पुरुष ऐसे हैं जो दुःखों के चक्र से मुक्ति पाने के लिये वास्तविक प्रयत्न करते हैं। सांसारिक विषयों के लिये यह संभव नहीं, क्योंकि वे स्वतः दुःख के कारण होते हैं, न कि उनकी निवृत्ति के। इसलिये दुःखमय जड़ जगत् से परे, आत्मा या अशरीरी पुरुष हैं, ऐसा मानना आवश्यक है। नहीं तो मोक्ष, मुमुक्षता (मोक्ष पाने की इच्छा) और जीवन्मुक्त महात्मा इन सब शब्दों का कुछ अर्थ ही नहीं रह जायगा।

आत्मा के अस्तित्व के लिये प्रमाण

अद्वैत वेदान्त का मत है कि एक ही आत्मा सभी जीवों में व्याप्त है। सांख्य इस मत को नहीं मानता। उसका कहना है कि प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् आत्मा है। संसार में अनेक पुरुषों या आत्माओं का होना इन

अनेकात्मवाद के लिये युक्तियाँ

युक्तियों से सिद्ध होता है—(१) भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के जनन-मरण में, ज्ञान और कर्म में, स्पष्ट अन्तर पाया जाता है। एक के जन्म (या मृत्यु) होने से सभी का जन्म (या मृत्यु) नहीं हो जाता। एक के अंध या वधिर होने से सभी अंधे या बहरे नहीं हो जाते। यदि सभी पुरुषों में एक ही आत्मा का अस्तित्व होता तो एक के जन्म-मरण से सबका जन्म-मरण हो जाता, एक के अंध-वधिर होने से सब अंध-वधिर हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे सूचित होता है कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। (२) यदि सभी जीवों में एक ही आत्मा रहता तो एक में कोई क्रिया होने से सब में वही क्रिया परिलक्षित होती। परन्तु ऐसा नही होता। जब एक सोया हुआ रहता है तब दूसरा काम करता रहता है। जब एक रोता रहता है तब दूसरा हँसता रहता है। इससे सूचित होता है कि आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। (३) स्त्री-पुरुष जहाँ एक तरफ पशु-पक्षियों से ऊपर की श्रेणी में हैं वहाँ दूसरी तरफ देवताओं से नीचे की श्रेणी में हैं। यदि पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता सभी में एक ही आत्मा का निवास होता तो ये विभिन्नताएँ नहीं होतीं। इन बातों से यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं, अनेक हैं। ये आत्मा या पुरुष नित्य द्रष्टा या ज्ञाता-स्वरूप रहते हैं। प्रकृति एक है, पुरुष अनेक हैं। प्रकृति विषयों का जड़ आधार है, पुरुष उनका चेतन द्रष्टा है। प्रकृति प्रमेय है, पुरुष प्रमाता है।

(४) जगत् की सृष्टि या विकास ❀

प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि होती है। जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है तभी सांसारिक विषयों की उत्पत्ति होती है। प्रकृति और पुरुष का संयोग उस तरह का साधारण संयोग नहीं है जो दो भौतिक द्रव्यों में

जगत् की उत्पत्ति

❀ देखिये, कारिका और कौमुदी २१-२४, प्रवचनभाष्य और वृत्ति १। ६४-७४, २।१०-३२.

(जैसे रथ और घोड़े में) होता है। यह एक विलक्षण प्रकार का सम्बन्ध है। प्रकृति पर पुरुष का प्रभाव वैसा ही पड़ता है जैसा किसी विचार का प्रभाव हमारे शरीर पर। जबतक दोनों का किसी तरह सम्बन्ध नहीं होता तब तक संसार की सृष्टि नहीं हो सकती। अकेला पुरुष सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है। इसी तरह अकेली प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती क्योंकि वह जड़ है। प्रकृति की क्रिया पुरुष के चैतन्य से निरूपित होती हैं, तभी सृष्टि का उद्गम होता है। अर्थात् प्रकृति और पुरुष इन दोनों के सहकार से ही विषय-जगत् की उत्पत्ति होती है। यहाँ प्रश्न उठता है—प्रकृति और पुरुष तो एक दूसरे से भिन्न और विरुद्धधर्मक हैं। तब फिर उनका पारस्परिक सहयोग कैसे संभव है? इसके उत्तर में सांख्य कहता है—जिस प्रकार एक अंधा और लंगड़ा, ये दोनों आपस में मिलकर एक दूसरे की सहायता से जंगल पार कर सकते हैं, उसी प्रकार जड़ प्रकृति और निष्क्रिय पुरुष, ये दोनों परस्पर मिलकर एक दूसरे की सहायता से अपना कार्य सम्पादित कर सकते हैं। प्रकृति दर्शनार्थ (ज्ञात होने के लिये) पुरुष की अपेक्षा रखती है और पुरुष कैवल्यार्थ (अपना स्वरूप पहचानने के लिये) प्रकृति की सहायता लेता है।

सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने से गुणों की साम्यावस्था में विकार उत्पन्न हो जाता है, जिसे 'गुणक्षोभ' कहते हैं। पहले रजोगुण जो स्वभावतः क्रियात्मक है, चलायमान होता है। तब उसके कारण और और गुणों में भी स्पन्दन होने लगता है। परिणाम-स्वरूप प्रकृति में एक भीषण अन्दोलन उठ जाता है जिसमें प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर आधिपत्य जमाना चाहता है। क्रमशः तीनों गुणों का पृथक्करण और संयोजन होता है और न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों के फलस्वरूप नाना प्रकार के सांसारिक विषय उत्पन्न होते हैं।

गुण-क्षोभ

सांख्यमतानुसार सृष्टि का क्रम इस प्रकार है। सबसे पहले 'महत्' *या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। यह प्रकृति का प्रथम विकार है। वाह्य जगत् की दृष्टि से, यह विराट् बीज स्वरूप है, अतएव 'महत्तत्त्व' कहलाता है। आभ्यन्तरिक दृष्टि से यह वह बुद्धि है जो जीवों में विद्यमान रहती है। बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण। बुद्धि के द्वारा ही ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थों का भेद विदित होता है। बुद्धि के द्वारा ही हम किसी विषय के सम्बन्ध में निर्णय करते हैं। सत्त्वगुण के आधिक्य से बुद्धि का उदय होता है। बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है स्वतः अपने को तथा दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करना। सात्त्विक अवस्था में धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य, ये सब गुण इसमें पाये जाते हैं। परन्तु तमोगुण से आच्छादित हो जाने पर इसमें विपरीत गुण—अधर्म, अज्ञान, आसक्ति (अवैराग्य) और अशक्ति (अनैश्वर्य)—आ जाते हैं।

सृष्टि का क्रम

महत्तत्त्व या बुद्धि

बुद्धि पुरुष या आत्मा से भिन्न है क्योंकि पुरुष या आत्मा समस्त भौतिक द्रव्यों और गुणों से परे हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न जीवात्माओं में जो ज्ञानादिक व्यापार होते हैं उनका आधार यही बुद्धि है। यह आत्मा से निकटतम होने के कारण उसके (आत्मा के) चैतन्य को प्रतिबिम्बित कर उससे स्वयं प्रकाशयुक्त हो जाती है। इन्द्रियों और मन का व्यापार बुद्धि के निमित्त होता है, बुद्धि का व्यापार आत्मा के लिये होता है। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना और प्रकृति का भेद समझ कर अपने यथार्थ स्वरूप की विवेचना कर सकता है †

प्रकृति का दूसरा विकार है अहंकार। यह महत्तत्त्व का परिणाम है। 'मैं' और 'मेरा' यह अभिमान का भाव ही अहंकार है।इसी अहंकार के कारण पुरुष

अहंकार

* देखिये, सांख्यसूत्र १ । ७१

† देखिये, कारिका ३६-३७, सांख्यसूत्र २ । ४०-४३

मिथ्याभ्रम में पड़कर अपने को कर्त्ता (काम करनेवाला), कामी (इच्छा करने वाला) और स्वामी (वस्तुओं का अधिकारी) समझने लगता है। पहले हमें इन्द्रियों के द्वारा विषयों का प्रत्यक्ष है। तब मन उन पर विचार करता है और उनका स्वरूप निर्धारित करता है (अर्थात् यह विषय अमुक प्रकार का है)। फिर हम उन विषयों को आत्मसात् करते हैं (अर्थात् यह समझने लगते हैं कि यह विषय 'मेरा' या 'मेरे लिये' है) और इस तरह विषय का अपने साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। यही अपने सम्बन्ध में 'मैं' (अहम्) और विषयों के सम्बन्ध में 'मेरा' (मम) का भाव अहंकार हैं। इस तरह जब अहंकार के कारण सांसारिक विषयों में अपनी प्रवृत्ति हो जाती है तब हम नाना प्रकार के व्यवहारों में संलग्न हो जाते हैं। बर्तन गढ़ने से पूर्व कुम्हार के मन में यह संकल्प उठता है—"अच्छा, 'मैं' बर्तन बनाऊँ" तब वह उस कार्य में लग जाता है। यही अहंकार का भाव हमारे सभी सांसारिक व्यवहारों की जड़ है।

अहंकार के प्रभेद

अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है—(१) सात्त्विक या वैकारिक जिसमें सत्त्वगुण की प्रधानता होती है (२) राजस या तैजस, जिसमें रजोगुण की प्रधानता होती है, और (३) तामस या भूतादि, जिसमें तमोगुण की प्रधानता होती है। सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है (५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ + मन—इस तरह ११ इन्द्रियाँ होती हैं)। तामस अहंकार से पञ्च तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। राजस अहंकार सात्त्विक और तामस, दोनों अहंकारों का सहायक होता है और उन्हें वह शक्ति प्रदान करता है जिससे सात्त्विक और तामस विकार उत्पन्न होते हैं।

अहंकार से सृष्टि का उपर्युक्त क्रम सांख्यकारिका में दिया हुआ है, जिसे वाचस्पति मिश्र भी स्वीकार करते हैं। ❀ किन्तु

❀ देखिये, कारिका और कौमुदी, २५

विज्ञानभिक्षु * दूसरा ही क्रम बतलाते हैं। उनके अनुसार मन ही एकमात्र इन्द्रिय है जो सत्त्वगुण-प्रधान है और अतः सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न है। शेष दसो इन्द्रियाँ राजस अहंकार के परिणाम हैं और पञ्च तन्मात्र तामस अहंकार के। वेदान्त का मत वैसा ही है जैसा वाचस्पति मिश्र का।

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ

पंच ज्ञानेन्द्रियाँ या बुद्धीन्द्रियाँ ये हैं—नेत्रेन्द्रिय (आँख) श्रवणेन्द्रिय (कान) घ्राणेन्द्रिय (नाक) रसनेन्द्रिय (जीभ) और त्वचेन्द्रिय (चमड़ा)। इनसे क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श—इन विषयों का ज्ञान होता है। ये सब अहंकार के परिणाम हैं और पुरुष के निमित्त उत्पन्न होते हैं।

कर्मेन्द्रियाँ

पुरुष की विषयभोगेच्छा ही विषयों और इन्द्रियों की उत्पत्ति का कारण है। कर्मेन्द्रियाँ इन अंगों में अवस्थित हैं— मुख, हाथ, पैर, मलद्वार और जननेन्द्रिय। इनसे क्रमशः ये कार्य सम्पादित होते हैं— वाक् (बोलना), ग्रहण (किसी वस्तु को पकड़ना), गमन (जाना), मलनिःसारण (मल बाहर करना) और जनन (सन्तान उत्पन्न करना)। इन्द्रियों के जो वाह्य प्रत्यक्ष चिह्न हैं, जैसे आँख की पुतली, कान का छेद, वे वास्तविक इन्द्रियाँ नहीं हैं। इन्द्रियाँ वस्तुतः अप्रत्यक्ष शक्तियाँ है जो इन प्रत्यक्ष अवयवों में रहती और विषयों का ग्रहण करती हैं। अतएव इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान की वस्तु है †।

मन

मन आभ्यन्तरिक इन्द्रिय है जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का साथ देता है। मन ही उन्हें अपने-अपने विषयों में प्रेरित करता है। मन बहुत ही सूक्ष्म इन्द्रिय है, परन्तु वह सावयव है, अतः एक ही साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों

---

* देखिये, प्रवचन भाष्य २। १८

† देखिये, सांख्यसूत्र २।२३, कारिका और कौमुदी २६, २८।

के साथ संयुक्त हो सकता है। मन, अहंकार और बुद्धि, ये तीनों अन्तःकरण हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ वाह्य करण हैं। प्राण की क्रिया अन्तःकरण से प्रवर्त्तित होती है। अन्तःकरण वाह्येन्द्रियों से प्रभावित होता है। मन वाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत निर्विकल्प प्रत्यक्ष का रूप निर्धारित कर उसे सविकल्प प्रत्यक्ष के रूप में परिणत करता है। अहंकार प्रत्यक्ष विषयों पर अपना स्वत्व जमाता है अर्थात् पुरुष की उद्देश्य-पूर्त्ति के अनुकूल विषयों से राग और प्रतिकूल विषयों से द्वेष रखता है। बुद्धि इन विषयों का ग्रहण या त्याग करने का निश्चय करती है। तीन आभ्यन्तरिक और दस वाह्य इन्द्रियाँ, ये मिलकर 'त्रयोदश करण' (तेरह साधन) कहलाते हैं। वाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध केवल वर्त्तमान विषयों से होता है, किन्तु आभ्यन्तरिक इन्द्रियों का सम्बन्ध भूत, भविष्य और वर्त्तमान, तीनों विषयों से होता है। ❀

मतान्तर

मन और इन्द्रियों के सम्बन्ध में अन्य दर्शनों का सांख्य से मतभेद है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मन एक नित्य परमाणु-रूप पदार्थ है जिसके अवयव नहीं होते और इसलिये एक ही समय भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता। इसलिये हमें एक ही समय में अनेक ज्ञान, इच्छाएँ और संकल्प नहीं हो सकते। सांख्यमतानुसार मन न तो परमाणुरूप है, न नित्य पदार्थ है। वह प्रकृति का एक कार्यद्रव्य है, अतः उसकी काल-विशेष में उत्पत्ति भी होती है और नाश भी। इस मत के अनुसार हमें एक ही क्षण में नाना ज्ञान, इच्छाएँ और संकल्प हो सकते हैं, यद्यपि साधारणतः वे पूर्वापर क्रम से चलते हैं। न्याय-वैशेषिक केवल मन और पाँच ज्ञानेन्द्रियों को 'इन्द्रिय' मानता है और ज्ञानेन्द्रियों को महाभूतों से उत्पन्न समझता है। सांख्य ग्यारह इन्द्रियाँ मानता है (१ मन + ५ ज्ञानेन्द्रियाँ + ५ कर्मेन्द्रियाँ

❀ देखिये, सांख्यसूत्र, २।२६-३२, २।३८, ५।७१, कारिका और कौमुदी २७, २९-३०, ३२-३३।

=११) और उन सबों को अहंकार से उत्पन्न समझता है। अन्यान्य दर्शन अहंकार को पृथक् तत्त्व नहीं मानते । वेदान्त पंचप्राणों को स्वतंत्र मानता है, सांख्य उन्हें अन्तःकरण का कार्य मानता है। †

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध— इन विषयों के सूक्ष्म तत्त्व 'तन्मात्र' कहलाते हैं। पाँचों विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते । अनुमान ही के द्वारा हमें उनका ज्ञान होता है। हाँ, योगियों को उनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है।

पंच तन्मात्र

पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों का आविर्भाव होता है। वह इस प्रकार से। (१) शब्दतन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है (जिसका गुण शब्द कान से सुना जाता है)। (२) स्पर्श-तन्मात्र और शब्दतन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द और स्पर्श)। (३) रूप-तन्मात्र और स्पर्श-शब्द-तन्मात्रों के योग से तेज या अग्नि की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द, स्पर्श और रूप)। (४) रस-तन्मात्र और शब्द-स्पर्श-रूपतन्मात्रों के योग से जल की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं शब्द, स्पर्श, रूप और रस)। (५) गन्धतन्मात्र और शब्द-स्पर्श-रूप-रस तन्मात्रों के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध — ये पाँचो गुण पाये जाते हैं)। आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, इन पंच महाभूतों के विशेष गुण हैं क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। जिस क्रम में इनके नाम यहाँ दिये गये हैं, उसमें प्रत्येक परवर्त्ती में पूर्ववर्त्ती के गुण भी सम्मिलित हो जाते हैं, क्योंकि उनके तत्त्व एक दूसरे से मिलते हुए आगे बढ़ते हैं। ❀

पंचमहाभूत

---

† देखिये, सांख्यसूत्र २।२०-२२, २।३१-३२, ५:८४. कारिका २४, २६-३०.

❀ देखिये, कारिका और कौमुदी २२.

प्रकृति से लेकर पंच महाभूतों की उत्पत्ति तक जो विकास की धारा चलती है उसके दो रूप होते हैं—(१) प्रत्ययसर्ग या बुद्धिसर्ग और (२) तन्मात्रसर्ग या भौतिक सर्ग। प्रथम अवस्था में बुद्धि, अहंकार और एकादश इन्द्रियों का अविर्भाव होता है। द्वितीय अवस्था में पंच तन्मात्रों, पंचमहाभूतों और उनके विकारों (कार्यद्रव्यों) का प्रादुर्भाव होता है। तन्मात्र (सामान्य व्यक्तियों के लिये) अप्रत्यक्ष और अभोग्य होने के कारण 'अविशेष' (विशेष प्रत्यक्ष धर्मों से रहित) कहलाते हैं। भौतिक तत्त्व और उनके परिणाम विशेष धर्मों से युक्त (अर्थात् सुखद, दुःखद या मोहप्रद) होने के कारण 'विशेष' कहलाते हैं। विशेष या विशिष्ट द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) स्थूल महाभूत (२) स्थूल शरीर (३) सूक्ष्म शरीर (लिंग शरीर)। स्थूल शरीर पंचभूतों से निर्मित है। (कोई कोई स्थूल-शरीर को चार ही भूतों से निर्मित मानते हैं; कुछ लोग एक ही से)। बुद्धि, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्रों के समूह को सूक्ष्म शरीर कहते हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का आधार है, क्योंकि केवल बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियाँ बिना भौतिक आधार के काम नहीं कर सकतीं। वाचस्पति मिश्र स्थूल और सूक्ष्म, ये दो प्रकार के शरीर मानते हैं। किन्तु विज्ञान भिक्षु एक तीसरे प्रकार का शरीर भी मानते हैं, जिसे 'अधिष्ठान शरीर' कहते हैं। जब सूक्ष्म शरीर एक स्थूल शरीर से दूसरे में जाने लगता है, तब वही अधिष्ठान-शरीर इसका अवलम्बन होता है। ❀

विकास के दो रूप

सृष्टि का इतिहास क्या है, मानों चौबीस तत्त्वों का खेल है जो प्रकृति से प्रारम्भ होता है और पंचभूतों से समाप्त होता है। त्रयोदश करण और पंचतन्मात्र बीच की अवस्थाएँ हैं। परन्तु यह खेल सिर्फ अपने ही लिये नहीं होता। इसके दर्शक या साक्षी पुरुष होते हैं जो इसका आनन्द उठाते हैं। संसार न तो परमाणुओं के अन्धाधुन्ध

❀ देखिये, कारिका और कौमुदी ३८-४१, सांख्यसूत्र ३।१-१७, प्रवचन-भाष्य ३।११

संयोग का फल है, न अन्ध कारण-कार्य शक्तियों का निरर्थक परिणाम है। सृष्टि एक विशेष प्रयोजन से होती है। इसका उद्देश्य है नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति का साधन होना। यदि आत्मा सत्य है तो पुण्य-पाप कर्मों और सुख-दुःख के भोग में सामञ्जस्य होना आवश्यक है। यह संसार पुरुष के आध्यात्मिक जीवन की उन्नति का साधन है। यहाँ कुछ विरोधाभास सा जान पड़ता है, क्योंकि संसार तो पुरुष के लिये बंधन-स्वरूप माना जाता है, फिर यह उसकी मुक्ति का साधन कैसे कहा जायगा? इसके उत्तर में सांख्य का कहना है कि प्रकृति का जो सांसारिक विषयों के रूप में विकास होता है उसीसे पुरुषों का अपने अपने धर्माधर्म का सुख-दुःख भोग करना संभव होता है। परन्तु प्राकृतिक विकास का चरम लक्ष्य है पुरुषों की मुक्ति। संसार में धार्मिक आचरण-युक्त जीवन बिताने से ही पुरुष को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है। यह स्वरूप क्या है और इसका ज्ञान कैसे होता है, इसका हम आगे विचार करेंगे। पुरुष के संसर्ग से प्रकृति का विकास कैसे होता है, यह नीचे दिखाया जाता है—

पुरुष — प्रकृति
महत (बुद्धि)
अहंकार
मन | पंचज्ञानेन्द्रिय | पंच कर्मेन्द्रिय | पंच तन्मात्र
पंच तन्मात्र — पंच महाभूत
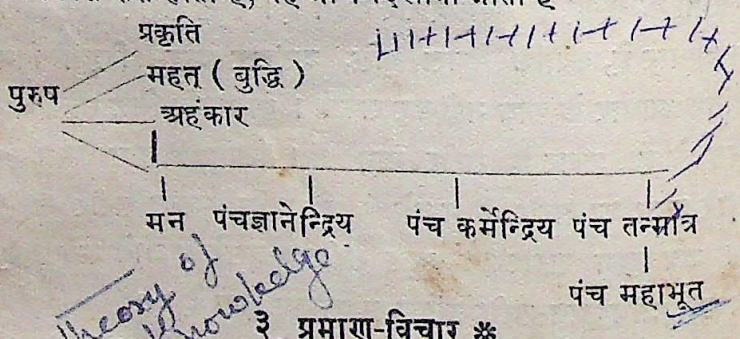
३. प्रमाण-विचार ॐ

सांख्य का ज्ञान-विषयक सिद्धान्त मुख्यतः उसके द्वैतवाद पर अवलम्बित है। सांख्य केवल तीन प्रमाण (यथार्थ ज्ञान के साधन) मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। अन्यान्य प्रमाण, जैसे उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि—

त्रिविध प्रमाण

ॐ देखिये, कारिका और कौमुदी ४-६, प्रवचन भाष्य १.८७-८९, ९९-१०३, ५.२७,३७, ४२-५१ (इस ग्रन्थ के पाँचवें अध्याय में न्याय का प्रमाण-विचार देखिये।)

स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माने गये हैं। इनको इन्हीं तीनों के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर लिया गया है।

किसी विषय के यथार्थ निश्चित ज्ञान (अर्थपरिच्छित्ति) को 'प्रमा' कहते हैं। जब आत्मा का चैतन्य बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है तब ज्ञान का उदय होता है। सांख्य दर्शन में बुद्धि को भी जड़ तत्त्व माना गया है। चैतन्य केवल आत्मा (पुरुष) का धर्म है। किन्तु आत्मा को स्वतः विषयों का साक्षात्कार नहीं होता। यदि ऐसा होता तो हमें सर्वदा सब विषयों का ज्ञान रहता क्योंकि जो आत्मा हममें हैं वह किसी स्थान-विशेष में सीमित नहीं, किन्तु सर्वव्यापी है। आत्मा को बुद्धि मन और इन्द्रियों के सहारे विषयों का ज्ञान होता है। जब इन्द्रियों और मन के व्यापार से विषयों का आकार बुद्धि पर अंकित हो जाता है और बुद्धि पर आत्मा के चैतन्य का प्रकाश पड़ता है, तब हमें उन विषयों का ज्ञान होता है।

प्रमा का स्वरूप

प्रमा (यथार्थ ज्ञान) की उत्पत्ति तीन वस्तुओं पर निर्भर होती है—(१) प्रमाता (जानने वाला पुरुष) (२) प्रमेय (वह विषय जो जाना जाता है) और (३) प्रमाण (वह साधन जिसके द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है)। शुद्ध चेतन पुरुष ही 'प्रमाता' (ज्ञाता) होता है। बुद्धि की वृत्ति को जिसके द्वारा पुरुष को विषय का ज्ञान होता है 'प्रमाण' कहते हैं। इस वृत्ति के द्वारा जिस विषय का ज्ञान पुरुष को होता है उसे 'प्रमेय' कहते हैं। विषयाकारक बुद्धि में आत्मा का प्रकाश पड़ना ही 'प्रमा' (ज्ञान) है। चैतन्य के प्रकाश बिना, जड़ बुद्धि में, किसी विषय का ज्ञान नहीं हो सकता।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण

किसी विषय का इन्द्रिय के साथ संयोग होने से जो साक्षात् ज्ञान होता है वह 'प्रत्यक्ष' कहलाता है। जब कोई विषय, जैसे वृक्ष, दृष्टि-पथ में आता है तब उस वृक्ष का हमारी दर्शनेन्द्रिय (आँख) के साथ संयोग होता है।

प्रत्यक्ष का स्वरूप

उस विषय (वृक्ष) के कारण हमारी नेत्रेन्द्रिय पर विशेष प्रकार का प्रभाव पड़ता है जिसका विश्लेषण और संश्लेषण मन करता है। इन्द्रिय और मन के व्यापार से बुद्धि पर प्रभाव पड़ता है और वह विषय का आकार ग्रहण करती है। परन्तु विषय का आकार धारण करने पर भी बुद्धि को स्वतः उस (विषय) का ज्ञान नहीं होता क्योंकि वह (बुद्धि) जड़ तत्त्व है। परन्तु उसमें (बुद्धि में) सत्त्वगुण का आधिक्य रहता है जिसके कारण वह दर्पण की तरह पुरुष के चैतन्य को प्रतिबिम्बित करती है। पुरुष का चैतन्य उसमें प्रतिबिम्बित होने पर बुद्धि की अचेतन वृत्ति (वृक्षरूपी वृत्ति) उद्भासित हो उठती है और वह प्रकाशित हो प्रत्यक्ष ज्ञान के रूप में परिणत हो जाती है। जिस प्रकार निर्मल दर्पण में दीपक के प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे अन्यान्य वस्तुएँ भी आलोकित हो जाती हैं, उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उससे विषयों का प्रकाश या ज्ञान हो जाता है।

उपर्युक्त प्रतिबिम्बवाद की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। एक वाचस्पति मिश्र का मत है, दूसरा विज्ञानभिक्षु का। ऊपर

प्रतिबिम्बवाद

वाचस्पति मिश्र का मत दिया गया है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि जब विषयाकारक बुद्धि पर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब विषय का ज्ञान होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार प्रत्यक्ष-ज्ञान इस प्रकार होता है—जब कोई विषय इन्द्रिय के सम्पर्क में आता है तब बुद्धि विषय का आकार ग्रहण करती है। तब उसमें (बुद्धिमें) सत्त्वगुण का आधिक्य रहने के कारण चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब उस पर पड़ता है जिससे उसमें भी चैतन्य का आभास हो जाता है (जैसे दीपक में प्रकाश का प्रतिबिम्ब पड़ने से वह स्वयं आलोकित होकर औरों को भी आलोकित करता है)। ततःपर वह विषयाकारक बुद्धि आत्मा में प्रतिबिम्बित होती है। अर्थात् बुद्धि की विषयाकारक वृत्ति के द्वारा आत्मा को विषय का साक्षात्कार होता है। वाचस्पति मिश्र के मत

से बुद्धि में आत्मा प्रतिबिम्बित होता है किन्तु आत्मा में बुद्धि प्रतिबिम्बित नहीं होती। विज्ञानभिक्षु के मत में दोनों का प्रतिबिम्ब एक दूसरे में पड़ता है। योगसूत्र की वेदव्यासी टीका में भी इसी मत का अनुमोदन किया गया है। ✻ विज्ञानभिक्षु आत्मा में बुद्धि का प्रतिबिम्बित होना इसलिये मानते हैं कि इससे आत्मा के सुख-दुःखादि अनुभव की व्याख्या हो जाती है। अन्यथा शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा को जो सभी विकारों से रहित है सुख-दुःख का अनुभव नहीं हो सकता। बुद्धि को ही ये अनुभव हो सकते हैं। इसलिये पुरुषों के प्रत्यक्ष-सिद्ध सुख-दुःखादि अनुभवों के उत्पादन के लिये पारस्परिक प्रतिबिम्बवाद का आश्रय लिया गया है।

निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष दो प्रकार के होते हैं—निर्विकल्प और सविकल्प। जिस क्षण में इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग होता है उस क्षण में जो विषय का आलोचन होता है उसे निर्विकल्प कहते हैं। यह मानसिक विश्लेषण-संश्लेषण से पूर्व की अवस्था है। इसमें केवल विषय की प्रतीति मात्र होती है, विषय की प्रकारता का ज्ञान नहीं होता। यह अनुभव शब्द द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। जैसे शिशु या मूक व्यक्ति अपना अनुभव शब्द द्वारा प्रकट नहीं कर सकता, उसी तरह हम निर्विकल्प प्रत्यक्ष का अनुभव शब्द द्वारा दूसरों को नहीं जना सकते।

दूसरे प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव वह है जिसमें विषय का मन के द्वारा विश्लेषण, संश्लेषण और रूप-निर्धारण होता है। इसे सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं। 'यह विषय इस प्रकार का है,' 'इसमें अमुक गुण हैं', 'इसका अमुक विषय से यह सम्बन्ध है,' इस प्रकार की विवेचना इस प्रत्यक्ष में होती है। किसी विषय का सविकल्प

✻ देखिये, प्रवचनभाष्य १। ६६, व्यासभाष्य ४। २२

प्रत्यक्ष उद्देश्य-विधेय युक्त वाक्य द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे, 'यह गौ है।' 'वह फूल लाल है।' ※

न्यायदर्शन में अनुमान का जो प्रकार-भेद किया गया है, वही कुछ हेर-फेर के साथ सांख्य भी मानता है। अनुमान पहले दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है—वीत और अवीत। जो अनुमान व्यापक विधि-वाक्य (Universal Affirmative Proposition) पर अवलम्बित रहता है वह 'वीत', और जो व्यापक निषेधवाक्य (Universal Negative Proposition) पर अवलम्बित रहता है, वह 'अवीत' कहलाता है।

अनुमान

वीत के दो प्रकार माने गये हैं—पूर्ववत् और सामान्यतोदृष्ट। पूर्ववत् अनुमान वह है जो दो वस्तुओं के बीच दृष्ट व्याप्ति-सम्बन्ध पर अवलम्बित है। जैसे, हम धुआँ देखकर आग का अनुमान करते हैं, क्योंकि धुएँ और आग में नित्य साहचर्य का सम्बन्ध पाया जाता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान उसे कहते हैं जहाँ लिंग और साध्य के बीच व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं देखा गया है किन्तु लिंग की समानता उन वस्तुओं से है जिनका साध्य के साथ नियत सम्बन्ध है। जैसे, हमें इन्द्रियाँ हैं, इस बात को हम कैसे जानते हैं? प्रत्यक्ष के द्वारा तो हम जान नहीं सकते। क्योंकि इन्द्रियाँ अगोचर हैं। आँख सब कुछ देखती है, परन्तु आँख को देखने के लिये हमारे पास कोई इन्द्रिय नहीं है। अंगुली का पोर स्वयं अपना स्पर्श नहीं कर सकता। अतएव इन्द्रियों के अस्तित्व का ज्ञान हमें इस प्रकार अनुमान के द्वारा होता है। "सभी कार्य किसी न किसी साधन के द्वारा सम्पादित होते हैं। जैसे पेड़ काटने के लिये कुल्हाड़ी की जरूरत पड़ती है। किसी

※ निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष के विशेष विवरण के लिये श्री सतीशचन्द्र, चट्टोपाध्याय लिखित 'The Nyaya Theory of Knowledge' (अध्याय ९) देखिये।

रूप या गन्ध का अनुभव भी एक कार्य है। अतः इसके लिये भी कोई साधन या करण (इन्द्रिय) होना चाहिये।" यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि हम इन्द्रियों के अस्तित्व का अनुमान प्रत्यक्ष की क्रिया से इसलिये नहीं करते कि उन दोनों में (प्रत्यक्ष ज्ञान और इन्द्रिय में) व्याप्ति का सम्बन्ध देखा गया है, परन्तु इसलिये करते हैं कि प्रत्यक्ष-ज्ञान एक क्रिया है और प्रत्येक क्रिया के लिये एक साधन की जरूरत पड़ती है।

दूसरे प्रकार का अनुमान है 'अवीत', जिसे कुछ नैयायिक शेषवत् या परिशेष अनुमान कहते हैं। जब सभी विकल्पों को छाँटते-छाँटते अन्त में एक ही शेष बच जाता है, तब वही सत्य प्रमाणित होता है। जैसे, "शब्द द्रव्य, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय या अभाव नहीं हो सकता। अतः यह गुण है।" इस प्रकार का अनुमान अवीत (शेषवत्) कहलाता है। नैयायिकों की तरह सांख्य भी पंचावयव वाक्य को अनुमान का सब से प्रामाणिक स्वरूप मानते हैं ❀।

तीसरा प्रमाण है शब्द। जिस विषय का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं होता उसका ज्ञान आप्तवचन के द्वारा हो जाता है।

शब्द

विश्वस्त वाक्य को आप्तवचन कहते हैं। वाक्य का अर्थ है शब्दों का एक विशेष क्रम से विन्यास। शब्द किसी वस्तु का वाचक होता है। वाच्य विषय ही शब्द का अर्थ है। अर्थात् शब्द वह संकेत है जो किसी वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। वाक्य-बोध होने के लिये शब्द बोध होना आवश्यक है। शब्द दो प्रकार का होता है—लौकिक और वैदिक। साधारण विश्वासपात्र व्यक्तियों के साक्षित्व-वचन को लौकिक शब्द कहते हैं। सांख्य इसे स्वतंत्र प्रमाण की कोटि में नहीं रखता, क्योंकि यह प्रत्यक्ष

❀ इस पुस्तक के न्याय-दर्शन वाले अध्याय में अनुमान का प्रकरण देखिये। विशद विवेचना के लिये श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय का The Nyaya Theory of Knowledge (Book III) देखिये।

और अनुमान पर आश्रित है। श्रुति या वेद का वाक्य ही शब्द-प्रमाण की कोटि में आता है। वैदिक वाक्य हमें उन अगोचर विषयों का ज्ञान कराते हैं जो प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं जाने जा सकते। अपौरुषेय होने के कारण, वेद उन सभी दोषों और त्रुटियों से रहित हैं जो लौकिक वाक्यों में हो सकती हैं। वैदिक वाक्य अभ्रान्त और स्वतः प्रमाण्य हैं। वे द्रष्टा ऋषियों के साक्षात् अनुभव (Intuitions) हैं। ये अनुभव किसी व्यक्ति-विशेष के ज्ञान या इच्छा पर आश्रित नहीं, किन्तु सर्वदेशीय और सर्वकालिक सत्य हैं। इस तरह वेद अपौरुषेय हैं। फिर भी वे नित्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि वे द्रष्टा ऋषियों के दिव्य अनुभवों से उत्पन्न होते हैं और सनातन पठन-पाठन की परम्परा से सुरक्षित रहते हैं।

४. मोक्ष या कैवल्य *

हमारा सांसारिक जीवन सुख-दुःख से भरा हुआ होता है। जीवन में निःसंदेह नाना प्रकार के आनन्द भी हैं, और बहुत से लोग उनका भोग भी करते हैं। परन्तु दुःख-कष्टों की मात्रा और भी कहीं अधिक है और संसार के सभी जीवों को उनका भोग करना पड़ता है। यदि किसी जीव के लिये दुःख-क्लेशों से त्राण पाना संभव भी हो तो जरा (बुढ़ापा) और मृत्यु के चंगुल से छुटकारा पाना उसके लिये असंभव है।

त्रिविध दुःख.

साधारणतः तीन प्रकार के दुःख हैं। आध्यात्मिक, † आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक दुःख उसे कहते हैं जो जीव के अपने शरीर या मन आदि से उत्पन्न होता है। शारीरिक और मानसिक आधि-व्याधियाँ, जैसे रोग

---

* देखिये, कारिका और कौमुदी ४४-६८, सांख्य सूत्र, प्रवचन भाष्य और वृत्ति ३।६५-८४

† आध्यात्मिक शब्द का हिंदी में जो प्रचलित अर्थ है, वह यहाँ लागू नहीं है। यहाँ आत्मा से पुरुष नहीं, किन्तु पुरुष के देह से तात्पर्य है। संस्कृत

क्षुधा, क्रोध, संताप आदि आध्यात्मिक दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख वह है जो बाह्य भौतिक पदार्थ के कारण उत्पन्न होता है। जैसे, काँटा गड़ना, लाठी की चोट, बिच्छू का डंक। आधिदैविक दुःख वह है जो बाह्य अलौकिक कारण से उत्पन्न होता है। जैसे भूतप्रेतादि का उपद्रव।

सभी मनुष्य दुःख से बचना चाहते हैं। बल्कि सबकी यही इच्छा रहती है कि सदा के लिये सब दुःखों का अन्त हो जाय और सर्वदा आनन्द बना रहे। परन्तु ऐसा होने का नहीं। किसी को केवल आनन्द ही आनन्द नहीं मिल सकता। सभी दुःखों से एकबारगी छुटकारा पा जाना असंभव है। जबतक यह नश्वर शरीर है, जबतक ये दुर्बल इन्द्रियाँ हैं, तबतक सभी सुखों का दुःख-मिश्रित होना अथवा क्षणिक होना अवश्यंभावी है। इसलिये हमें चाहिये कि सुखवाद (Hedonism) का आदर्श (आनन्द-भोग) परित्याग कर उससे कम आकर्षक परन्तु अधिक युक्तिसंगत ध्येय, दुखों की निवृत्ति, से ही सन्तोष करें। यही दुःखों की अत्यन्त-निवृत्ति —सभी दुःखों का सर्वदा के लिये निवारण जिससे किसी दुःख की कभी पुनरावृत्ति नहीं हो सके—'मुक्ति' 'अपवर्ग' या 'पुरुषार्थ' कहलाती है।

दुःख का कारण

सभी दुःख-क्लेशों से मुक्ति पाने का मार्ग क्या है? मानव-बुद्धि के द्वारा जितने कला-विज्ञानों का विकास हुआ है और उनसे जीवन की जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं वे क्षणिक आनन्द देनेवाली अथवा दुःख की कुछ ही काल तक निवारण करनेवाली होती हैं। उनसे समस्त शारीरिक मानसिक

में आत्मा शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, जिनमें एक अर्थ देह भी है। यथा—आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि। देह का अर्थ भी स्थूल और सूक्ष्म दोनों है। सूक्ष्म देह पंच तन्मात्र, एकादश इन्द्रिय, बुद्धि और अहंकार से निर्मित है। स्थूल और सूक्ष्म देह से उत्पन्न दुःख को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं।

कष्टों का सर्वदा के लिये अन्त नहीं हो जाता। भारतीय दर्शनकार इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सबसे उत्तम उपाय ढूँढ़ निकालते हैं। वह है तत्त्वज्ञान। हमारे सभी दुःख अज्ञान के कारण होते हैं। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में हम देखते हैं कि अज्ञानी या मूर्ख व्यक्ति बारंबार इसलिये दुख पाता है कि वह जीवन और प्रकृति के नियमों से अनभिज्ञ रहता है।

जितना ही अपने विषय में अथवा इस संसार के विषय में हमें ज्ञान होता है उतना ही जीवन-संग्राम और सुख-भोग के लिये हम में अधिक योग्यता आती है। परन्तु तथापि हम कभी पूर्णतः सुखी या कम से कम दुःखों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते। इसका कारण है कि हमें पूर्ण तत्त्व का ज्ञान नहीं रहता। जब हमें यथार्थ तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब हम सभी दुखों से मुक्ति पा जाते हैं।

सांख्य-दर्शन के अनुसार दो ही प्रकार की वास्तविक सत्ताएँ हैं। एक चेतन पुरुष और उसके विषय-भूत जड़ पदार्थ। पुरुष शुद्ध

पुरुष

चैतन्य-स्वरूप है जो देश, काल और कारण के बन्धनों से रहित है। वह निर्गुण और निष्क्रिय होता है। वह द्रष्टा या ज्ञाता मात्र है जो बुद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रिय, शरीर आदि समस्त विषयों के संसार से परे है। जितनी भी क्रियाएँ या परिवर्तन होते हैं, जितने भी भाव या विचार उठते हैं, जितने भी सुख-दुःख होते हैं, वे सब मन-युक्त शरीर में। पुरुष या आत्मा इस मन-युक्त शरीर से बिल्कुल पृथक् है। यह सभी शारीरिक मानसिक विकारों से निर्लिप्त रहता है। सुख-दुःख इसे व्याप्त नहीं होते। वे मन के अनुभव हैं। सुखी या दुःखी होनेवाला मन है; आत्मा नहीं। इसी तरह पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म, आदि अहंकार के गुण हैं जो सभी कार्यों का प्रवर्त्तक या कर्त्ता है। ❀ यही सत्कर्म या असत् कर्म की ओर प्रवृत्त होता है और कर्मानुसार सुख-दुःख का भोग करता है। आत्मा

❀ देखिये, सांख्यसूत्र और वृत्ति ६। २५-२६

या पुरुष इस अहंकार से भिन्न है। इस प्रकार आत्मा या पुरुष सांसारिक विषयों से परे, शुद्ध चैतन्य या ज्ञान, नित्य, अविनाशी और मुक्त है। यह नित्य एकरस ज्ञान-स्वरूप होता है। परिवर्तन-शील मनोविकार मन के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। आत्मा शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का केवल साक्षी मात्र है। यह दोनों से भिन्न है। यह दैशिक, कालिक बन्धनों और, कारण-कार्य-शृंखला से भी मुक्त है। यह नित्य या अमर है, क्योंकि इसकी न तो उत्पत्ति ही होती है और न कभी विनाश ही हो सकता है। ❀

सुख और दुःख वस्तुतः बुद्धि या मन को होते हैं। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि वह इन सबों से मुक्त रहता है। किन्तु अज्ञान के

अज्ञान या अविवेक

कारण वह बुद्धि या मन से अपना पार्थक्य नहीं समझता और उन्हें अपना ही अंग समझने लगता है। यहाँ तक कि यह अपने ही को शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि समझने लग जता है। दूसरे शब्दों में, यह कहिये कि यह विशिष्ट बुद्धि-स्वभावयुक्त विशिष्ट नाम-रूप-धारी व्यक्ति बन जाता है। इस तरह आत्मा, शारीरिक सामाजिक आदि रूपों में प्रतीत होता है †। सांख्य मत के अनुसार ये अनात्मविषय (आत्मा से भिन्न पदार्थ) हैं जो आत्मा के चैतन्य से उद्भासित होते और उसमें (आत्मा में) अपने विकार या भाव आरोपित करते हैं।

बुद्धि में सुख या दुःख का आविर्भाव होने पर आत्मा को ऐसा भान होता है कि उसे ही सुख या दुःख हो रहा है (क्योंकि वह बुद्धि से अपने को अभिन्न समझता है।) उसी तरह, जैसे प्रिय सन्तान के सुखी या दुःखी होने पर पिता अपने ही को सुखी या दुःखी समझता है अथवा अपने सेवक के अपमान से स्वामी अपना अपमान

❀ देखिये, प्रवचनभाष्य १। १४६-४८

† आत्मविषयक विभिन्न धारणाओं के लिये James के Principles of Psychology (vol I, chap X) और Ward के Psychological Principles, Chap XV) देखिये।

समझता है। यही अविवेक (आत्मा का शरीर से पार्थक्य-ज्ञान का अभाव) सारे अनर्थों की जड़ है। हम सुख-दुःख इसलिये भोगते हैं कि द्रष्टा (पुरुष) अपने को दृश्य (प्रकृति) समझ लेता है और इस तरह सुख-दुःख का आधार अपने को मानने लगता है ॐ।

विवेकज्ञान

आत्मा और अनात्म-विषय में भेद के ज्ञान का अभाव अर्थात् अविवेक ही समस्त दुःखों का मूलकारण है। इस भेद के ज्ञान अर्थात् विवेकज्ञान से ही दुःखों की निवृत्ति या मोक्ष संभव है †। परन्तु केवल इस बात को मन में समझ लेना तत्त्व-ज्ञान नहीं कहलाता। इस सत्य की साक्षात् अनुभूति होनी चाहिये कि 'मैं' आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। एक बार जब इस सत्य का साक्षात्कार हो जाता है कि हममें जो आत्मा है वह अनादि और अमर है, नित्य अविनाशी चैतन्य या ज्ञाता स्वरूप है, तब हम सभी क्लेशों से मुक्त हो जाते हैं। यह जो भ्रम है कि यह शरीर या मन ही 'मैं' हूँ इसे दूर करने के लिये सत्य का साक्षात् अनुभव होना जरूरी है। मैं अपने को एक विशिष्ट मन-युक्त देह समझ रहा हूँ। इसमें मुझे कोई संदेह नहीं होता। यह प्रत्यक्ष-सिद्ध जान पड़ता है। इसी तरह, 'मैं' यह देह (मन, इन्द्रिय आदि से युक्त) नहीं हूँ, यह ज्ञान भी उतना ही प्रत्यक्ष और निःसंदेह होना चाहिये। तभी वह भ्रम दूर हो सकता है। रस्सी में साँप का जो भ्रम होता है, वह किसी युक्ति या उपदेश से दूर नहीं होता। रस्सी का यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान ही उसे काट सकता है। आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत बड़ी साधना की आवश्यकता है। उसके लिये इस सत्य का निरन्तर मनन और निदिध्यासन चाहिये कि यह आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि नहीं है ‡। इस साधना का

ॐ देखिये, कारिका, कौमुदी, ६२, प्रवचन और वृत्ति ३.७२

† देखिये, कारिका और कौमुदी, ४४, ६३, सांख्य सूत्र और वृत्ति ३।२३-२४

‡ देखिये सांख्य-सूत्र और वृत्ति ३ ६६,७५, कारिका और कौमुदी ६४

क्या रूप है और कैसे अभ्यास करना चाहिये, इसकी विवेचना योग-दर्शन में की जायगी।

जब आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है तब उसमें कोई विकार नही आता, न उसमें किसी नवीन गुण या धर्म का आविर्भाव होता है।

मुक्ति का स्वरूप

मोक्ष या कैवल्य का अर्थ किसी अपूर्ण अवस्था से पूर्ण अवस्था पर पहुँचना नहीं है। इसी तरह, अमरत्व या नित्यत्व को सामयिक घटना समझना भूल है। यदि यह विशेष घटना होती तो देश, काल और कारण-कार्य की शृंखला में बँधी होती और तब आत्मा न मुक्त ही कहा जा सकता न नित्य ही। मुक्ति या मोक्ष का अर्थ है इस तत्त्व का साक्षात्कार कि आत्मा देश काल से परे, शरीर और मन से भिन्न और स्वभावतः मुक्त, नित्य और अमर है। * जब ऐसी अनुभूति होती है तब आत्मा का शरीर या मन के विकारों से प्रभावित होना बंद हो जाता है और वह केवल उनका साक्षी रूप होकर रहता है।

जिस प्रकार नर्त्तकी (नाच करनेवाली) दर्शकों को अपना नृत्य दिखलाकर और उन्हें सन्तुष्ट कर अपने नृत्य से विरत होती है, उसी तरह प्रकृति अपने भिन्न-भिन्न रूप पुरुष को दिखलाकर सृष्टि-कार्य से विरत होती है †। प्रत्येक पुरुष के लिये

जीवन्मुक्ति और बिदेह-मुक्ति

इसी जीवन में अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान और उसके द्वारा मुक्ति पाना संभव है। ऐसी मुक्ति को जीवन्मुक्ति कहते हैं। मृत्यु के अनन्तर जो मुक्ति होती है उसे विदेह-मुक्ति कहते हैं। इस अवस्था में स्थूल, सूक्ष्म, सभी शरीरों से सम्बन्ध छूट जाता है और पूर्ण कैवल्य प्राप्त हो जाता है ‡। विज्ञानभिक्षु का मत है कि विदेह-मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है, × क्योंकि जब तक आत्मा शरीर में अवस्थित रहता है, तबतक शारीरिक और मानसिक विकारों

* देखिये, सांख्य सूत्र और वृत्ति ५.७४-८३, सांख्य-सूत्र १।५६, ६।२०

† देखिये, कारिका और कौमुदी ५९, ६२-६६

‡ देखिये, कारिका और कौमुदी ६७-६८, सांख्य सूत्र और वृत्ति ३।७८-८४

× देखिये प्रवचनभाष्य ३।७६-८४, ५।११६

से उसका सम्बन्ध पूर्णतः छिन्न नहीं हो सकता। इस बात में सभी सांख्यों का एक मत है कि मुक्ति का अर्थ है दुःखत्रयाभिघात अर्थात् तीनों प्रकार के दुःखों का समूल नाश। वेदान्त मोक्ष की अवस्था को आनन्दमय मानता है। सांख्य इस बात को स्वीकार नहीं करता। जहाँ कोई दुःख नहीं है, वहाँ कोई सुख भी नहीं हो सकता क्योंकि वे दोनों सापेक्ष और अविच्छेद्य हैं।

५. ईश्वर ❀

ईश्वर को लेकर सांख्य के टीकाकारों में काफी वादविवाद है। उनमें कुछ तो ईश्वरवाद का स्पष्टतः खण्डन करते हैं और कुछ यह दिखलाने की चेष्टा करते हैं कि सांख्य न्याय से कम आस्तिक नहीं है। सनातन सांख्यमतावलम्बी ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं—(१) यह संसार कार्यशृंखला है, अतएव इसका कारण होना चाहिये, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं, परन्तु वह कारण ईश्वर नहीं हो सकता। क्योंकि ईश्वर को नित्य निर्विकार (अपरिणामी) परमात्मा माना गया है और जो परिणामी (परिवर्तनशील) नहीं है वह किसी वस्तु का निमित्त कारण नहीं हो सकता (अर्थात् किसी क्रिया का प्रवर्तक नहीं हो सकता) अतएव यह सिद्धान्त निकलता है कि जगत् का मूल कारण नित्य किन्तु परिणामी (परिवर्तनशील) है। यही नित्य परिणामी कारण प्रकृति है। (२) यहाँ कहा जा सकता है कि प्रकृति तो जड़ है। इसकी गति को निरूपित और नियमित करने के लिये चेतन सत्ता आवश्यक है जो सृष्टि उत्पन्न करती है। जीवात्माओं का ज्ञान सीमित रहता है, इसलिये वे जगत् के सूक्ष्म उपादान कारण को नियन्त्रित नहीं कर सकते। अतएव एक

ईश्वरवाद पर मतभेद

❀ देखिये, कारिका और कौमुदी ५६-५७; सांख्यसूत्र, वृत्ति प्रवचन १। ९२-९९, ३। ५६-५७, ५। २-१२। इस सम्बन्ध में गौड़पाद का सांख्यकारिका-भाष्य और A. K. Majumdar का The Sankhya Conception of Personality (Chap I & II) भी द्रष्टव्य है।

अनन्तबुद्धियुक्त चेतन सत्ता होनी चाहिये जो प्रकृति का संचालन कर सके। इसी का नाम ईश्वर है। परन्तु ऐसा तर्क समीचीन नहीं है। ईश्वर-वादियों के मत में ईश्वर कुछ करता-धरता नहीं, वह किसी क्रिया में प्रवृत्त नहीं होता। परन्तु प्रकृति का संचालन या नियमन करना तो एक क्रिया है। मान लीजिये, ईश्वर प्रकृति का नियामक है। तब प्रश्न उठता है—ईश्वर प्रकृति के संचालन द्वारा सृष्टि-रचना में क्यों प्रवृत्त होता है? उसका कोई अपना उद्देश्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण परमात्मा में कोई अपूर्ण इच्छा या अतृप्त मनोरथ रहना असंभव है। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर का प्रयोजन अन्य जीवों की उद्देश्य-पूर्ति है तो शंका उठती है कि बिना अपने किसी स्वार्थ के कोई भी व्यक्ति दूसरे की उद्देश्य-सिद्धि के लिये तत्पर नहीं होता। और वास्तव में देखा जाय तो यह संसार इतने पापों और कष्टों से भरा है कि यह कहना असंगत प्रतीत होता है कि ईश्वर ने जीवों के हित-साधनार्थ इस सृष्टि की रचना की है। (३) यदि ईश्वर में विश्वास किया जाय तो जीवों का स्वातंत्र्य और अमरत्व बाधित (खंडित) हो जाता है। यदि जीवों को ईश्वर का अंश माना जाय तो उनमें भी ईश्वरीय शक्ति रहनी चाहिये जो बात देखने में नहीं आती। इसके विपरीत यदि उन्हें ईश्वर के द्वारा सृष्ट (उत्पन्न) मानते हैं तो फिर उनका नश्वर होना सिद्ध होता है।

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि ईश्वर नहीं है और प्रकृति ही संसार का मूल कारण है। प्रकृति अज्ञात रूप से स्वभावतः पुरुषों के कल्याणार्थ उसी तरह सृष्टि-रचना करती है, जिस तरह बछड़े की सृष्टि के निमित्त गाय के थन से स्वतः दूध की धारा बहती है।

सांख्य के कुछ टीकाकार ऐसे भी हैं जो सांख्य को ईश्वरवादी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। इनमें विज्ञानभिक्षु सब से प्रमुख

ईश्वरवादी सांख्य

हैं। कुछ आधुनिक सांख्यमतानुयायी भी इसी मत का समर्थन करते हैं। इन लोगों का कहना है कि सृष्टि-क्रिया के प्रवर्तक रूप में तो ईश्वर को स्वीकार नहीं किया

जा सकता, किन्तु तथापि हमें ऐसे ईश्वर को मानना आवश्यक है जिनकी सन्निधि (समीपता) से ही प्रकृति की क्रियाशक्ति प्रवर्तित हो जाती है, जिस प्रकार चुम्बक के समीप लोहे में गति आ जाती है। ऐसा ईश्वर अपने में पूर्ण और नित्य साक्षी-स्वरूप है। विज्ञान-भिक्षु के मतानुसार ऐसे ईश्वर की सिद्धि युक्ति और शास्त्र दोनों से होती है। सांख्य की यह ईश्वरवादी व्याख्या अधिक प्रचलित नहीं है। ❀

६. उपसंहार

सांख्यदर्शन वस्तुवाद (Realism) और द्वैतवाद (Dualism) का प्रतिपादन करता है। यह प्रकृति और पुरुष—इन दो तत्त्वों के सहारे जगत् का उपपादन करता है। सारा संसार इन्हीं दो का खेल है। एक तरफ प्रकृति है जो भौतिक संसार (अर्थात् विषय, इन्द्रिय, शरीर, मन, बुद्धि, अहंकार इन सबके समूह) का मूल कारण है। यह प्रकृति संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी। यह सक्रिय और निरन्तर परिवर्तन-शील होती है। परन्तु साथ ही यह अचेतन या जड़ है। इस तरह के जड़ अन्य तत्त्व से नियन्त्रित शृंखलापूर्ण जगत् का विकास कैसे होता है ? वह निश्चित ध्येय की तरफ कैसे बढ़ता है ? जब आदि में प्रकृति साम्यावस्था में थी तब फिर पहले-पहल उसमें विकार या क्षोभ क्यों उत्पन्न हुआ ? इसके निमित्त सांख्य दूसरे तत्त्व का आश्रय लेता है, पुरुष या आत्मा। पुरुष शुद्ध चैतन्य-रूप आत्मा है जो नित्य और अविकारी है। वह चेतन होता है परन्तु साथ ही निष्क्रिय और अपरिणामी (अर्थात् उसमें कोई क्रिया या विकार नहीं आता)। इन्हीं चेतन पुरुषों के सम्पर्क से जड़ प्रकृति संसार की सृष्टि करती है। सांख्य का कहना है कि पुरुष की सन्निधि या सामीप्य मात्र से प्रकृति में क्रिया का प्रवर्तन हो जाता है। परन्तु

❀ देखिये, प्रवचन भाष्य और A. K. Majumdar का The Sankhya Conception of Personality,

पुरुष स्वयं निर्विकार रहता है। इसी तरह पुरुष (चैतन्य) का प्रतिबिम्ब जड़ बुद्धि पर पड़ने से उसमें ज्ञानादिक क्रियाओं का आविर्भाव हो जाता है। परन्तु पुरुष की केवल सन्निधि मात्र से प्रकृति में क्यों विकार होने लगते हैं और पुरुष में क्यों नहीं विकार होता, इसका स्पष्ट समाधान नहीं मिलता। फिर यह भी प्रश्न उठता है कि चैतन्य निराकार होता है, फिर निराकार चैतन्य का प्रतिबिम्ब साकार बुद्धि पर कैसे पड़ता है ? बुद्धि तो जड़ तत्त्व है, फिर उसमें ज्ञान का उदय कैसे हो जाता है ? इन बातों को समझाने के लिये सांख्य में जो दृष्टान्त दिये गये हैं उनसे पूरा समाधान नहीं होता। फिर एक शंका यह भी है कि जीवों के गुण, क्रिया, जन्म, मरण, और आकृति-प्रकृति के भेद से पुरुषों का अनेकत्व सिद्ध किया जाता है। परन्तु ये सब तो शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं। जो विभेद देखने में आते हैं वे प्रकृति के हैं, शुद्ध चैतन्य-स्वरूप पुरुष के नहीं। फिर उनके बल पर बहु-पुरुषवाद की स्थापना कैसे की जा सकती है ? व्यावहारिक जगत् में हम जिन्हें भिन्न-भिन्न पुरुष समझते हैं वे भिन्न-भिन्न अहंकार मात्र कहे जा सकते हैं। विवेचनात्मक दृष्टि से सांख्य दर्शन में ऐसे कई शंका-स्थल हैं जिनका ठोस समाधान नहीं मिलता। फिर भी सांख्य दर्शन का महत्त्व कम नहीं समझना चाहिये। आत्मोन्नति और मुक्ति के साधन-रूप में इसका बहुत ही अधिक मूल्य है। दुःखों से निवृत्ति पाने के लिये यह दर्शन उतना ही मूल्यवान् है, जितना कोई भी आस्तिक दर्शन। यह साधक को जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष—का मार्ग दिखलाता है।

८

योग दर्शन

१. विषय-प्रवेश

जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के जिज्ञासु हैं उनके लिये महर्षि पतञ्जलि का योग-दर्शन एक अमूल्य निधि है। जो शरीर, इन्द्रिय, मन के समस्त बन्धनों से रहित, शुद्ध आत्मा के दर्शन करना चाहते हैं उनके लिये योग एक महान साधन है*। महर्षि पतञ्जलि के नाम पर यह पातञ्जल दर्शन भी कहलाता है। *पातञ्जल सूत्र* या *योगसूत्र* ही इस दर्शन का मूल ग्रन्थ है। *योगसूत्र* पर व्यासकृत प्रसिद्ध भाष्य है जो *व्यासभाष्य* या *योगभाष्य* कहलाता है। व्यास के भाष्य पर वाचस्पति मिश्र की प्रामाणिक टीका *तत्त्ववैशारदी* है। भोजराज की वृत्ति और *योगमणिप्रभा* योग-विषयक सुबोध और प्रचलित पुस्तकें हैं। विज्ञान-भिक्षु का *योगवार्तिक* और *योगसारसंग्रह* भी योग-दर्शन के उपयोगी ग्रन्थ हैं।

योग-दर्शनकार पतंजलि

योग का साहित्य

पातञ्जल सूत्र चार पादों में विभक्त है। प्रथम पाद 'समाधि-पाद' कहलाता है। इसमें योग के स्वरूप, उद्देश्य और लक्षण, चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय तथा भिन्न-भिन्न प्रकार के योगों की विवेचना की गई है।

योगसूत्र का विषय

---

* इसी योगदर्शन को ध्यान में रखते हुए Miss G. Coster लिखती हैं—'आध्यात्मिक गवेषणा के लिये एक नये समाज की स्थापना की जरूरत है........जिससे साधारण जनता को मालूम हो जाय कि अतीन्द्रिय अनुभव वस्तुतः संभव (या असंभव) है।'' (Yoga and Western Psychology, Page 246).

दूसरा पाद 'साधना-पाद' कहलाता है। इसमें क्रिया-योग, क्लेश,❀ कर्मफल और उनका दुःखात्मक स्वभाव, दुःखादि चतुष्टय (दुःख, दुःख का निदान, दुःख की निवृत्ति और दुःख-निवृत्ति का उपाय) आदि विषयों का वर्णन है। तीसरा पाद 'विभूति-पाद' कहलाता है। इसमें योग की अन्तरङ्ग अवस्थाओं तथा योगाभ्यास जनित सिद्धियों का वर्णन है। चौथा पाद है 'कैवल्य-पाद'। इसमें मुख्यतः कैवल्य या मुक्ति के स्वरूप की विवेचना की गई है। (प्रसंगानुसार आत्मा, परलोक आदि विषयों का भी वर्णन है।)

सांख्य और योग में घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच पूछिये तो सांख्य के सिद्धान्त का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग ही योग है। ज्ञान के विषय में सांख्य का जो विचार है उसे योग भी मानता है। सांख्योक्त त्रिविध प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, योग को भी मान्य है। वह सांख्य के पचीस तत्त्वों को भी स्वीकार करता है। परन्तु उनमें एक और जोड़ देता है—ईश्वर। सांख्य मत के अनुसार विवेक-ज्ञान ही मुक्ति का साधन है। योग इस बात को मानता हुआ बतलाता है कि योगाभ्यास ही विवेक-ज्ञान का साधन है।

सांख्य और योग का सम्बन्ध

आत्मोन्नति के साधन रूप में योग की महत्ता को प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने स्वीकार किया है। यहां तक कि वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण—सभी में योगाभ्यास की चर्चा है †। जब तक मनुष्य का चित्त या अन्तःकरण निर्मल और स्थिर नहीं होता तब तक उसे धर्म या दर्शन के तथ्य का

योग का महत्त्व

❀ क्लिश् धातु का व्यवहार सामान्यतः अकर्मक क्रिया के रूप में (क्लिश्यति = दुःख पाता है) होता है। इस तरह क्लेश का अर्थ होता है दुःख या कष्ट। परन्तु कभी-कभी क्लिश् धातु का सकर्मक रूप में भी व्यवहार होता है (जैसे क्लिश्नाति = क्लेश पहुंचाता है)। इस प्रसंग में क्लेश शब्द का व्यवहार इसी अर्थ के अनुकूल जान पड़ता है। देखिये, व्यास-भाष्य १।५ (क्लिष्ट = क्लेशहेतुक)।

† देखिये, कठोपनिषद् ६।११, ६।१८; श्वेताश्वतर २।८, २।११

सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता। शुद्ध हृदय और शान्त मन से ही हम इन गूढ़ सत्यों को पा सकते हैं। आत्मशुद्धि के लिये योग ही सर्वोत्तम साधन है। इससे शरीर और मन की शुद्धि हो जाती है। इसीलिये सभी भारतीय दर्शन (केवल चार्वाक को छोड़कर) अपने-अपने सिद्धान्तों को यौगिक रीति से ध्यान धारणा आदि के द्वारा स्पष्ट अनुभव करने के लिये प्रयत्न करते हैं।

योग-मार्ग

पातञ्जल दर्शन में योग के स्वरूप और उसके भिन्न-भिन्न प्रकारों की सूक्ष्म आलोचना की गई है। योगाभ्यास के विविध अंगों और उनसे सम्बद्ध अन्यान्य आवश्यक विषयों पर भी गहरा विचार किया गया है। सांख्य (तथा कतिपय अन्यान्य भारतीय दर्शन) की तरह योग का भी यही सिद्धान्त है कि विवेकज्ञान (अर्थात् शरीर मन, इन्द्रिय आदि से आत्मा भिन्न है ऐसा ज्ञान) से ही मुक्ति पाना संभव है। परन्तु यह ज्ञान तभी हो सकता है जब हम शारीरिक और मानसिक वृत्तियों का दमन करते हुए अर्थात् क्रमशः शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार पर विजय प्राप्त करते हुए शुद्ध आत्मा या पुरुष के यथार्थ स्वरूप को पहचानें। तब हमें यह ज्ञान हो जायगा कि शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, और सुख-दुःख के भोक्ता अहंकार—इन सबसे आत्मा पृथक् है। यह देश-काल और कारण के बन्धनों से परे है। यह आत्मा मुक्त और शाश्वत है। पाप, दुःख, रोग, मृत्यु—इन सबों से ऊपर है। यही अनुभव आत्मज्ञान है। इसी आत्मज्ञान या विवेकज्ञान से मुक्ति अर्थात् सकल दुःखों की निवृत्ति होती है। आत्मज्ञान के साधक के लिये योगदर्शन व्यावहारिक मार्ग बतलाता है। सांख्य का अधिक जोर इस सिद्धान्त पर है कि विवेकज्ञान मुक्ति का साधन है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये वह अध्ययन, मनन और निदिध्यासन का भी निर्देश करता है*। परन्तु योग मुख्यतः व्यावहारिक पहलू पर जोर देता है अर्थात् मुक्ति या

---

* देखिये कारिका और कौमुदी, ६४

आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये किन उपायों का अवलम्बन किया जाय (किस प्रकार से आत्मशुद्धि और समाधि का अभ्यास किया जाय)। योग के आचार-वाले प्रकरण में इन बातों का वर्णन किया जायगा। इसके पूर्व हम यह देखें कि योग के अनुसार आत्मा का क्या स्वरूप है, मन का क्या कार्य है और शरीर, मन, आत्मा का परस्पर क्या सम्बन्ध है।

२. योग का मनोविज्ञान

सांख्य-योग के अनुसार, जीव स्वतंत्र पुरुष है जो स्थूल शरीर से और विशेषतः सूक्ष्म शरीर (इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार) से सम्बद्ध है। जीव स्वभावतः शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। यह वस्तुतः शारीरिक बन्धनों और मानसिक विकारों से मुक्त रहता है। परन्तु अज्ञान के कारण यह चित्त के साथ अपना तादात्म्य कल्पित कर लेता है (अर्थात् भ्रमवश अपने को 'चित्त' समझने लगता है)। चित्त प्रकृति का प्रथम विकार है जिसमें रजोगुण और तमोगुण के ऊपर सत्त्वगुण की प्रबलता रहती है। चित्त स्वभावतः जड़ है, परन्तु आत्मा के निकटतम सम्पर्क में रहने के कारण वह आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो उठता है। निर्मल होने के कारण उस पर आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है जिससे उसमें चैतन्य का आभास आ जाता है। जब चित्त का किसी विषय से सम्पर्क होता है तब वह उसी विषय का आकार धारण कर लेता है। इन्हीं विषयों के अनुरूप चित्त-विकारों के द्वारा आत्मा को विषयों का ज्ञान होता है। यद्यपि आत्मा में स्वतः कोई विकार या परिणाम नहीं होता, तथापि परिवर्त्तनशील चित्तवृत्तियों में प्रतिबिम्बित होने के कारण इसमें परिवर्त्तन का आभास होता है, जैसे नदी के हिलकोरों में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा हिलता हुआ जान पड़ता है ❀।

जीव का स्वरूप

❀ देखिये. योगसूत्र और वृत्ति १।४ (इस पुस्तक में 'सांख्य-दर्शन' अध्याय का सृष्टि वाला प्रकरण भी देखिये।)

चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं—(१) प्रमाण (सत्य-ज्ञान) (२) विपर्यय (मिथ्या-ज्ञान), (३) विकल्प (कल्पना) (४) निद्रा (नींद) और (५) स्मृति (स्मरण)। प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। इनके विषय में सांख्य का जो मत है वही मोटामोटी योग का भी है।

चित्त की वृत्तियाँ

विषयों के सम्बन्ध में मिथ्याज्ञान को विपर्यय (भ्रम) कहते हैं। संशय भी इसी के अन्तर्गत आ जाता है। विकल्प का अर्थ है वह कोरी शब्द-योजना जिसका लगाव वस्तु-स्थिति से नहीं हो। जैसे, अकाश-कुसुम। यहाँ शब्दों का अर्थ तो समझ में आ जाता है, पर उस अर्थ के अनुरूप कोई वस्तु नहीं है। निद्रा वह चित्तवृत्ति है जिसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है और उसके कारण जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं के अनुभव विलीन हो जाते हैं। इस अवस्था को 'सुषुप्ति' कहते हैं। कुछ दार्शनिकों का मत है कि सुषुप्तावस्था में कोई भी मानसिक क्रिया नहीं होती और चैतन्य का लोप हो जाता है। परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं। निद्रा भंग होने पर (जागने पर) हम कहते हैं— 'मैं खूब सोया' 'ऐसा सोया कि किसी विषय का बोध नहीं रहा।' इत्यादि। अर्थात् निद्रावस्था की बात हमें स्मरण रहती है। इससे सूचित होता है कि निद्रावस्था का प्रत्यक्ष अनुभव हमें अवश्य ही हुआ होगा', तभी तो वह स्मरण आता है। इस तरह सिद्ध होता है कि सुषुप्तावस्था में भी मन अपना कार्य करता रहता है। इस अवस्था में विषय-ज्ञान का अभाव हो जाता है। इस वृत्ति को 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति' कहते हैं। अतीत अनुभवों की यथावत् मानसिक प्रतीति 'स्मृति' है। इन पाँच वृत्तियों के अन्दर सभी चित्त-वृत्तियाँ आ जाती हैं ❀।

जब चित्त किसी वृत्ति में परिणत हो जाता है तब उस पर आत्मा का प्रकाश पड़ता है और वह आत्मसात् हो जाता है अर्थात् आत्मा

❀ देखिये, योगसूत्र, भाष्य और वृत्ति १।२-११.

को ऐसा प्रतीत होता है कि यह मेरी ही अवस्था है। इसीलिये ऐसा भासित होता है कि पुरुष (आत्मा) ही सब कुछ सोचता और करता है। जैसे वही जन्म लेता और मरता है, उसी में वृद्धि या ह्रास होता है, वही सोता-जागता है, वही कल्पना या स्मरण करता है, वही भूल करता और उसे सुधारता है, इत्यादि। परन्तु यथार्थ में यह सब भ्रम है। जन्म, मरण, आदि क्रियाएँ शरीर की हैं। सोना, जागना आदि क्रियाएँ मन की हैं। ध्यान, कल्पना, स्मृति— सभी मन की वृत्तियाँ हैं। आत्मा इन सभी विकारों से परे है। वह इनसे संयुक्त इसलिये जान पड़ता है कि वह चित्त में प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी तरह, जैसे दर्पण में मनुष्य का प्रतिबिम्ब उतर आता है। इस तरह, वह भ्रमवश अपने ही को पंचक्लेशों का आश्रय या आधार समझने लगता है। ये पंचक्लेश हैं— (१) अविद्या (अर्थात् अनित्य को नित्य समझना जैसे, अनात्म-पदार्थ को आत्मा समझ लेना, मिथ्या सुख को वास्तविक सुख समझ लेना, अशुद्ध को शुद्ध समझ लेना)। (२) अस्मिता (अर्थात् आत्मा को भ्रमवश बुद्धि या मन समझ लेना)। (३) राग (सुख और उसके साधनों की प्राप्ति के लिये इच्छा)। (४) द्वेष (दुःख और उसके कारणों से वैर)। (५) अभिनिवेश (अर्थात् मृत्यु का भय) ‡।

शरीर, मन और आत्मा का सम्बन्ध

जब तक चित्त में विकार और परिणाम होते रहते हैं तब तक उनपर आत्मा का प्रकाश पड़ता रहता है और विवेकज्ञान के अभाव में आत्मा उन्हीं में अपने को देखने लगता है। फलस्वरूप वह सांसारिक विषयों से सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है और उनमें राग-द्वेष के भाव रखने लगता है। यही आत्मा का बन्धन है। इस बन्धन से मुक्ति पाने के निमित्त शरीर, इन्द्रिय, मन और चित्तवृत्तियों का निरोध करना आवश्यक है। जब कार्य-चित्त का धारा-प्रवाह बंद हो जाता है और वह

बन्धन और मुक्ति

‡ देखिये, योगसूत्र २।३-९

कारणचित्त के रूप में (शान्त अवस्था में) आ जाता है तब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है। तब वह अपने को इस मन-शरीर से भिन्न, नित्य मुक्त शुद्ध चैतन्य रूप में देखता है! चित्त-वृत्तियों के निरोध के द्वारा यही आत्मसाक्षात्कार योग का उद्देश्य है।

३. योग का आचार

(१) योग का स्वरूप तथा प्रभेद *

चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है

योग का अर्थ है चित्तवृत्ति का निरोध। यहाँ योग का अर्थ जीवात्मा और परमात्मा का मिलन नहीं समझना चाहिये। योग का उद्देश्य है आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप का ज्ञान कराना जिससे वह अपने को मानसिक विकारों से पृथक् समझ सके। परन्तु यह तभी हो सकता है जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाय। अतएव योग का काम है चित्त की सभी वृत्तियों का निरोध करना।

मन की पाँच अवस्थाएँ

चित्तभूमि (मानसिक अवस्था) के पाँच रूप हैं— (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। प्रत्येक अवस्था में कुछ न कुछ मानसिक वृत्तियों का निरोध होता ही है। एक अवस्था (जैसे प्रेम) में, दूसरी अवस्था (जैसे घृणा) का निरोध होता है। परन्तु इनमें प्रत्येक अवस्था योग साधन के अनुकूल नहीं होती †। क्षिप्त अवस्था में चित्त रजोगुण के प्रभाव में रहता है और एक विषय से दूसरे विषय पर दौड़ता रहता है। चित्त में स्थिरता नहीं रहती। यह अवस्था योग के अनुकूल नहीं है, क्योंकि इसमें मन और इन्द्रियों पर संयम नहीं रहता। मूढ़ अवस्था में तम की प्रधानता रहती है और इससे निद्रा, आलस्य आदि का प्रादुर्भाव होता है। निद्रावस्था में चित्त

* देखिये, योगसूत्र और भाष्य १।१-४, १।१२-१८, १।२३, २।१-२, ४।२६ ३४

† प्रथम तीन अवस्थाएँ (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त) योग के अनुकूल नहीं पड़तीं। केवल अन्तिम दो अवस्थाएँ (एकाग्र और निरुद्ध) योगानुकूल हैं।

की कुछ वृत्तियों का कुछ काल के लिये तिरोभाव हो जाता है। परन्तु यह अवस्था योगावस्था नहीं है। निद्रावस्था तब होती है जब चित्त तमोगुण से आच्छन्न हो जाता है। परन्तु योग के लिये सत्त्वगुण की प्रबलता से चित्त की शुद्धि होना आवश्यक है। विक्षिप्तावस्था में मन थोड़ी देर के लिये एक विषय में लगता है, पर तुरत ही अन्य विषय की ओर ध्यान चला जाता है और पहला विषय छूट जाता है। यह चित्त की आंशिक स्थिरता की अवस्था है। इसे योग नहीं कह सकते क्योंकि इसमें चित्त की वृत्ति का पूरा निरोध नहीं होता। अविद्या-जनित क्लेशों को दूर करने में यह असमर्थ है।

एकाग्र अवस्था वह है जिसमें चित्त देर तक एक विषय पर लगा रहता है। यह किसी वस्तु पर मानसिक केन्द्रीकरण या ध्यान की अवस्था है। इस अवस्था में चित्त किसी विषय पर विचार या ध्यान करता रहता है। इसलिये इसमें भी सभी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं होता। तथापि यह योग की पहली सीढ़ी है। अन्तिम अवस्था—निरुद्धावस्था—में चित्त की सभी वृत्तियों का (ध्येय विषय तक का भी) लोप हो जाता है और चित्त अपनी स्वाभाविक स्थिर शान्त अवस्था में आ जाता है।

समाधि

एकाग्र और निरुद्ध अवस्थाएँ योग के अनुकूल हैं क्योंकि उनमें सत्त्वगुण का अधिकाधिक प्रकाश रहता है जो आत्मसाक्षात्कार में सहायक होता है। एकाग्र अवस्था को *सम्प्रज्ञातयोग* कहते हैं, क्योंकि इसमें ध्येय विषय का स्पष्ट ज्ञान रहता है। इसे '*समापत्ति*' या *सम्प्रज्ञात समाधि* भी कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में चित्त ध्येय विषय में लीन होकर तन्मय हो जाता है।

इसी तरह, निरुद्ध अवस्था को *असम्प्रज्ञात* योग या *असम्प्रज्ञात समाधि* कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में चित्त की सभी वृत्तियों का लोप हो जाता है और कुछ ज्ञान नहीं रहता। यही समाधि की अवस्था है। इसमें सभी मनोवृत्तियाँ और विषयों का तिरोभाव (लोप) हो जाता है। चित्त की चंचल लहरों का उठना बंद हो जाता है और

वह शान्त जल की तरह स्थिर हो जाता है। इन दोनों (एकाग्र और निरुद्ध) अवस्थाओं को सामान्यतः समाधि-योग कहा जाता है।

जैसा कहा जा चुका हैं, समाधि दो प्रकार की होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। ध्येय विषयों के भेदानुसार सम्प्रज्ञात समाधि की चार कोटियाँ होती हैं। जब किसी स्थूल भौतिक पदार्थ पर चित्त एकाग्र किया जाता है, तब वह समाधि 'सवितर्क' कहलाती है। (जैसे, किसी मूर्त्ति पर ध्यान जमाना)। उसके स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर साधक को सूक्ष्म विषय का (जैसे किसी तन्मात्र का) ध्यान करना चाहिये। इसको 'सविचार' समाधि कहते हैं। तदुपरान्त उससे भी सूक्ष्मतर विषय (जैसे इन्द्रिय) में ध्यान जमाना चाहिये, जिससे उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाय। इसे 'सानन्द' समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अन्तिम कोटि को 'सास्मिता समाधि' कहते हैं क्योंकि इसमें ध्यान का विषय केवल 'अस्मिता' या अहंकार मात्र रहता है। इस समाधि के फलस्वरूप आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है (अर्थात् आत्मा यथार्थतः शरीर-मन अहंकार सबों से भिन्न है ऐसा अनुभव या विवेकज्ञान हो जाता है)।

सम्प्रज्ञात समाधि

इस प्रकार एक के अनन्तर दूसरे वाह्य या आन्तरिक विषय का यथार्थ स्वरूप ज्ञात करते-करते और उसे छोड़ते हुए चित्त का सम्बन्ध सभी विषयों से छूट जाता है। यही अन्तिम अवस्था असम्प्रज्ञात समाधि या परम योग है। यह समाधि की अन्तिम सीढ़ी है। वहाँ पहुँच जाने पर योगी समस्त विषय-संसार से मुक्त हो जाता है।* मानों उसके लिये संसार का कोई बन्धन रहता ही नहीं। इस अवस्था में आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप में रहता और अपने कैवल्य या मुक्तावस्था के प्रकाश

असम्प्रज्ञात समाधि

* समाधि की अन्तिम अवस्था को 'धर्ममेघ' भी कहते हैं, क्योंकि वह योगी के ऊपर कैवल्य या मुक्ति की वर्षा करता है।

का आनन्द लेता है। इस अवस्था को प्राप्त करने पर पुरुष सभी दुःखों से मुक्ति पा जाता है जो जीवन का चरम पुरुषार्थ है। यह जीवन क्या है, शान्ति (और उसके साधनों) का अन्वेषण है। योग वह आध्यात्मिक मार्ग है जो यथार्थ आत्मज्ञान के द्वारा सब दुःखों का समूल नाश कर हमें अभीष्ट लक्ष्य पर पहुँचाता है। परन्तु इस अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति एकबारगी नहीं हो सकती। यदि किसी के लिये एक बार समाधि-प्राप्ति के द्वारा दुःख-निवृत्ति संभव भी हो तो फिर वह दुबारा दुःखों के जाल में फंस सकता है। जबतक पूर्वकर्मजन्य सभी संस्कारों का नाश नहीं हो जाता, जबतक चित्त की सभी वृत्तियों का अन्त नहीं हो जाता, तबतक दुःखों के पुनरावर्तन की संभावना बनी रहती है। भूत और वर्त्तमान के विविध कर्मों से उत्पन्न संस्कारों को नष्ट करने के लिये समाधि की स्थिति में दृढ़तापूर्वक स्थिर रहना बड़ा ही दुस्तर कार्य है। इसके लिये चिर साधना और कठिन योगाभ्यास की जरूरत है।

योग के तीन मार्ग

योग के तीन प्रमुख मार्ग हैं—ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग। मनुष्य को अपनी बुद्धि, स्वभाव और योग्यता के अनुकूल इनमें से कोई एक चुन लेना चाहिये। जिनका अधिक झुकाव ज्ञान की तरफ है उन्हें ज्ञानमार्ग अपनाना चाहिये। अर्थात् संसार के विषयों का सम्यक् परिशीलन करते हुए उन सबों से (शरीर और मन से भी) अपने को पृथक् बोध करना चाहिये। जो अधिक भावुक प्रकृति के हैं उनके लिये भक्तिमार्ग है। अर्थात् श्रद्धा और भक्तिपूर्वक ईश्वर की उपासना में रत रहना। इस मार्ग से भी साधक मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जो लोग अधिक कर्म या कठिन साधना करने के योग्य हैं उनके लिये कर्मयोग है। तपश्चर्या, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, इसके मुख्य अंग हैं। कर्मयोग (या क्रिया-योग) भी मुक्ति का साधक है। हाँ, इन मार्गों का अवलम्बन सच्चे मन से होना चाहिये।

(२) योग के अष्टाङ्ग साधन *

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, जबतक मनुष्य के चित्त में विकार भरा रहता है और उसकी बुद्धि दूषित रहती है तबतक वह तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता। शुद्ध हृदय और निर्मल बुद्धि से ही आत्मज्ञान उपलब्ध हो सकता है। सांख्य-योग मतानुसार मुक्ति के लिये 'प्रज्ञा' आवश्यक है। प्रज्ञा का अर्थ है दिव्यदृष्टि के द्वारा इस सत्य का दर्शन कि आत्मा नित्य मुक्त शुद्ध चैतन्य-स्वरूप और शरीर तथा मन से सर्वथा भिन्न है। परन्तु यह दिव्यदृष्टि तभी हो सकती है जब अन्तःकरण सर्वथा निर्विकार, शुद्ध और शान्त हो जाय। चित्त की शुद्धि और पवित्रता के लिये योग आठ प्रकार के साधन बतलाता है। ये हैं—(१) यम (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, और (८) समाधि। ये आठो 'योगांग' कहलाते हैं।

योग के आठ अंग

योग का प्रथम अंग है यम। इसके निम्नलिखित अंग हैं—(१) अहिंसा (अर्थात् किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना) (२) सत्य (अर्थात् किसी से किसी तरह का झूठ नहीं बोलना) (३) अस्तेय (अर्थात् चोरी नहीं करना) (४) ब्रह्मचर्य (अर्थात् विषय-वासना की ओर नहीं जाना) और (५) अपरिग्रह (अर्थात् लोभवश दूसरे की वस्तु ग्रहण नहीं करना)। ये सब साधन सर्व-विदित हैं, अतः उनकी विशेष व्याख्या आवश्यक नहीं। तथापि योग में इनकी विस्तृत विवेचना की गई है। योगी के लिये इनका साधन अत्यावश्यक है, क्योंकि मन को सबल बनाने के लिये शरीर को सबल बनाना आवश्यक है। जो काम, क्रोध, लोभ आदि विकारों पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता, उसका मन या शरीर सबल नहीं रह सकता। इसी तरह जब तक मनुष्य

यम

* देखिये, योगसूत्र और भाष्य २।२६-५५, ३।१-४।

का मन पाप-वासनाओं से भरा और चंचल रहता है तब तक वह किसी विषय पर चित्त एकाग्र नहीं कर सकता। इसलिये योग या समाधि के साधक को सभी कुवासनाओं और कुप्रवृत्तियों से विरत होना आवश्यक है।

योग का दूसरा अंग है नियम या सदाचार का पालन। इसके निम्नलिखित अंग हैं—(१) शौच (वाह्यशुद्धि अर्थात् शारीरिक शुद्धि, जैसे स्नान और पवित्र भोजन के द्वारा, तथा आभ्यन्तर शुद्धि अर्थात् मानसिक शुद्धि, जैसे मैत्री, करुणा आदि के द्वारा)। (२) सन्तोष (अर्थात् उचित प्रयास से जितना ही प्राप्त हो उससे सन्तुष्ट रहना)। (३) तप (जैसे सर्दी-गर्मी आदि सहने का अभ्यास, कठिन व्रत का पालन करना आदि)। (४) स्वाध्याय (नियमपूर्वक धर्मग्रन्थों का अध्ययन करना)। (५) ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर का ध्यान और उन पर अपने को छोड़ देना)।

नियम

आसन शरीर का साधन है। इसका अर्थ है शरीर को ऐसी स्थिति में रखना जिससे निश्चल होकर सुख के साथ देर तक रह सकते हैं। नाना प्रकार के आसन होते हैं, जैसे, पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, सिद्धासन, शीर्षासन, गरुड़ासन, मयूरासन, शवासन आदि। इनका ज्ञान किसी सिद्ध गुरु से ही प्राप्त करना चाहिये। चित्त की एकाग्रता के लिये शरीर का अनुशासन भी उतना ही आवश्यक है जितना मन का। यदि शरीर रोगादि बाधाओं से पूर्णतः मुक्त नहीं रहे तो समाधि लगाना बड़ा ही कठिन है। अतएव योग आरोग्य-साधन के लिये बहुत से नियम निर्धारित करता है, जिससे शरीर समाधि-क्रिया के योग्य बन सके। शरीर और मन को शुद्ध तथा सबल बनाने के लिये तथा दीर्घायु प्राप्त करने के लिये योग में नाना प्रकार के नियम बतलाये गये हैं। योगासन शरीर को नीरोग तथा सबल बनाये रखने के लिये उत्तम साधन है। इन आसनों के द्वारा सभी अंग, विशेषतः स्नायुमंडल,

आसन

इस तरह वश में किये जा सकते हैं कि वे मन में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकें।

प्राणायाम का अर्थ है श्वास का नियन्त्रण। इस क्रिया के तीन अंग होते हैं—(१) पूरक (पूरा श्वास भीतर खींचना), (२) कुम्भक (श्वास को भीतर रोकना) और (३) रेचक (नियमित विधि से श्वास छोड़ना)। इन क्रियाओं का ज्ञान सिद्ध गुरु से ही प्राप्त करना चाहिये। श्वास के व्यायाम से हृदय पुष्ट होता है और उसमें बल आता है, इसे चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है। इसीलिये चिकित्सक हृद्रोगवालों को नियमित रूप से टहलने या ऊपर चढ़ने के लिये कहते हैं। योग इस दिशा में और भी आगे बढ़ता है और चित्त के ऐकाग्र्य-साधन के लिये प्राणायाम का निर्देश करता है। क्योंकि इस (प्राणायाम) के द्वारा शरीर और मन में दृढ़ता आती है। जब तक श्वास की क्रिया चलती रहती है तब तक चित्त भी उसके साथ चंचल रहता है। जब श्वास-वायु की गति स्थगित हो जाती है तब मन भी निष्पन्द या स्थिर हो जाता है। इस तरह प्राणायाम के अभ्यास से योगी बहुत देर तक अपनी सांस रोक सकता और समाधि की अवधि को बढ़ा सकता है।

प्राणायाम

प्रत्याहार का अर्थ है इन्द्रियों को अपने-अपने वाह्य विषयों से खींचकर हटाना और उन्हें मन के वश में रखना। जब इन्द्रियाँ पूर्णतः मन के वश में आ जाती हैं तब वे अपने स्वाभाविक विषयों से हटकर मन की ओर लग जाती हैं। इस अवस्था में, आँख-कान के सामने सांसारिक विषय रहते हुए भी हम देख-सुन नहीं सकते। रूप, रस, गन्ध, शब्द या स्पर्श का कोई भी प्रभाव मन पर नहीं पड़ता। यह अवस्था बहुत ही कठिन है, यद्यपि असंभव नही। इसके लिये अत्यन्त दृढ़ संकल्प और घोर इन्द्रिय-निग्रह की साधना आवश्यक है।

प्रत्याहार

उपर्युक्त पाँच अनुशासन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—बहिरंग साधन कहलाते हैं। शेष तीन—धारणा, ध्यान और समाधि—अन्तरंग साधन कहलाते हैं, क्योंकि उनका योग (समाधि) से सीधा सम्पर्क है।

धारणा

धारणा का अर्थ है चित्त को अभीष्ट विषय पर जमाना। वह विषय बाह्य पदार्थ भी हो सकता है (जैसे, सूर्य या किसी देवता की प्रतिमा) और अपना शरीर भी (जैसे अपनी नाभि या भौंहों का मध्य भाग)। किसी विषय पर दृढ़तापूर्वक चित्त को एकाग्र करने की शक्ति ही योग की असल कुंजी है। इसीको सिद्ध करनेवाला समाधि अवस्था तक पहुँच सकता है।

ध्यान

इसके बाद की अगली सीढ़ी है ध्यान। ध्यान का अर्थ है ध्येय विषय का निरन्तर मनन। अर्थात् उसी विषय को लेकर विचार का अनवच्छिन्न (लगातार) प्रवाह। इसके द्वारा विषय का सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है। पहले भिन्न-भिन्न अंशों या स्वरूपों का बोध होता है। तदनन्तर चिरकालीन ध्यान के द्वारा सम्पूर्ण चित्र आ जाता है और उस वस्तु के असली रूप का दर्शन हो जाता है। इस तरह योगी के मन में ध्यान के द्वारा ध्येय वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकट हो जाता है।

समाधि

योगसाधन की अन्तिम सीढ़ी है समाधि। इस अवस्था में मन ध्येय विषय में इतना लीन हो जाता है कि वह उसमें तन्मय हो जाता है और उसे अपना कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। ध्यान की अवस्था में ध्येय विषय और ध्यान की क्रिया—ये दोनों पृथक् प्रतीत होते हैं। परन्तु समाधि की अवस्था में ध्यान की क्रिया का पृथक् अनुभव नहीं होता, वह ध्येय विषय में डूबकर अपने को खो बैठती है।

इस अवस्था में केवल ध्येय मात्र रह जाता है। समाधिस्थ योगी को यह भी पता नहीं रहता कि वह किसी वस्तु के ध्यान में

मग्न है। यहाँ एक बात ध्यान देने की है। योग का लक्षण किया जा चुका है—'चित्त वृत्ति का निरोध'। अभी जिस समाधि का वर्णन किया गया है वह इसी साध्य (चित्तवृत्ति-निरोध) का साधन है। धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों योग के अन्तरंग साधन हैं। इन तीनों का विषय एक ही रहना चाहिये। अर्थात् एक ही विषय को लेकर पहले चित्त में धारणा, तब ध्यान और अन्त में समाधि होनी चाहिये। ये तीनों मिलकर 'संयम' कहलाते हैं जो योगी के लिये अत्यावश्यक हैं।

कहा जाता है कि योगाभ्यास करते समय साधक को विशेष अवस्थाओं में विशेष सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं। अतः इन्हें अष्टसिद्धि या अष्टैश्वर्य कहते हैं। ये हैं—(१) अणिमा (अर्थात् योगी चाहे तो अणु के समान छोटा या अदृश्य बन सकता है)। (२) लघिमा (अर्थात् योगी चाहे तो रुई से भी हलका होकर उड़ जा सकता है)। (३) महिमा (अर्थात् योगी चाहे तो पहाड़ के समान बड़ा बन जा सकता है)। (४) प्राप्ति (योगी चाहे तो कहीं से कोई वस्तु मँगा ले सकता है)। (५) प्राकाम्य (योगी की इच्छा-शक्ति बाधारहित हो जाती है)। (६) वशित्व (योगी सब जीवों को वशीभूत कर सकता है)। (७) ईशित्व (वह सब भौतिक पदार्थों पर अधिकार जमा सकता है)। (८) यत्रकामावसायित्व (योगी का जो संकल्प होता है उसकी सिद्धि हो जाती है)। परन्तु योगदर्शन का कड़ा आदेश है कि साधक इन ऐश्वर्यों के लोभ से योग-साधन में प्रवृत्त नहीं हो। योग का लक्ष्य है मुक्ति की प्राप्ति। साधक को अलौकिक ऐश्वर्यों के चकाचौंध में नहीं पड़ना चाहिये, नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। योगी को चाहिये कि वह सिद्धियों के फेर में नहीं पड़ कर आगे बढ़ता जाय और अन्तिम लक्ष्य—आत्मदर्शन—पर पहुँच जाय। ❀

सिद्धियाँ

❀ देखिये, योगसूत्र और भाष्य ३।३७, ३।२१, ४।१.

४. ईश्वर *

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान कोई बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं दीखता। स्वयं पतञ्जलि को जगत् की समस्या हल करने के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं दीख पड़ती। उनकी दृष्टि में ईश्वर का उतना सैद्धान्तिक मूल्य नहीं है, जितना व्यावहारिक। ईश्वर-प्रणिधान की उपयोगिता इसी में है कि चित्त की एकाग्रता या ध्यान के साधनों में एक वह भी है। योगदर्शन के पिछले टीकाकार सैद्धान्तिक दृष्टि से भी ईश्वर के स्वरूप की विवेचना करते हैं और ईश्वर के अस्तित्व के लिये युक्तियाँ भी देते हैं। इस तरह योग-दर्शन में ईश्वर की उपयोगिता, सिद्धान्त और साधना, दोनों को लेकर है।

योग में ईश्वर का स्थान

योग के अनुसार ईश्वर परम पुरुष है जो सभी जीवों से ऊपर और सभी दोषों से रहित है। वह नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् पूर्ण परमात्मा है। संसार के सभी जीव अविद्या, अहंकार, वासना, राग-द्वेष और अभिनिवेश (मृत्यु-भय) आदि के कारण दुःख पाते हैं। वे भाँति-भाँति के कर्म (सुकर्म, कुकर्म और विकर्म) करते हैं और उनके विपाक या फलस्वरूप सुख-दुःख भोग करते हैं। वे पूर्व जन्म के निहित संस्कार (आशय) से भी प्रभावित होते हैं। समस्त दुःखों से मुक्ति या कैवल्य प्राप्त करने पर भी मुक्तात्मा के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वह सर्वदा से मुक्त था। केवल ईश्वर ही नित्य मुक्त कहा जा सकता है। वह सर्वबन्धनरहित और सर्वक्लेशरहित है। वह क्लेश, कर्म, विपाक, आशय, इन सबों से अपरामृष्ट (अप्रभावित) रहता है। वह सदा एकरस और निर्विकार है। कर्म और उनके फल इसे नहीं व्याप्त करते। वह पूर्ण, अनन्त, और अद्वितीय है (उसके समान दूसरा कोई नहीं)। वह पूर्ण ज्ञान का भंडार है, और इच्छा मात्र से

ईश्वर का स्वरूप

---

* देखिये योगसूत्र, भाष्य और वृत्ति १।२३-२९, १।३३-३४

समस्त जगत् का परिचालन कर सकता है। वह अनन्त शक्ति और ज्ञान से युक्त, सकल विश्व का नियन्ता है। वह केवल सदिच्छाओं से पूर्ण है। इन्हीं कारणों से परमात्मा जीवात्माओं से भिन्न है।

ईश्वर की सिद्धि के लिये निम्नलिखित युक्तियाँ दी जाती हैं— (१) वेद उपनिषद् आदि समस्त शास्त्र ईश्वर या परमात्मा को आदि सत्ता के रूप में मानते हैं। उसी का साक्षात्कार जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। अतएव ईश्वर का अस्तित्व शास्त्र-सम्मत होने के कारण सिद्ध है। (२) जिस वस्तु की न्यूनाधिक मात्रा रहती है, उसकी एक अल्पतम और एक अधिकतम सीमा भी रहनी चाहिये। संसार में छोटे-बड़े परिमाण देखने में आते हैं। सबसे अल्पतम परिमाण है अणु, सबसे अधिकतम परिमाण है आकाश। इसी तरह, ज्ञान और शक्ति की भी भिन्न-भिन्न मात्राएँ देखने में आती हैं। इसलिये उनकी भी एक अधिकतम सीमा होनी चाहिये। अर्थात् एक ऐसा पुरुष होना चाहिये जिसमें सर्वाधिक ज्ञान और शक्ति हो। वही परम पुरुष ईश्वर है। ईश्वर के समान ज्ञान और शक्तिवाला दूसरा पुरुष नहीं हो सकता। क्योंकि वैसी अवस्था में उन दोनोंमें संघर्ष हो जाता और फलस्वरूप जगत् में अव्यवस्था हो जाती। (३) पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि होती है और दोनों के विच्छेद से प्रलय होता है। पुरुष और प्रकृति दो भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। दोनों का संयोग या विभाग स्वभावतः नहीं हो सकता। उसके लिये एक ऐसा निमित्तकारण मानना पड़ेगा जो अनन्त-बुद्धिमान हो और जीवों के अदृष्टानुसार प्रकृति से पुरुष का संयोग या वियोग करावे। जीवात्मा या पुरुष स्वयं अपना अदृष्ट नहीं जानता। इसलिये एक ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा को मानना आवश्यक है जो जीवों के अदृष्टानुसार संसार की रचना या संहार कर पुरुष या प्रकृति का संयोग या वियोग कराता रहे। यही ईश्वर है जिसकी

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण

प्ररणा के बिना प्रकृति जगत् का उस रूप में विकास नहीं कर सकती जो जीवों की आत्मोन्नति तथा मुक्ति के लिये अनुकूल हो।

पतंजलि का कहना है कि ईश्वर-प्रणिधान भी समाधि का एक साधन है, जिसके द्वारा मुक्ति मिल सकती है। बाद के टीकाकार और भी आगे बढ़ गये हैं। उनके विचार में ईश्वर-प्रणिधान समाधि के लिये सर्वोत्कृष्ट साधन है।

ईश्वर-प्रणिधान

कारण यह कि ईश्वर केवल ध्यान का विषय (जैसे अन्यान्य ध्येय विषय हैं) ही नहीं, प्रत्युत वह महाप्रभु है जो अपनी कृपा से उपासकों के पाप और दोष दूरकर उनके लिये योग का मार्ग सुगम बना देता है। जो ईश्वर का सच्चा उपासक है और उसी पर निर्भर रहता है वह सर्वदा ईश्वर के ध्यान में लीन रहता है और सम्पूर्ण जगत् में ईश्वर को व्याप्त देखता है। ऐसे भक्त को परम पिता की सर्वोच्च विभूति—हृदय की शुद्धता और बुद्धि का प्रकाश—मिलती है। ईश्वर उसके पथ से क्लेशादि सभी विघ्न-बाधाओं को दूर कर देते हैं और योग-सिद्धि के अनुकूल परिस्थिति बना देते हैं। इस तरह ईश्वर की दया से आश्चर्यजनक चमत्कार हो सकते हैं, परन्तु हमें भी मैत्री, कारुण्य, सत्य, शौच तथा ईश्वरोपासना के द्वारा अपने को उनकी कृपा का पात्र बनाना चाहिये।

५. उपसंहार

कटु आलोचक की दृष्टि में योग में उतना दार्शनिक सिद्धान्त नहीं दिखलाई पड़ेगा जितना रहस्यवाद या इन्द्रजाल। योग का आत्म-विषयक सिद्धान्त (अर्थात् आत्मा शरीर, मन, अहंकार से बिल्कुल पृथक् है) लोकमत और साधारण मनोविज्ञान से बहुत दूर है। अतएव जन-साधारण की दृष्टि में योग दुर्गम और रहस्यमय प्रतीत होता है। इसी तरह, योगाभ्यास से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ भी अलौकिक हैं। भौतिक विज्ञान या मनोविज्ञान के जितने नियम ज्ञात हैं उनके साथ इन का समन्वय नहीं होता। इसलिये ये बातें जादू-टोने की बातें सी मालूम होती हैं, जिनमें आदि-कालीन युग के लोग

विश्वास करते थे। परन्तु यहाँ यह बात विचारणीय है कि यौगिक आत्म-साक्षात्कार सांख्य-दर्शन के ठोस आधार पर अवलम्बित है, जिसके अनुसार आत्मा नित्य और शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। यदि ऐसा विषयातीत आत्मा सत्य है, तो यह मानना पड़ेगा कि विषयानुभव के स्तर से ऊपर भी कोई स्तर है और ऐसी शक्तियाँ भी हो सकती हैं जो साधारण भौतिक और ऐन्द्रिक शक्तियों से बढ़ कर हैं। इस आध्यात्मिक तत्त्व की झलक भिन्न-भिन्न देशों के ऋषियों और महात्माओं को तो मिली ही है, साथ ही साथ बड़े-बड़े दार्शनिकों ने जैसे, प्लेटो, अरस्तू, स्पिनोजा, लाइब्नीज, कांट और हेगेल आदि ने भी इसे स्वीकार किया है। अध्यात्म-तत्त्वानुसंधान समिति (The Society for Psychical Research) तथा आधुनिक मनस्तत्त्व-विश्लेषण (Psycho Analysis) इस दिशा में लोगों की काफी ज्ञान-वृद्धि कर रहे हैं। जो बातें मानसिक गह्वर के अन्धकार में निहित थीं उन पर अब क्रमशः प्रकाश पड़ रहा है। योग इसी दिशा में आगे बढ़ कर पुरुष को अपने यथार्थ स्वरूप का दर्शन कराने के लिये शुद्धि और आत्मसंयम के व्यावहारिक उपाय बतलाता है। सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों दृष्टियों से, योग सांख्य से बढ़ा चढ़ा है, क्योंकि यह ईश्वर को भी मानता है और यथार्थ अनुभूतियों को पकड़ कर चलता है, जिससे साधक के मन में विश्वास जमता है। योग का तत्त्व समझने के लिये श्रद्धापूर्वक इसका अध्ययन और अभ्यास करना आवश्यक है। मिस कॉस्टर (Miss Coster) कहती हैं—"मुझे विश्वास है कि जिसे लोग इस जीवन का यवनिकापात समझ लेते हैं उससे परे भी एक प्रदेश है, और जो दृढ़ संकल्प लेकर चढ़ेंगे वे वहाँ तक पहुँच कर उसका पता भी पा सकते हैं।" ❀

❀ देखिये, Yoga and Western Psychology, Page 246-47.

६

मीमांसा दर्शन

१. विषय-प्रवेश

जैसा प्रथम अध्याय (विषय-प्रवेश) में कहा जा चुका है, मीमांसा (पूर्व मीमांसा) वैदिक कर्मकाण्ड पर आश्रित है, जैसे वेदान्त (जिसे उत्तर मीमांसा भी कहते हैं) ज्ञानकाण्ड पर। मीमांसा का उद्देश्य है कर्मकाण्ड की पुष्टि करना। वह दो प्रकार से—(१) वैदिक विधि-निषेधों का अर्थ समझने के लिये और आपस में उनकी संगति बैठाने के लिये व्याख्या-प्रणाली निर्धारित करके। और (२) कर्मकाण्ड के जो आधारभूत सिद्धान्त हैं उनका युक्ति-द्वारा प्रतिपादन करके। इसी दूसरी बात अर्थात् मीमांसा के दार्शनिक पहलू से हम लोगों का सम्बन्ध है।

मीमांसा का उद्देश्य

वैदिक कर्मकाण्ड का जो मूलभूत सिद्धान्त है उसमें कई बातें अन्तर्निहित हैं, जैसे (क) ऐसे आत्मा के अस्तित्व में विश्वास जो मृत्यु के उपरान्त भी विद्यमान रहता और स्वर्ग में कर्मों के फल भोग करता है, (ख) यह विश्वास कि कोई ऐसी शक्ति है जो कर्मों के फलों को सुरक्षित रखती है, (ग) यह विश्वास कि वेद (जिन पर कर्मकाण्ड आश्रित हैं) अभ्रान्त हैं, (घ, यह विश्वास कि यह जगत् सत्य है और हमारा जीवन और कर्म स्वप्नमात्र नहीं है। चार्वाक, बौद्ध और जैन वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते। कुछ बौद्ध संसार की सत्यता और आत्मा का

कर्मकाण्ड का सिद्धान्त

अस्तित्व भी नहीं मानते। कतिपय उपनिषदों में इस विचार की निंदा गई है कि स्वर्ग ही मनुष्य का लक्ष्य है और यज्ञ ही सर्वोत्तम कर्म हैं। मीमांसक इन सभी आलोचनाओं का खंडन करते हुए कर्मकाण्ड के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।

मीमांसा का मूल ग्रन्थ है *जैमिनि सूत्र*। जैमिनि के सूत्र पर शबर स्वामी का विशद भाष्य है जिसे *शाबरभाष्य* कहते हैं। उनके बाद

मीमांसा का साहित्य

बहुत से टीकाकार और स्वतन्त्र ग्रन्थकार हुए। उनमें दो मुख्य हैं—कुमारिल भट्ट और प्रभाकर (गुरु)। इन दोनों के नाम पर मीमांसा में दो सम्प्रदाय चल पड़े हैं—भाट्ट मीमांसा और प्राभाकर मीमांसा। इस प्रकार मीमांसा-दर्शन का उत्तरोत्तर विकास होता गया।

मीमांसा का शब्दार्थ है किसी समस्या या विचारणीय विषय का युक्तियों की समीक्षा के द्वारा निर्णय। कर्मकाण्ड-विषयक होने के कारण मीमांसा को कर्ममीमांसा भी कहते हैं।

मीमांसा-दर्शन को हम सुविधा की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) प्रमाण-विचार, (२) तत्त्व-विचार और (३) धर्म-विचार।

२. प्रमाण-विचार

वेदों का प्रामाण्य सिद्ध करने के निमित्त मीमांसा में सत्य, मिथ्या प्रमाण आदि का विशद विवेचन किया गया है। मीमांसा का ज्ञान-विचार बहुत ही सूक्ष्म और गंभीर है। अन्य मत, खासकर वेदान्त भी, मीमांसा के प्रमाण-विचार को मान्य समझते हैं। यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का संक्षेपतः दिग्दर्शन कराया जाता है।

(१) ज्ञान के रूप और साधन

अन्यान्य मतों की तरह मीमांसा भी दो प्रकार के ज्ञान मानती

ज्ञान क्या है

है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। यथार्थ ज्ञान वह है जिससे किसी विषय में नई बात मालूम होती है,

जो दूसरे प्रमाण से बाधित नहीं होता, और जिसके मूल में कोई दोष नहीं रहता (जैसे पाण्डुरोगी सब कुछ पीला दीखता है) *।

केवल सत् पदार्थ ही प्रत्यक्ष का विषय हो सकता है । जब ऐसे विषय का किसी इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होता है तभी उस विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान आत्मा को होता है। इन्द्रिय के साथ संयोग होने पर पहले विषय की प्रतीति मात्र होती है। 'वह है' केवल इतना ही ज्ञान होता है । 'वह क्या है' इसका ज्ञान नहीं होता । ऐसे निर्विशेष ज्ञान को 'निर्विकल्प' ज्ञान या आलोचन ज्ञान कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान की दूसरी सीढी वह है जिसमें हम पूर्वानुभव के आधार पर उस विषय का स्वरूप निर्धारित करते हैं अर्थात् वह किस प्रकार की वस्तु है, उसमें क्या गुण या क्रिया है, उसका क्या नाम है, आदि बातों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे, 'वह मनुष्य है'। 'वह सुन्दर है'। 'वह दौड़ता है' । 'वह राम है'। इत्यादि। ऐसे सविशेष ज्ञान को सविकल्प प्रत्यक्ष कहते हैं†।

प्रत्यक्ष का स्वरूप

प्रत्यक्ष के द्वारा नाना नामरूपात्मक जगत् का सत्य ज्ञान होता है। यद्यपि निर्विकल्प अवस्था में विषयों का स्पष्ट बोध नहीं होता। तथापि वे बीज अवस्था में विद्यमान रहते हैं और सविकल्प अवस्था में प्रस्फुटित हो जाते हैं । सविकल्प ज्ञान में कोई वस्तु बाहर से नहीं आ जाती, बल्कि निर्विकल्प ज्ञान में जो कुछ रहता है उसीका पूर्वानुभव की सहायता से स्पष्टीकरण हो जाता है। यदि हमें पहले से 'मनुष्य' या 'सुन्दर' आदि का अनुभव नहीं रहता तो 'वह मनुष्य है' 'वह सुन्दर है' ऐसा हम कैसे कहते ? इससे सूचित होता है कि यद्यपि सविकल्प प्रत्यक्ष में उद्देश्य विधेय आदि का सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथापि वह विशद-ज्ञान काल्पनिक या मिथ्या नहीं, जैसा कुछ बौद्ध और कुछ वेदान्ती समझते हैं।

प्रत्यक्ष के विषय

* देखिये, जैमिनि-सूत्र १।१।५ पर शास्त्र-दीपिका ।

† देखिये, जैमिनि-सूत्र १।१।४ पर श्लोक-वार्त्तिक ।

यह भी कहना ठीक नहीं कि निर्विकल्पक ज्ञान का विषय सर्वथा स्वलक्षण होता है अर्थात् उसमें कोई प्रकारता नहीं होती जैसा कुछ बौद्धों का मत है, अथवा वह शुद्ध निरवच्छिन्न सत्ता ही का ज्ञान है (जैसा कुछ वेदान्तियों का मत है)। नाना-विषयात्मक संसार के विशिष्ट धर्म उसी क्षण ज्ञान में आरोपित हो जाते हैं जब हमें उनका प्रथम ज्ञान होता है। *

(२) ज्ञान के परोक्ष-साधन

अन्यान्य प्रमाण

मीमांसा दर्शन में प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और भी पाँच प्रमाण माने गये हैं— (१) अनुमान (२) उपमान (३) शब्द (४) अर्थापत्ति (५) अनुपलब्धि। इनमें अन्तिम प्रमाण अनुपलब्धि को केवल भाट्टमीमांसक मानते हैं, प्राभाकर नहीं। मीमांसा का अनुमान-विषयक विचार करीब-करीब न्याय ही जैसा है, अतएव उसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं। यहाँ शेष चार प्रमाणों का वर्णन किया जाता है।

(क) उपमान

न्यायमत में उपमान को एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। मीमांसा में भी इसे स्वतंत्र प्रमाण माना गया है। परन्तु मीमांसा

न्याय और मीमांसा का मतभेद

इसको दूसरे ही अर्थ में ग्रहण करती है। इसके अनुसार उपमानजन्य ज्ञान तब होता है जब हम पहले देखी हुई वस्तु के समान किसी वस्तु को देख कर समझते हैं कि स्मृत वस्तु प्रत्यक्ष वस्तु के समान है। एक दृष्टान्त से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, किसी ने गाय देखी है, परन्तु नीलगाय नहीं देखी है। वह जंगल में पहले-पहल नीलगाय को देखता है। वह गाय के सदृश देखने में लगती है। इससे वह जान जाता है कि गाय नीलगाय के सदृश होती है। †

* देखिये, प्रकरण-पञ्चिका पृ० ५४-५५.

† मीमांसा का उपमान-विचार श्लोकवार्त्तिक, शास्त्रदीपिका (१।१।५) और प्रकरण पंचिका में विस्तारपूर्वक किया गया है। संक्षेप में देखना हो तो शाबर भाष्य (१।१।५) देखिये।

यह ज्ञान प्रत्यक्ष के अंदर नहीं आ सकता। क्योंकि सदृश वस्तु (जैसे गाय) का उस समय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। यह स्मृतिजन्य ज्ञान भी नहीं, क्योंकि यद्यपि उस विषय (गाय) का ज्ञान पूर्व में हुआ था तथापि उसका वर्त्तमान विषय (नीलगाय) से सादृश्य उस समय ज्ञात नहीं था। अतएव यह सादृश्य-ज्ञान स्मृतिजन्य नहीं कहा जा सकता। यह अनुमान भी नहीं है। 'यह नीलगाय गाँव में देखी हुई गाय के सदृश है' इससे 'गाँव की गाय इस नीलगाय के सदृश है' ऐसा अनुमान करने के लिये हमें ऐसा व्याप्ति-सूचक वाक्य चाहिये कि "सभी पदार्थ अपने सदृश पदार्थों के सदृश होते हैं"। † परन्तु यहाँ ऐसे व्याप्ति-सम्बन्ध का व्यवहार नहीं है। अतएव यह ज्ञान (गाय नीलगाय के सदृश होती है) अनुमान-जन्य भी नही। इसी तरह, यह ज्ञान शब्द-प्रमाण से भी उपलब्ध नहीं है। अतएव इसे एक स्वतंत्र कोटि में रखना आवश्यक है।

उपमान का स्वरूप

न्याय का मत यह है। पहले आप्तवाक्य के द्वारा यह मालूम रहता है कि गाय के सदृश नीलगाय होती है। तब कोई जंगल में जाकर यदि गाय के आकार-प्रकार का कोई जन्तु देखता है तो उसे ज्ञात हो जाता है कि यह जन्तु गवय है। यही उपमान है। परन्तु इसके विरुद्ध मीमांसक का कहना है कि यहाँ 'यह' जन्तु-विशेष गाय के सदृश है ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है और 'गाय के सदृश जन्तु गवय है' ऐसा ज्ञान शब्द-प्रमाण की स्मृति के द्वारा होता है। फलतः 'यह जन्तु गवय है' ऐसा ज्ञान अनुमान के द्वारा प्राप्त हो जाता है। अतएव नैयायिक जिसे स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं वह यथार्थतः स्वतंत्र नहीं है। ❀

न्यायमत का खंडन

---

† देखिये, शास्त्र-दीपिका १।१।५

❀ देखिये; प्रकरणपंचिका। इस विषय की समीक्षात्मक विवेचना के लिये श्री धीरेन्द्रमोहन-दत्त का The Six Ways of Knowing (Bk II) देखिये।

ऊपर मीमांसा का जो मत दिया गया है वह नवीन मीमांसकों का है। शवर स्वामी का मत कुछ भिन्न सा है।† उनका 'उपमान' प्रायः वही जान पड़ता है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Analogy कहते हैं। वह उपमान का यह दृष्टान्त देते हैं। "जैसे मुझे यह अनुभव होता है कि 'मैं हूँ', उसी तरह औरों को भी अपने-अपने अस्तित्व का अनुभव होता है।" मुझे ऐसा जो ज्ञान है वह किस आधार पर? यही उपमान है। अतएव वह उपमान का लक्षण करते हैं 'ज्ञात वस्तु के सादृश्य के आधार पर अज्ञात वस्तु का ज्ञान।' यह उदाहरण Analogical Argument से भिन्न नहीं जान पड़ता।

शवर स्वामी का मत

इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिये कि सादृश्य को मीमांसा में एक स्वतन्त्र पदार्थ माना जाता है। इसे गुण के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि गुण में गुण नहीं होता, परन्तु दो गुणों में सादृश्य रह सकता है। इसे सामान्य (जाति) की कोटि में भी नहीं रख सकते क्योंकि सामान्य (जैसे गोत्व) सभी व्यक्तियों में (जैसे गायों में) एक ही रहता है। सादृश्य में यह बात नहीं। सादृश्य का अर्थ पूर्ण ऐक्य या तादात्म्य नहीं। किन्तु अधिकांश विषयों में समानता है।

(ख) शब्द

मीमांसा-दर्शन को वेद का प्रामाण्य स्थापित करना है। अतः इसमें शब्द-प्रमाण को पूरा महत्त्व दिया गया है। सार्थक वाक्य—यदि वह अनाप्त (अविश्वस्त) व्यक्ति के मुंह से नहीं निकला हो—ज्ञान प्राप्त करानेवाला होता है। इसे शब्द प्रमाण कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है—पौरुषेय और अपौरुषेय। आप्त (विश्वस्त) व्यक्ति का कथित या लिखित वचन पौरुषेय कहलाता है। वेदवाक्य अपौरुषेय माना जाता है। वेदवाक्य दो प्रकार का होता है—सिद्धार्थ वाक्य (अर्थात् जिस वाक्य से किसी विषय की सत्ता सूचित होती है) और विधायक वाक्य (अर्थात् जिस

वेद-वाक्य

† देखिये शावर-भाष्य (जै० सू० १।१।५)

वाक्य से किसी क्रिया के लिये विधि या आज्ञा सूचित होती है)। वेद के वाक्य—विशेषतः कर्त्तव्यक्रिया के विधायक वाक्य जो यज्ञादि के सम्पादनार्थ कर्त्तव्य का निर्देश करते हैं—मीमांसा की दृष्टि में अपौरुषेय और स्वतः प्रामाण्य हैं। वेदों का विशेष महत्त्व उनके विधि-वाक्यों को लेकर है। बल्कि मीमांसा का यहाँ तक कहना है कि वेदवाक्य की उपयोगिता क्रिया ही को लेकर है। यदि वह सिद्धार्थक वाक्य किसी विधायक वाक्य का सहायक नहीं हो, तो उसका कुछ मूल्य नहीं है ⁂। अतएव आत्मा, अमरत्व आदि के विषय में जितने सिद्धार्थक वाक्य हैं, उनका किसी न किसी यागादि कर्मों के विधायक वाक्य से अवश्य ही सम्बन्ध है। वे परोक्ष रूप से लोगों को विहित कर्म में प्रवृत्त और निषिद्ध कर्म से निवृत्त होने में सहायक होते हैं। मीमांसा ऐसे वाक्यों का तात्पर्य निर्धारित कर उनका मूल्य आँकती है। मीमांसा की यह प्रवृत्ति हमें आधुनिक Pragmatism (व्यवहारवाद) का स्मरण कराती है, जिसके मत में किसी ज्ञान—लौकिक, वैज्ञानिक या दार्शनिक ज्ञान—का मूल्य इसी बात को लेकर है कि वह किसी कार्य के सम्पादन में सहायक हो। मीमांसा को हम शास्त्रीय व्यवहारवाद (Ritualistic Pragmatism) कह सकते हैं, क्योंकि इसके अनुसार वैदिक ज्ञान का मूल्य उसकी क्रिया-विधि में है।

वेदों का अपौरुषेयत्व

अधिकांश आस्तिक मतों के अनुसार, वेदों की प्रामाणिकता इसीलिये है कि वह ईश्वर-कर्त्तृक है। परन्तु मीमांसा का सृष्टिकर्त्ता या संहारकर्त्ता ईश्वर में विश्वास नहीं है। वह वेद को जगत् की तरह नित्य मानती है †। मीमांसा के अनुसार वेद मनुष्य-कर्त्तृक या ईश्वर-कर्त्तृक नहीं हैं। अतएव वे अपौरुषेय कहे जाते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि के लिये अनेक युक्तियाँ दी जाती हैं—

⁂ देखिये जैमिनि-सूत्र १.२.१, १.२.७, और इन पर शावर भाष्य,

† देखिये, अधिकरण ४-८, अध्याय १

एक तो यह कि वेद के कर्त्ता का कहीं नाम नहीं है। दूसरे, जिन ऋषियों के नाम वैदिक मन्त्रों में आये हैं, वे केवल द्रष्टा, व्याख्याता अथवा भिन्न-भिन्न वैदिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तक हैं उन मन्त्रों के कर्त्ता नहीं। सबसे प्रधान युक्ति, जो दार्शनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है वह शब्द-नित्यत्ववाद पर अवलम्बित है *। वह सिद्धान्त यह है कि वास्तविक शब्द अर्थात् वर्ण नित्य है और जो ध्वनि हम सुनते हैं वह उसका प्रकाशमात्र है। यदि प्रत्यक्ष शब्द को ही वास्तविक शब्द मान लिया जाय तो दस बार 'ग' के उच्चारण को दस शब्द मानना पड़ेगा। तब हम यह नहीं कह सकते कि एक ही शब्द दस बार ध्वनित हुआ है। इसलिये हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वास्तविक शब्द 'ग' (जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा ध्वनित होने पर भी एक ही माना जाता है) 'ग' उच्चारण से उत्पन्न नहीं वरन् व्यक्त होता है। यदि एक ही शब्द (वर्णसमूह) के पृथक् पृथक् उच्चारण को हम एक ही बस्तु की अनेक अभिव्यक्तिया नहीं समझेंगे, तो उनसे एक ही अर्थ निकलना कैसे संभव होगा ? अतएव वास्तविक शब्द हमारे कंठ से स्फुटित होता है, उत्पन्न नहीं। वास्तविक शब्द अनादि होने के कारण नित्य है। अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य और स्वाभाविक है, आधुनिक या सांकेतिक नहीं।†

वेद ऐसे ही नित्य और मूलभूत शब्दों के भंडार हैं। लिखित या उच्चरित वेद नित्य वेद के प्रकाश मात्र हैं। इससे भी सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय हैं।

वेद का प्रामाण्य अल्पज्ञ मनुष्यों के रचित ग्रन्थों में जो दोष पाये जाते हैं उनसे वेद सर्वथा मुक्त हैं। अतः वैदिक ज्ञान अभ्रान्त समझा जाता है।

* देखिये, जैमिनि सूत्र १।१।५, शास्त्रदीपिका १।१।६. (स्फोटवाद का प्रकरण)।

† देखिये, जैमिनि-सूत्र १।१।५, स्फोटवाद के विशेष विवरण के लिये श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त का The Six Ways of Knowing, Bk VI देखिये।

अपौरुषेय वेद के अतिरिक्त आप्तव्यक्ति का वचन भी प्रमाण-कोटि के अन्तर्गत आता है। परन्तु वेद-वाक्य की यह विशेषता है कि इसीके द्वारा हमें धर्मज्ञान प्राप्त होता है। जो प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। आप्त वचन-जन्य ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भी उपलब्ध हो सकता है और मूलतः उन्हीं प्रमाणों पर निर्भर रहता है, परन्तु वेदजन्य ज्ञान न तो अन्य प्रमाणों से उपलब्ध हो सकता है, न किसी पूर्व अनुभव के आधार पर निर्भर है, क्योंकि वेद नित्य हैं।

कुछ लोग शब्दप्रमाण-जन्य ज्ञान को अनुमान के अन्तर्गत रखते हैं, क्योंकि शब्द की आप्तता से ही उस ज्ञान की यथार्थता का अनुमान होता है। इसके उत्तर में मीमांसा का कहना है कि ज्ञान मात्र स्वतः प्रमाण्य होता है। अर्थात् जिस कारण-सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है उसी में ज्ञान की यथार्थता का भाव भी विद्यमान रहता है। अतः अन्यान्य प्रमाणों की तरह शब्द-प्रमाण भी ज्ञान का साधन होने के साथ-साथ उस ज्ञान की यथार्थता का भी प्रमाण है। आगे इसका सविस्तर विचार किया जायगा।

(ग) अर्थापत्ति

अर्थापत्ति किसे कहते हैं

दृष्टार्थ की व्याख्या के लिये अदृष्टार्थ की कल्पना, जिसकी सहायता के बिना उस दृष्टार्थ की उपपत्ति नहीं हो सकती, 'अर्थापत्ति' कहलाती है। जब कोई ऐसी घटना देखने में आती है जो बिना एक दूसरी घटना की कल्पना किये समझ में नहीं आ सकती तो जिस अदृष्ट घटना की कल्पना की जाती है उसे अर्थापत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में, अर्थापत्ति वह आवश्यक कल्पना है जिसके द्वारा कोई अन्यथा असाध्य विषय सिद्ध हो जाता है।* जैसे, मान लीजिये, देवदत्त दिन

* देखिये, शावर-भाष्य १।१।५, श्लोक-वार्त्तिक, शास्त्रदीपिका और प्रकरणपंचिका। विशेष आलोचना के लिये श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त का The Six Ways of Knowing, Bk V देखिये।

में कभी भोजन नहीं करता, फिर भी दिन-दिन मोटा होता जाता है। अब यहाँ इन दोनों बातों में—उपवास और शरीर-पुष्टि में—परस्पर विरोध देखने में आता है। अब ये दोनों विरुद्ध बातें तभी संभव हो सकती है जब यह कल्पना कर ली जाय कि देवदत्त रात में खूब भोजन करता है। इस तरह की कल्पना के द्वारा विरुद्ध-कोटिक विषयों का समन्वय हो जाता है और उनकी संगति बैठ जाने से घटना समझ में आ जाती है। ऐसी ही कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

अर्थापत्ति के द्वारा उपलब्ध ज्ञान विशिष्ट प्रकार का होता है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द के अन्तर्गत नहीं आता। यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देवदत्त को हमने रात में भोजन करते हुए नहीं देखा है। यहाँ शब्द-प्रमाण भी नहीं क्योंकि किसी आप्त वाक्य के द्वारा हमें यह बात (कि देवदत्त रात में खाता है) मालूम नहीं हुई है। इसे अनुमान भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शरीर के मोटा होने में और रात्रि में भोजन करने में व्याप्ति-सम्बन्ध (अर्थात् जहाँ-जहाँ शरीर का मोटापन रहता है, वहाँ-वहाँ रात में भोजन करना भी पाया जाता है) नहीं है, जिसके बल पर हम निष्कर्ष निकाल सकें कि देवदत्त रात में भोजन करता है।

अर्थापत्ति की विशेषता

दैनिक जीवन में अर्थापत्ति का बराबर प्रयोग होता रहता है। कुछ दृष्टान्त लीजिये। मान लीजिये, हम किसी मित्र के घर पर जाते हैं जो जीवित हैं। वे नहीं मिलते। तब हम सोचते हैं कि 'वे कहीं अन्यत्र गये होंगे।' ऐसा हम क्यों सोचते हैं? क्योंकि बिना ऐसी कल्पना के किसी जीवित मनुष्य का घर पर नहीं पाया जाना समझ में नहीं आ सकता। इसी तरह वाक्य का अर्थ लगाने समय भी हम अर्थापत्ति

अर्थापत्ति की उपयोगिता

का सहारा लेते हैं। यदि किसी वाक्य में कुछ शब्द जोड़े बिना अर्थ की संगति नहीं बैठती है तो हम उन शब्दों का अध्याहार कर लेते हैं। जैसे, 'लाल पगड़ी को बुलाओ' इस वाक्य में 'लाल पगड़ी से' 'लाल पगड़ी वाले मनुष्य' का अर्थ ग्रहण किया जाता है (अर्थात् 'मनुष्य' का अध्याहार कर लिया जाता है)। इसी तरह, 'वह गाँव गंगाजी पर है' यहाँ 'गंगाजी पर' का अर्थ लिया जाता है 'गंगाजी के तट पर' (अर्थात् 'तट' या 'किनारे' का अध्याहार कर लिया जाता है)।

दो प्रकार की अर्थापत्ति

मीमांसक-गण दो प्रकार की अर्थापत्ति मानते हैं। (१) दृष्टार्थापत्ति— जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी दृष्टार्थ या देखी हुई घटना की संगति हो सके (जैसे 'देवदत्त का मोटा होना', यह तभी समझ में आ सकता है जब यह कल्पना की जाय कि वह रात में खाता है), और (२) श्रुतार्थापत्ति—जहाँ अर्थापत्ति के द्वारा किसी श्रुतार्थ या सुनी हुई बात की संगति हो सके (जैसे, 'वह गाँव गंगाजी पर है' यह बात तभी समझ में आ सकती है जब इस अर्थ की कल्पना की जाय कि 'वह गाँव गंगाजी के किनारे पर बसा है।') इसी तरह वैदिक विधि है 'विश्वजित् यज्ञ करे'। यहाँ पूर्ण अर्थ समझने के लिये यह अध्याहार करना होगा 'जिसे स्वर्ग-प्राप्ति की कामना हो।'

अर्थापत्ति कोरी कल्पना अथवा निगमन नहीं

अर्थापत्ति की समानता उस वस्तु से है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Hypothesis कहते हैं। यह Explanatory Hypothesis सा मालूम होता है। परन्तु भेद यह है कि जहाँ Hypothesis में अनिश्चितता रहती है, वहाँ अर्थापत्ति में निश्चितता का भाव रहता है। अर्थापत्ति में यह विश्वास का भाव मौजूद रहता है कि 'यहाँ यही एकमात्र उपपत्ति संभव है, दूसरी नहीं।' अर्थापत्ति को अनुमान भी नहीं कह सकते क्योंकि अनुमान का काम है दिये हुए

वाक्यों से निष्कर्ष निकालना, न कि दी हुई घटना के कारण की उपपत्ति करना। अनुमान हेतु से निगमन की ओर जाना है, अर्थापत्ति फल देखकर हेतु की कल्पना करनी है।

(ब) अनुपलब्धि

भट्ट-मीमांसा और अद्वैत वेदान्त का यह मत है कि किसी विषय के अभाव का जो साक्षात् ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा। इस कोठरी में घड़ा नहीं है। यहाँ घट का अभाव मुझे कैसे विदित होता है? इस ज्ञान को प्रत्यक्ष तो कह नहीं सकते क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हो सके। घट का चक्षुरिन्द्रिय (आँख) के साथ संयोग हो सकता है, घटाभाव का नहीं। अतएव भट्ट मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती का यह कहना है कि यहाँ घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अदर्शन) के कारण होता है। मैं निश्चय करता हूँ कि कोठरी में घड़ा नहीं है, क्योंकि वह देखने में नहीं आता।

अनुपलब्धि किसे कहते हैं

यह प्रत्यक्ष नहीं

जिस तरह उपर्युक्त ज्ञान प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता, उसी तरह अनुमान की कोटि में भी नहीं आता। यदि ऐसा कहा जाय कि घट का अभाव घट के अदर्शन से अनुमान किया जाता है तो वह संगत नहीं होगा। क्योंकि ऐसा अनुमान तभी संभव होता जब हमें अदर्शन (अनुपलब्धि) और अभाव में व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान रहता अर्थात् जब हमें ऐसा ज्ञान रहता कि जिस वस्तु का दर्शन नहीं होता उसका अभाव रहता है। परन्तु यदि ऐसा मान लें तो आत्माश्रय दोष (Petitio Principi) उपस्थित हो जायगा क्योंकि जो सिद्ध करना है उसे हम पहले ही मान लेते हैं।

यह अनुमान भी नहीं

इसी तरह यह ज्ञान शब्द या उपमान के अन्तर्गत भी नहीं आता क्योंकि यहाँ आप्तवाक्य या सादृश्यज्ञान नहीं है। इस प्रकार घटा-

भाव (यहाँ घड़ा नहीं है") का जो साक्षात् ज्ञान हमें प्राप्त होता है उसकी उपपत्ति करने के लिये हमें स्वतंत्र प्रमाण मानना होगा। इसी को 'अनुपलब्धि' कहते हैं। ❀

यह शब्द या उपमान भी नहीं

इस सम्बन्ध में यह बात द्रष्टव्य है कि अनुपलब्धि मात्र से अभाव सूचित नहीं होता। रात्रि के घने अंधकार में घड़ा रहते हुए भी नहीं सूझता। परमाणु, आकाश, पाप, पुण्य आदि अदृश्य पदार्थ भी प्रत्यक्ष नहीं होते। तथापि हम उनका अभाव नहीं मानते। जिस वस्तु की जिस परिस्थिति में उपलब्धि होनी चाहिये, उस परिस्थिति में उसकी उपलब्धि नहीं होने से ही उसका अभाव जाना जाता है। इस तरह अभाव-ज्ञान का कारण योग्यानुपलब्धि (अर्थात् प्रत्यक्ष-योग्य वस्तु का अप्रत्यक्ष होना) है।

योग्यानुपलब्धि

(२) प्रामाण्य-विचार

जब किसी ज्ञान की उत्पत्ति के लिये पर्याप्त कारण-सामग्री होती है (और इसलिये संशय या भ्रम की गुंजाइश नहीं रहती) तब जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह निश्चयात्मक या विश्वास-जनक होता है। जैसे, दिन-दोपहर के उजाले में ठीक आँख के सामने कोई चीज साफ-साफ देखने में आती है तो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विश्वस्त सूत्र से सार्थक और स्पष्ट वाक्य के द्वारा शब्द-ज्ञान होता है। जहाँ पर्याप्त हेतु रहता है, वहाँ अनुमान किया जाता है। दैनिक जीवन में इस तरह का कोई ज्ञान प्राप्त होते ही हम तदनुकूल काम करने लग जाते हैं। वह ज्ञान यथार्थ है या नहीं इस बात की तर्क द्वारा समीक्षा नहीं करते। फिर भी उस ज्ञान के

स्वतः प्रामाण्यवाद

❀ देखिये, श्लोकवार्त्तिक, शास्त्रदीपिका, वेदान्तपरिभाषा (अनुपलब्धि का प्रकरण)। विशेष आलोचनात्मक विवरण के लिये श्री धीरेन्द्रमोहनदत्त का The Six Ways of Knowing (Bk. III) देखिये।

आधार पर चल कर हम क्रिया में सफलतापूर्वक प्रवृत्त होते हैं; ज्ञान और क्रिया में संघर्ष या असामञ्जस्य नहीं होता। इससे सूचित होता है कि वह ज्ञान यथार्थ है। इसके विपरीत जब उस ज्ञान की उत्पत्ति के लिये तत्प्रकारक पर्याप्त कारण-सामग्री में कोई त्रुटि या दोष रहता है तब वह ज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं। जैसे, पाण्डुरोगी को (जिसकी दृष्टि में दोष रहता है और सब चीजें पीली नजर आती हैं) यथार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। इसलिये जबतक शंका या अविश्वास के सभी स्थल दूर नहीं हो जाते तब तक विश्वास उत्पन्न नहीं होता।

उपर्युक्त बातों से मीमांसक दो निष्कर्ष निकालते हैं—

(१) ज्ञान का प्रामाण्य (प्रामाणिकता) उस ज्ञान की उत्पादक सामग्री में ही विद्यमान रहता है, कहीं बाहर से नहीं आता।❀

(२) ज्ञान उत्पन्न होते ही उसके प्रामाण्य का भी ज्ञान हो जाता है।† यह नहीं कि प्रमाणान्तर से परीक्षा करने के लिये हम ठहरे रहें और जब वह ज्ञान दूसरी जांच की कसौटी पर ठीक उतर जाय तब हम उसे सत्य समझें।

इस सिद्धान्त को (जिसमें उपर्युक्त दोनों बातें सम्मिलित हैं) 'स्वतःप्रामाण्यवाद' कहते हैं।‡

इस मत के अनुसार सत्य स्वतः प्रकाश्य होता है। जब कोई ज्ञान उत्पन्न होता है तो उसी में उसकी सत्यता का भाव भी सन्निहित रहता है। कभी-कभी दूसरे ज्ञान के द्वारा हमें यह मालूम होता है कि वह भ्रमपूर्ण है अर्थात् उस ज्ञान के आधार में कोई त्रुटि या दोष है। इस अवस्था में आधार के दोष से हम उस ज्ञान की सदोषता वा मिथ्यात्व का अनुमान करते हैं। इस प्रकार किसी ज्ञान के मिथ्यात्व

सत्य स्वतः प्रकाश्य होता है।

❀ प्रमाणं स्वतः उत्पद्यते।

† प्रामाण्यं स्वतः ज्ञायतेच।

‡ देखिये श्लोकवार्तिक [illegible] और सर्वदर्शन संग्रह में जैमिनीय दर्शन।

का निश्चय अनुमान के द्वारा होता है। परन्तु ज्ञान की सत्यता स्वयं-सिद्ध होती है। संक्षेप में यों कहिये कि विश्वास उत्पन्न करना ज्ञान का स्वभाविक नियम है अविश्वास कुछ वाधक कारण मालूम होने से होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाण के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी सत्यता में हम स्वभावतः विना किसी तर्क-वितर्क के विश्वास कर लेते हैं। हाँ, यदि उसके प्रतिकूल कोई ऐसा प्रमाण मिलता है जिससे वह वाधित या खंडित हो जाय तभी हम उस ज्ञान के विषय में शंका करने या उसकी असत्यता का अनुमान करने को बाध्य होते हैं। यों विना कारण हमें ज्ञान की सत्यता में संदेह नहीं होता। इसी विश्वास पर हमारे जीवन का काम चलता है।

नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य उस ज्ञान की उत्पादक कारण-सामग्री के अलावे, वाह्य कारणों से, उत्पन्न होता है। (1)

परतः प्रामाण्य का खंडन

जैसे, कोई प्रत्यक्ष ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह ज्ञानेन्द्रिय (जैसे आँख, जिसके आधार पर हम सामने एक नदी देख रहे हैं) ठीक है या नहीं। परन्तु मीमांसा का कहना है कि ये वाह्य कारण (जैसे, नेत्र की निर्विकारता) भी वस्तुतः प्रत्यक्ष ज्ञान के ही सहायक कारण हैं, (अर्थात् कारण-सामग्री के अङ्ग हैं) जिनके विना विश्वास या ज्ञान की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। नैयायिकों का मत है कि प्रत्येक ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा निश्चित होता है। (2) इसके विरुद्ध मीमांसा का कहना है कि ऐसा मानने से अनवस्था-दोष (Infinite Regress) आ जायगा। अर्थात् 'क' के प्रामाण्य के लिये 'ख' का आश्रय लेना पड़ेगा, 'ख' के प्रामाण्यके लिये 'ग' का। इस तरह कभी अन्त ही नहीं होगा। इस प्रकार किसी का प्रामाण्य सिद्ध नही होगा और जीवन में प्रामाण्य निश्चय करने के बाद कोई काम करना असंभव हो जायगा। मान लीजिये, हम एक बाघ देखते हैं। यदि उसको देखने पर पहले हम उस ज्ञान का प्रामाण्य अनुमान के द्वारा सिद्ध करना चाहें तो फिर इसी नियम के

अनुसार उस अनुमान का भी प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये दूसरे अनुमान का आश्रय ग्रहण करना पड़ेगा, और इस तरह इस क्रिया की समाप्ति नहीं होगी। इस तरह जीवन असंभव हो जायगा। बाघ को देखने के साथ ही हम वहाँ से भागते हैं। यदि उसका प्रामाण्य निश्चित करने के लिये हम वहाँ ठहर जाँय और एक के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इस तरह अनुमानों का अवलम्बन करने लग जाँय, तो वह क्रिया कभी समाप्त नहीं होगी और जीवन में कोई कार्य करना संभव नहीं होगा। यह सत्य है कि जहाँ किसी ज्ञान के विषय में शंका का स्थल रहता है वहाँ हम उसकी सत्यता का निश्चय करने के लिये अनुमान का सहारा लेते हैं। परन्तु उसका उद्देश्य होता है ज्ञान के मार्ग में जो प्रतिबंधक है उसे दूर करना। बाधा दूर हो जाने पर वह ज्ञान (यदि वह सत्य ज्ञान है) प्रकट हो जाता है और उसकी सत्यता तथा उस सत्यता का ज्ञान भी उसके साथ प्रकट हो जाता है। यदि उस शंका या बाधा का निवारण अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता, तो फिर वह ज्ञान उत्पन्न होता ही नहीं।

लौकिक या वैदिक, पौरुषेय या अपौरुषेय, शब्द के द्वारा भी इसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि शंका या अविश्वास के लिये कोई आधार न हो तो कोई सार्थक वाक्य सुनने पर हमें उसमें स्वभावतः विश्वास हो जाता है। अतएव नित्य अपौरुषेय वेद भी स्वतः प्रमाण हैं। उनका प्रामाण्य स्वयंसिद्ध है, किसी अनुमान पर निर्भर नहीं। हाँ, मन से संशयों को दूर करने के लिये तर्क का प्रयोजन पड़ता है। ऐसा हो जाने पर वेदों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है और वास्तविक अर्थ-बोध के साथ ही उसकी सत्यता की प्रतीति भी हो जाती है। इस प्रतीति या विश्वास के लिये मीमांसक इतना ही करता है कि वेदों की अभ्रान्तता के विरुद्ध जितने भी आक्षेप हो सकते हैं उनका निराकरण करता है, जिससे वैदिक ज्ञान की यथार्थता स्वीकार करने में किसी को संदेह नहीं रहे।

(४) भ्रम क्या है ?

यदि प्रत्येक ज्ञान स्वतःप्रामाण्य है और उसकी सत्यता भी स्वयं-प्रकाश्य है तो फिर भ्रम की उत्पत्ति कैसे होती है ? भारतीय दर्शनों में भ्रम के सम्बन्ध में गहरी छानबीन की गई है।

प्राभाकर मत—अख्यातिवाद

प्राभाकर मीमांसकों का मत है ❀ कि प्रत्येक ज्ञान सत्य होता है, कोई ज्ञान असत्य नहीं। जिसे हम भ्रम कहते हैं (जैसे रज्जु में सर्प का आभास) उसमें भी दो तरह के ज्ञानों का सम्मिश्रण पाया जाता है। एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी सी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान, और पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुए सर्प की स्मृति, ये दोनों ही सत्य हैं। केवल स्मृतिदोष से हम इतना भूल जाते हैं कि वह सर्प स्मृति का विषय है, प्रत्यक्ष का नहीं। अर्थात् प्रत्यक्ष और स्मृति के भेद का अनुभव नहीं होता। इसलिये हम रज्जु के साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा सर्प के साथ करना चाहिये। यहाँ दोष हमारे व्यवहार में है। स्मृति-प्रमोष (स्मरण शक्ति के दोष) के कारण विवेकाग्रह (अर्थात भेद के ज्ञान का अभाव) हो जाता है। यह दोष केवल अभावात्मक (Negative) अर्थात् ज्ञान का अभाव मात्र है। इसे वह भ्रम नहीं कहा जा सकता जो भावात्मक (Positive) हो अर्थात् जो वास्तविक प्रतीति हो। प्राभाकर मीमांसकों का यह मत 'अख्यातिवाद' कहलाता है। इसमें भ्रम की सत्ता ही का अस्वीकार किया गया है।

भाट्ट मीमांसक इस मत को नहीं मानते †। उनका कहना है कि भ्रम केवल अविवेक (भेद-ज्ञान का अभाव) मात्र नहीं है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि मिथ्या विषय (जैसे रज्जु में कल्पित सर्प) भी प्रत्यक्ष सा भासित होने लगता है। आँख की पुतलियों को दबाकर

भाट्ट मत -- विपरीत ख्यातिवाद

❀ देखिये, प्रकरण-पंचिका (पृ० ३२-३८)

† देखिये, शास्त्रदीपिका १।१।५

देखने से दो चन्द्रमा दिखाई पड़ते हैं । रज्जु में सर्प का भ्रम तो प्रसिद्ध ही है। भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि जब हम रज्जु में सर्प देखते हैं और कहते हैं कि 'यह सर्प है' तो यहाँ उद्देश्य और विधेय दोनों ही सत्य हैं। जो रस्सी वर्त्तमान है वह सांप की कोटि में ले आई जाती है। संसार में सत्ता दोनों ही की है। भ्रम इस बात को लेकर होता है कि हम दो सत् किन्तु पृथक् पदार्थों में उद्देश्य-विधेय का सम्बन्ध जोड़ देते हैं। भ्रम इसी *संसर्ग* को लेकर होता है, न कि *विषयों* को लेकर, जो वास्तविक पदार्थ हैं। चन्द्रमा वाले भ्रम में भी आकाश के दो वास्तविक भागों का सम्बन्ध चन्द्रमा के साथ जोड़ दिया जाता है, जिससे एक ही चन्द्रमा दो स्थानों में आभासित होता है। ऐसे विपर्यय के कारण लोग विपरीत आचरण करते हैं। भाट्ट मीमांसकों का यह मत 'विपरीत ख्यातिवाद' कहलाता है (क्योंकि इसके कारण अकार्य में कार्यता का *भान* होता है ※।

इस प्रकार देखने में आता है कि प्राभाकर मीमांसक किसी ज्ञान में भ्रम की सत्ता स्वीकार ही नहीं करते । भाट्ट मीमांसक भ्रम की सत्ता स्वीकार करते हैं परन्तु उनका कहना है कि भ्रम विषयों को लेकर नहीं, उनके संसर्ग को लेकर होता है †। परन्तु दोनों ही सम्प्रदाय इस विषय में सहमत हैं कि भ्रम का प्रभाव ज्ञान की अपेक्षा हमारे व्यवहार पर अधिक पड़ता है। इसके अतिरिक्त दोनों ही भ्रम को अपवाद-रूप समझते हैं। सामान्यतः यही नियम है कि प्रत्येक ज्ञान सत्य का दर्शन कराता है । इसी विश्वास पर हमारा दैनिक जीवन का व्यवहार चल सकता है। हाँ, कभी-कभी इस नियम का अपवाद भी पाया जाता है जिसे हम भ्रम का नाम देते हैं। परन्तु कुछ अपवादों के रहते हुए भी स्वाभाविक नियम ही मान्य समझा जाता है।

※ अकार्यस्य कार्यतया भानम्। अर्थात् जो नहीं करना चाहिये वह करने योग्य प्रतीत होता है।

† इस मत और न्याय के अन्यथा-ख्यातिवाद में बहुत कुछ सादृश्य है।

३. तत्त्व-विचार

(१) सामान्य रूपरेखा

प्रत्यक्ष ज्ञान की यथार्थता के आधार पर मीमांसा जगत और उसके समस्त विषयों को सत्य मानती है। अतएव यह बौद्ध मत के शून्यवाद और क्षणिकवाद को तथा अद्वैतमत के मायावाद को नहीं मानती। प्रत्यक्ष विषयों के अतिरिक्त, यह स्वर्ग, नरक, आत्मा और वैदिक यज्ञ के देवताओं का अस्तित्व भी अन्य प्रमाणों के आधार पर मानती है। आत्मा और परमाणु नित्य अविनाशी पदार्थ हैं। कर्म के नियम के अनुसार सृष्टि की रचना होती है। संसार इन तत्त्वों से बना है—(१) शरीर या भोगायतन जिसमें जीवात्मा अपने-अपने पूर्वकर्मों का भोग करते हैं। (२) ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ जो सुख-दुःख-भोग के साधन हैं (३) सांसारिक वस्तुएँ जो भोग के विषय हैं। मीमांसा को ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं पड़ता। कुछ मीमांसक वैशेषिकों की तरह परमाणुवाद मानते हैं*। परन्तु भेद यह है कि मीमांसकों के मत में परमाणु ईश्वर के द्वारा संचालित नहीं होते। कर्म के स्वाभाविक नियम के अनुसार ही वे इस तरह प्रवर्त्तित होते हैं जिससे जीवात्माओं को कर्म-फल-भोग कराने योग्य संसार बन जाता है।

जगत् और विषयों की सत्यता

इस तरह तत्त्व-विचार की दृष्टि से मीमांसा-दर्शन वस्तुवादी (Realistic) और अनेक वस्तुवादी (Pluralistic) है। मीमांसक वेदवाक्य को प्रत्यक्ष से भी बढ़कर मानते हैं†। वे स्वर्ग, नरक, अदृष्ट आदि अनेक तत्त्वों को मानते हैं जो अतीन्द्रिय विषय होने के कारण अनुभव-गम्य नहीं हैं।

---

* सब मीमांसक ऐसा नहीं मानते। (देखिये श्लोक-वार्तिक, अनुमान प्रकरण, श्लोक १८३)। परमाणुवाद के पक्ष में जो युक्तियाँ दी गई हैं वे प्रभाकर-विजय में देखिये।

† देखिये श्लोकवार्तिक ७२,१।१।२

(२) शक्ति और अपूर्व

कार्य-कारण-सम्बन्ध के विषय में मीमांसा शक्तिवाद का सिद्धान्त मानती है। बीज में एक अदृश्य शक्ति होती है जिससे वह अंकुर उत्पन्न कर सकता है। जब यह शक्ति बाधित या नष्ट हो जाती है, (जैसे बीज को भूंज देने पर) तब वह कार्य (अंकुर) को उत्पन्न नहीं कर सकती। इसी प्रकार अग्नि में जलाने की शक्ति है। शब्द में अर्थ-बोधकता और क्रियोत्पादकता की शक्ति है, प्रकाश में भासित करने की शक्ति है। कारण में अदृष्ट शक्ति मानना इसलिये आवश्यक है कि विना उसके हम इस बात की उपपत्ति नहीं कर सकते कि कहीं-कहीं कारण (जैसे बीज या अग्नि) वर्त्तमान रहने पर भी कार्य (जैसे अंकुर या दहन-क्रिया) की उत्पत्ति नहीं होती। मीमांसक यह कहेंगे कि इन अवस्थाओं में कारण-द्रव्य विद्यमान रहते हुए भी उसकी कारण-शक्ति किसी हेतु से नष्ट या अभिभूत हो गई है जिससे कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

अदृष्ट शक्ति ❀

नैयायिक इस अदृष्ट-शक्ति को नहीं मानते। उनका कहना है कि विना इसे माने हुए भी उपर्युक्त समस्या का समाधान किया जा सकता है। बाधाएँ नहीं रहने पर कारण कार्य को उत्पन्न करता है, और बाधाएँ रहने पर नहीं उत्पन्न करता है। अर्थात् बाधाओं के अभाव में कार्य उत्पन्न होता है, भाव में नहीं। मीमांसक इस आक्षेप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि तब तो, न्यायमत के अनुसार भी, कार्य की उत्पत्ति के लिये कारण के अतिरिक्त और कुछ वस्तु (अर्थात् बाधा का अभाव) भी आवश्यक मानना पड़ेगा। फिर अन्तर क्या रहा? यदि और कुछ मानना ही है तो अभाव पदार्थ में क्रियोत्पादक शक्ति मानने के बदले भाव-पदार्थ (जैसे बीज) ही में वह शक्ति क्यों नही मानें?

न्यायमत का खंडन

❀ देखिये, शास्त्र-दीपिका (पृ० ८०) प्रकरण-पंचिका (पृ० १४०)

इस अदृष्ट शक्ति के सिद्धान्त के द्वारा मीमांसा एक बड़ी समस्या का समाधान करती है। जब उस कर्म का अस्तित्व ही नहीं रहेगा तो आज का किया हुआ कर्म (जैसे यज्ञ) इस जीवन के बाद परलोक में कैसे फलित होगा ? मीमांसा का मत है कि इस लोक में किया हुआ कर्म एक अदृष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव करता है—जिसे 'अपूर्व' कहते हैं। यह कर्म का फल भोग करने की शक्ति है जो समय पाकर फलित होती है। कर्म-फल का व्यापक नियम यह है कि लौकिक या वैदिक, सभी कर्मों के फल संचित होते हैं। अपूर्व का सिद्धान्त उसी का एक अंश है।

अपूर्व *

(३) आत्म-विचार

जीव

मीमांसा में आत्मा का विचार बहुत कुछ उसी तरह से किया गया है जैसे अन्यान्य वस्तुवादी और अनेक-वस्तुवादी दर्शनों में (यथा न्याय-वैशेषिक में)। आत्मा नित्य अविनाशी द्रव्य है जो वास्तविक जगत् में वास्तविक शरीर के साथ संयुक्त रहता है। मृत्यु के उपरान्त भी यह अपने इस जन्म के कर्मों का फल भोग करने के लिये विद्यमान रहता है। चैतन्य आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं, किन्तु एक औपाधिक गुण है जो अवस्था-विशेष में उत्पन्न हो जाता है। सुषुप्तावस्था तथा मोक्षावस्था में आत्मा को चैतन्य नहीं रहता क्योंकि उसके उत्पादक कारणों (जैसे इन्द्रिय और विषय का संयोग आदि) का अभाव हो जाता है। जितने जीव हैं उतने ही आत्मा हैं। अर्थात् प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा है। जीवात्मा बन्धन में आते हैं और उससे मोक्ष भी पा सकते हैं। इन सब बातों में मीमांसा के

आत्मा का स्वरूप †

---

* देखिये, शास्त्र-दीपिका (पृ० ८०), प्रकरण पंचिका (पृ० १८४-९५) शाबर भाष्य २।१।५

† देखिये, श्लोक-वार्तिक (आत्मवाद), शास्त्रदीपिका (आत्मवाद), प्रकरण-पंचिका (प्रकरण ८)

विचार प्राय: वही हैं जो पूर्वोक्त अन्यान्य अस्तिक दर्शनों के। अतएव पुनरुक्ति करना अनावश्यक है।

आत्मा का ज्ञान कैसे होता है इस सम्बन्ध में कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। भाट्ट सम्प्रदाय का मत है कि आत्मा का ज्ञान कभी कभी होता है, प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ आत्म-ज्ञान नहीं होता। जब हम आत्मा पर विचार करते हैं तब अपना बोध होता है कि 'मैं हूँ'। इसे अहंवित्ति (Self-consciousness) कहते हैं। इसी का विषय (object) जो पदार्थ होता है वह आत्मा है। प्राभाकर सम्प्रदाय इस मत को नहीं मानता। उसका कथन है कि 'अहंवित्ति' की धारणा ही अयुक्त है क्योंकि एक ही आत्मा उसी ज्ञान का ज्ञाता (Subject) और ज्ञेय विषय (Object) दोनों एक साथ नहीं हो सकता। जैसे, वही अन्न भोक्ता और भोज्य दोनों एक साथ नहीं हो सकता। कर्त्ता और कर्म के व्यापारों में परस्पर-विरोध होता है। एक ही क्रिया में एक ही साथ एक ही वस्तु कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकती। प्रत्येक विषयज्ञान में उसी ज्ञान के द्वारा आत्मा कर्त्ता के रूप में उद्भासित होता है। इसलिये जब हमें कोई भी ज्ञान होता है (जैसे 'यह घड़ा है') तब हम कहते हैं 'मैं घड़ा देख रहा हूँ' अथवा 'मुझे घड़े का ज्ञान हो रहा है'। यदि यहाँ मैं स्वयं ज्ञाता के रूप में प्रतीत नहीं होता तो फिर मेरे और दूसरे व्यक्ति के ज्ञान में अन्तर किस आधार पर कायम किया जाता ? ※

आत्मज्ञान

प्राभाकरमत

इसके उत्तर में भाट्ट सम्प्रदाय का कथन है कि यदि प्रत्येक विषयज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान उद्भासित होता तो 'मैं इस घड़े को जान रहा हूँ', ऐसा भाव सर्वदा वर्त्तमान रहता। परन्तु प्रत्येक विषय-ज्ञान के साथ ऐसा भाव नहीं होता। इससे सूचित होता है कि आत्मज्ञान विषय-ज्ञान का नित्य सहचर नहीं

भाट्ट मत

※ देखिये, प्रकरण-पंचिका (पृ० १४८)

है। वह कभी उदित होता है, कभी नहीं होता। अतएव वह विषय-ज्ञान से भिन्न है। तब रहा कर्त्ता और कर्म का विरोध। सो यह कोरा शब्द-जाल है। यदि दोनों में वास्तविक विरोध होता तो यह वैदिक विधिवाक्य कि *आत्मानं विद्धि* (अपने आत्मा को पहचानो) अथवा यह लौकिक प्रत्यय कि 'मैं अपने को जानता हूँ' बिलकुल निरर्थक हो जाता। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा कभी ज्ञान का विषय नहीं होता तो फिर अतीत काल में अपने आत्मा के अस्तित्व को स्मरण करना कैसे संभव होता? क्योंकि अतीतकालीन आत्मा तो इस ज्ञान का ज्ञाता है नहीं, यह केवल वर्त्तमान-कालीन आत्मा के स्मृतिज्ञान का विषय हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञान का विषय हो सकता है। ❀

ज्ञानविचार

इसी प्रश्न से लगा हुआ एक दूसरा प्रश्न उठता है—'ज्ञान का का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है?' प्राभाकर मीमांसकों का मत है कि प्रत्येक विषय-ज्ञान में, जैसे, 'मैं यह घड़ा जानता हूँ' तीन अंग विद्यमान रहते हैं— (१) ज्ञाता अर्थात् जानने वाला (मैं) (२) ज्ञेय— जो विषय जाना जाता है (जैसे घड़ा) और (३) ज्ञान (अर्थात् घड़े को जानना)। इन तीनों का ज्ञान एक साथ होता है। इसे '*त्रिपुटीज्ञान*' कहते हैं। जब कभी ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञाता, ज्ञेय और अपने, इन तीनों को प्रकट करता है। अतएव ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय का प्रकाशक होने के साथ-साथ स्वयं-प्रकाश भी होता है। परन्तु इसके विपरीत भाट्ट मीमांसकों का कहना है कि ज्ञान स्वभावतः अपना विषय स्वयं नहीं हो सकता, जैसे अंगुली का अग्रभाग अपने को नहीं छू सकता। तब हम यह कैसे जानते हैं कि हमें अमुक विषय का ज्ञान हो रहा है? इसके उत्तर में भाट्ट मीमांसक कहते हैं कि जब हमें कोई विषय प्रत्यक्ष होता है तब वह या तो परिचित रहता है या अपरिचित। यदि वह ज्ञात (परिचित) रहता है तब उस ज्ञातता के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकालते

❀ देखिये शास्त्रदीपिका (पृ० १२२-२३)

हैं कि हमें उस विषय का पूर्व ज्ञान था। इस तरह ज्ञान का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता। वह परोक्ष रूप—से ज्ञातता के आधार पर—अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है।

४. धर्म-विचार

(१) वेदों का महत्त्व

वैदिक धर्म

मीमांसक जगत्-कर्त्ता या ईश्वर को नहीं मानते। नित्य वेद-ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता स्थापित करने की धुन में मीमांसा को ईश्वर की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। बल्कि ईश्वर को प्रधानता देने से वेद का महत्त्व गौण (या कम से कम बराबर) हो जायगा, शायद इसलिये मीमांसा में ईश्वरवाद का मण्डन नहीं पाया जाता। मीमांसा की दृष्टि में वेद नित्य ज्ञान के भंडार तो हैं ही, उससे अधिक वे शाश्वत (नित्य) विधि-वाक्यों या नियमों के आगार हैं जिनके अनुसार आचरण (यज्ञादि क्रिया) करने से हम धर्म प्राप्त कर सकते हैं। उस तरह धर्म का अर्थ ही हो जाता है वेद-विहित कर्त्तव्य। कर्त्तव्यता और अकर्त्तव्यता का मानदण्ड वेद-वाक्य ही है। वैदिक आदेशों के अनुसार जीवन ही उत्तम जीवन है।

(२) कर्त्तव्यता

कर्मकाण्ड

वैदिक युग में जो यज्ञ किये जाते थे वे अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य, आदि देवताओं को स्तुति और आहुति के द्वारा सन्तुष्ट करने के लिये, जिससे वे इष्ट-प्रदान या अनिष्ट-निवारण करें। मीमांसा वैदिक धर्म की शाखा है। परन्तु उसमें कर्म-काण्ड (वैदिक प्रक्रियाओं) को इतना अधिक महत्त्व दिया गया है कि देवताओं का स्थान गौण हो गया है। देवता केवल सम्प्रदान-कारक-सूचक पद मात्र हैं (जिनके लिये हवि या आहुति दी जाती है)। उनके गुण या धर्म का कोई वर्णन नहीं है। उनकी

उपयोगिता केवल इसी बात को लेकर है कि उनके नाम पर होम किया जाता है। एक प्रसिद्ध मीमांसक * का मत है कि यज्ञ करने का प्रधान उद्देश्य पूजा या देवता को सन्तुष्ट करना नहीं, वरन् अपने आत्मा को शुद्ध करना अर्थात आध्यात्मिक उन्नति है। वैदिक कर्म इसीलिये करना चाहिये कि वेद हमें ऐसा करने के लिये आदेश देते हैं। इनमें कुछ 'काम्यकर्म' हैं जो स्वर्ग, वृष्टि आदि की कामना से किये जाते हैं परन्तु कुछ कर्म (नित्य और नैमित्तिक कर्म) ऐसे आवश्यक कर्म हैं, जिनका पालन करना इसीलियें कर्त्तव्य है कि वेद की वैसी आज्ञा है। यहाँ कर्मकाण्ड के मार्ग से मीमांसा का धर्मशास्त्र अपने चरम उत्कर्ष-विन्दु पर पहुँच जाता है जहाँ निष्काम कर्म (Duty for Duty's sake) ही धर्म माना जाता है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कांट (Kant) की तरह मीमांसक भी कहते हैं कि कर्त्तव्य-पालन इसलिये नहीं करना चाहिये कि उससे हमारा उपकार होगा बल्कि इसलिये कि कर्त्तव्य पालन करना हमारा धर्म है। कांट की तरह उनका भी यह विश्वास है कि यद्यपि सकाम भाव से धर्म नहीं करना चाहिये तथापि यह सृष्टि ऐसी है कि जो धर्म करता है वह उसके फल (सुख) से वंचित नहीं रह सकता। अन्तर केवल इतना ही है कि जहाँ इस फल के वितरण के लिये कांट ईश्वर का सहारा लेते हैं वहाँ मीमांसक केवल कर्म-फल के स्वाभाविक नियम का अवलम्बन करते हैं। कांट के लिये कर्त्तव्यता का मूल-स्रोत है आत्मा का उच्चतर रूप (Higher Self) जिससे उसका निम्न रूप (Lower Self) अनुप्रेरित होता है)। मीमांसक के लिये कर्त्तव्यता का मूल स्रोत एकमात्र अपौरुषेय वेद-वाक्य है जो निष्काम कर्म करने के लिये आदेश देता है।

(३) निःश्रेयस

प्राचीन मीमांसकों के मत में स्वर्ग (अर्थात् नित्य निरतिशय आनन्द की प्राप्ति) ही जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है।

* देखिये प्रकरण-पंचिका (पृ० १५६-५६)

इसलिये कहा गया है—स्वर्गकामो यजेत। अर्थात् जो स्वर्ग चाहता है वह यज्ञ करे। सभी कर्मों का अन्तिम उद्देश्य है स्वर्गप्राप्ति। परन्तु धीरे-धीरे मीमांसक गण भी अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह मोक्ष (अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्ति) को सबसे बड़ा कल्याण (निःश्रेयस) मानने लगे। उनका मत है कि यदि सकाम भाव से (किसी विषय की प्राप्ति की इच्छा से) कर्म (पुण्य या पाप कर्म) किया जाय तो उसके फलस्वरूप बारंबार जन्म लेना पड़ता है। जब मनुष्य समझ जाता है कि समस्त सांसारिक सुख दुःख-मिश्रित होते हैं और वह इस सांसारिक जीवन से ऊब जाता है, तब वह अपनी वासनाओं को दमन करने की चेष्टा करता है और पाप-कर्म से विरत होकर उन सभी कर्मों को भी छोड़ देता है जो सुख-प्राप्ति के निमित्त किये जाते हैं। इस तरह पुनर्जन्म और भवबन्धन से छुटकारा मिल जाता है। निष्काम धर्माचरण और आत्मज्ञान के प्रभाव से पूर्वकर्मों के संचित संस्कार भी क्रमशः लुप्त हो जाते हैं। तब इस जन्म के बाद पुनर्जन्म नहीं होता और कर्म का बन्धन छूट जाता है। अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। इसी को मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। शरीर, इन्द्रियाँ, मन सभी के बन्धनों से आत्मा मुक्त हो जाता है और एकबार बन्धन का नाश हो जाने पर फिर कभी वह जन्म-मरण के जाल में नहीं फँसता *।

स्वर्ग और मोक्ष (3)

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मीमांसा में चैतन्य को आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं माना जाता। जब आत्मा शरीर और इन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्पर्क में आ जाता है तभी उसे सुख-दुःख आदि के अनुभव या ज्ञान होते हैं। मुक्त आत्मा शरीर इन्द्रियों और मन से पृथक् हो जाता है, इसलिये उसमें चैतन्य का धर्म नहीं रहता। अतएव वह सुख-दुःख का अनुभव नहीं कर सकता। अतः मोक्षावस्था आनन्द की अवस्था

मोक्षावस्था

* देखिये, प्रकरण-पंजिका, (प्रकरण ८, पृ० १५४-६०)

नहीं है। यह अवस्था इसलिये वांछनीय है कि इसमें सभी दुःखों का सर्वदा के लिये अन्त हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें आत्मा सुख दुःख से परे, अपने यथार्थ स्वरूप में रहता है*। आत्मा को इस स्वस्थ-भाव का इसके सिवा और शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता कि उसमें केवल सत्ता और चैतन्य की निहित शक्ति (वास्तविक चैतन्य नहीं) विद्यमान रहती है।

(४) क्या मीमांसा-दर्शन अनीश्वरवादी है ?

क्या मीमांसा-दर्शन को निरीश्वरवादी कहना चाहिये ? मीमांसा वेद की इतनी कट्टर अनुयायिनी है, इसको ध्यान में रखते हुए यह विश्वास करना कठिन प्रतीत होता है कि मीमांसा वैदिक ईश्वर को नहीं मानती है। परन्तु मैक्समूलर (Maxmuller)† साहब का कहना है कि मीमांसकों ने सृष्टिकर्त्ता के विरुद्ध जो युक्तियाँ दी हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि यदि ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता मान लिया जाय तो उन पर क्रूरता, पक्षपात आदि के दोष आरोपित हो जाते हैं। परन्तु सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानने का अर्थ निरीश्वरवाद नहीं है। मैक्समूलर साहब कहते हैं कि कुछ सर्वेश्वरवादी (Pantheistic) दर्शन (जैसे अद्वैत वेदान्त या Spinoza का दर्शन) भी तो सृष्टि को यथार्थ नहीं मानते परन्तु वे सृष्टिकर्त्ता के रूप में ईश्वर को नहीं मानते, इसलिये उन्हें निरीश्वरवादी कहना न्यायसंगत नहीं होगा।

भिन्न-भिन्न मत

यदि मीमांसा को वैदिक परम्परा की दृष्टि से (जिसपर मीमांसा को इतना गर्व है) देखा जाय तो प्रायः मैक्समूलर साहब का कहना ठीक है। परन्तु मीमांसा जो स्वयं कहती और करती है, उस दृष्टि से देखने पर उनका

समीक्षा

* देखिये, शास्त्र-दीपिका (पृ० १२५-३१)

† देखिये, The Six Systems of Indian Philosophy (Chap. V) स्वर्गीय डा० पशुपतिनाथ शास्त्री ने भी अपने Introduction to the Purva Mimamsa में इसी मत का प्रतिपादन किया है।

विचार सर्वथा ग्राह्य नहीं हो सकता। जब हम देखते हैं कि प्राचीन मीमांसक ईश्वर के बारे में चुप हैं और पीछे के मीमांसक जैनों की तरह ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणों का खंडन करते हैं (और ईश्वरवाद के लिये नये प्रमाण भी नहीं देते) तो हमारे पास इस बात के लिये कोई प्रमाण नहीं रह जाता कि वैदिक धर्म के ईश्वर में कभी उनकी आस्था थी। हाँ, वैदिक देवताओं का यज्ञों से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मीमांसा बहुदेवतावादी (Polytheistic) है। परन्तु यह विचार भी निःसंदेह रूप में कहीं माना जा सकता, क्योंकि इन देवताओं का अस्तित्व केवल वैदिक मन्त्रों में ही है। न कहीं इनकी पृथक् सत्ता मानी गई है न इन्हें पूज्य ही स्वीकार किया गया है ❀। वैदिक मंत्र पूजास्थान में देवता के अधिष्ठान से अनुप्रेरित हुए हैं। परन्तु मीमांसा इस बात पर आश्चर्य करती है कि एक ही देवता एक ही समय में भिन्न-भिन्न पूजास्थानों में (जहाँ उनका आवाहन किया गया है) कैसे उपस्थित रह सकते हैं। इसलिये यह भी कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि मीमांसा अनेकेश्वरवादी है †।

मीमांसा के देवता महाकाव्यों के अमर पात्रों की तरह हैं। वे देश-काल-जगत् के नहीं हैं। वे यथार्थ पुरुष नहीं, किन्तु आदर्श-स्वरूप हैं। परन्तु एक अर्थ में वे इन पात्रों से अधिक हैं, क्योंकि वे काल्पनिक नहीं। वे शाश्वत स्वतः-प्रकाश्य चरित्र हैं, क्योंकि वे नित्य स्वतः-प्रकाश्य वेदों में वर्णित हैं। ऐसे देवताओं में ऐश्वर्य और पवित्रता का भाव भले ही मिल सके परन्तु वैदिक ईश्वर का भाव उनमें नहीं आता। अतएव वैदिक परम्परा की दृष्टि से मीमांसा का निरूपण करना उचित नहीं। परम्परागत धर्म के अंग, शरीर के अंग की तरह, अनुपयोग से जीर्ण हो जाते हैं। मीमांसा-दर्शन जीवन का जो नक्शा खींचता है उसमें वैदिक ईश्वर का कोई व्यावहारिक

❀ देखिये, डा० गंगानाथ झा द्वारा श्लोकवार्तिक का अंग्रेजी अनुवाद।

† देखिये, प्रकरण-पंजिका (पृ० १५६)

प्रयोजन नहीं पड़ता। अतएव वैदिक ईश्वर धीरे-धीरे मिट गये हैं। मीमांसा-दर्शन मानव-जीवन के इतिहास के इस स्वाभाविक नियम का एक दृष्टान्त है कि कैसे साधन का महत्त्व अतिरंजित होने से वह स्वयं साध्य का आसन ग्रहण कर लेता है और मन्दिर, तथा सन्त महात्माओं की वेदी पर ईश्वर का बलिदान चढ़ जाता है। मीमांसा ने वेद के महत्त्व को इतना अधिक बढ़ाया है कि वैदिक युग में देवताओं में जो ज्वलन्त विश्वास था वह धीरे-धीरे म्लान हो गया। फिर भी वैदिक वाक्यों का प्रामाण्य और अर्थ का सूक्ष्म-विचार करते हुए मीमांसा ने जिन युक्तियों और सिद्धान्तों का उद्भावन किया है वे बहुत ही उच्च कोटि के हैं और इसलिये मीमांसा को दर्शनों में एक आदरणीय स्थान प्राप्त है।

---

unit — III

१०

वेदान्त दर्शन

१. विषय-प्रवेश

(१) वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति और विकास

'वेदान्त' का शब्दार्थ है वेद का अन्त। प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। पीछे उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों का विकास हुआ उनके लिये भी इस शब्द का व्यवहार होने लगा। उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अन्त कहा जा सकता है।

'वेदान्त' का अर्थ

(१) उपनिषद् वैदिक युग के अन्तिम साहित्य हैं। वैदिक काल में तीन प्रकार का साहित्य देखने में आता है। सबसे पहले वैदिक मन्त्र जो भिन्न-भिन्न संहिताओं (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) में संकलित हैं। ततः पर ब्राह्मण-भाग जिसमें वैदिक कर्मकाण्ड की विवेचना है। अन्त में उपनिषद् जिसमें दार्शनिक तथ्यों की आलोचना है। ये तीनों मिलकर 'श्रुति' या 'वेद' (अधिक व्यापक अर्थ में) कहलाते हैं।

(२) अध्ययन के विचार से भी उपनिषदों की बारी अन्त में आती थी। लोग सामान्यतः संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित कर्म (यज्ञादि) करने के लिये 'ब्राह्मण' का प्रयोजन पड़ता था। वानप्रस्थ या संन्यास लेने पर 'आरण्यक' का। इन्हें 'आरण्यक' इसलिये कहते थे कि अरण्य या वन में एकान्त जीवन बिताते हुए लोग जगत् का रहस्य और जीवन का

उद्देश्य समझने की चेष्टा करते थे। उपनिषदों का विकास इसी आरण्यक-साहित्य से हुआ है।

(३) उपनिषद् को इस अर्थ में भी वेद का अन्त माना जा सकता है कि वेदों में जो विचार पाये जाते हैं उन्हीं का परिपक्व रूप उपनिषद् में पाया जाता है। स्वयं उपनिषदों में ही कहा गया है कि वेद-वेदाङ्ग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य का ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं करता। *

वेदान्त का साहित्य

उपनिषद् (उप + नि + सद्) का अर्थ है 'जो ईश्वर के समीप पहुंचावे' अथवा जो 'गुरु के समीप पहुँचावे'। † यह दूसरा अर्थ इस बात से भी मेल खाता है कि उपनिषदों के सिद्धान्त गूढ़ रखे जाते थे अर्थात वे केवल कुछ चुने हुए अधिकारी शिष्यों को ही बताये जाते थे जो गुरु के समीप (उपासन्न) बैठते थे ‡ उपनिषदों को वेद का गूढ़ रहस्य समझा जाता था, इसलिये उन्हें वेदोपनिषद् § भी कहा जाता था। भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों में, भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में नाना उपनिषद् बने। ¶ यद्यपि उन सबों में मूलतः विचार-सादृश्य है, तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन समस्याओं की विवेचना की गई है और उनके जो समाधान दिये गये हैं उनमें कुछ विभिन्नता भी पाई जाती है। अतएव काल-क्रम से आवश्यक

---

* देखिये, छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय, ६,७)

† देखिये, कठ, तैत्तिरीय और बृहदारण्यक में शंकर की भूमिका।

‡ उप पूर्वक सद् धातु का व्यवहार उपनिषदों में गुरु के समीप शिक्षार्थ बैठने के अर्थ में किया गया है।

§ देखिये, तैत्तिरीय, १।११

¶ ११२ उपनिषदों की नामावली के लिये Dasgupta की History of Indian Philosophy (Vol I-Page 28) देखिये।

होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार हैं उनका विरोध-परिहार कर सर्व-सम्मत उपदेशों का संकलन किया जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बादरायण ने *ब्रह्मसूत्र* (जिसे *वेदान्तसूत्र*, *शारीरकसूत्र*, *शारीरक-मीमांसा* या *उत्तर-मीमांसा* भी कहते हैं) की रचना की।

बादरायण ने उपनिषदों का ऐकमत्य स्थापित करने का प्रयास किया है। उनके विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं या किये जा सकते हैं उनका भी परिहार उन्होंने किया है। उनके सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त हैं। अतः उनकी व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से होने लगी। ब्रह्मसूत्र पर अनेक भाष्य लिखे गये जिनमें भाष्यकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्त का प्रतिपादन किया। प्रत्येक भाष्यकार यह सिद्ध करने की चेष्टा में लगे कि उन्हीं का भाष्य श्रुति और मूलग्रन्थ (सूत्र) का असली तात्पर्य बतलाता है। हरएक भाष्यकार एक-एक वेदान्त-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बन गये। इस तरह शंकर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चल पड़े। वेदान्त के किसी सम्प्रदाय से केवल उन दार्शनिकों का बोध नहीं होता जो सिद्धान्ततः उस विचार को मानते हैं, अपितु उस विशाल जनसमूह का भी बोध होता है जो व्यवहारतः उस सिद्धान्त के अनुयायी होकर अपने जीवन को उसी साँचे में ढालने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वेदान्त का प्रभाव अभी तक लाखों व्यक्तियों के जीवन में वर्त्तमान है।

वेदान्त के सम्प्रदाय

भाष्यों के अनन्तर वेदान्त पर अनेकों टीका-टिप्पणियों तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना हुई। प्रत्येक सम्प्रदाय के विद्वान् अपने-अपने पक्ष का स्थापन तथा प्रतिपक्षियों के मत का खण्डन करने लगे। इस प्रकार वेदान्त के साहित्य का भंडार बढ़ते-बढ़ते बहुत समृद्ध हो गया। किन्तु उसका थोड़ा ही अंश अभी तक प्रकाशित हो सका है।

वेदान्त का मुख्य विषय जिस पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का मत-भेद है यह है कि जीव और ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है ? मध्वाचार्य प्रभृति कुछ विद्वानों का मत है कि जीव और ब्रह्म (आत्मा और परमात्मा) बिल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। इस मत को 'द्वैतवाद' कहते हैं। शंकराचार्य प्रभृति का मत है कि दोनों बिल्कुल अभिन्न हैं। इस मत को 'अद्वैतवाद' कहते हैं। रामानुज प्रभृति आचार्यों का मत है कि दोनों कुछ अंश में भिन्न और कुछ अंश में अभिन्न है। इस मत को 'विशिष्टाद्वैतवाद' कहते हैं। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के भेद, अभेद और भेदाभेद सम्बन्ध स्थापित करने वाले अनेक मत हैं, जिनके नाम गिनाने से लम्बी सूची बन जायगी। इनमें सब से प्रसिद्ध है शंकर का अद्वैत और रामानुज का विशिष्टाद्वैत।

द्वैत और अद्वैतवाद

वेदान्त के विकास में तीन युग देखने में आते है। (१) आदि-काल में श्रुति या वेद का साहित्य, विशेषतः उपनिषद् का साहित्य, पाया जाता है जो वेदान्त का मूल स्रोत कहा जा सकता है। इस युग में वेदान्त के विचार विशेषतः द्रष्टाओं की रहस्यमय अनुभूतियों तथा कवित्वमय उद्गारों के रूप में प्रकट हुऐ हैं। (२) मध्यकाल वह है जिसमें इन विचारों का संकलन, समन्वय तथा युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इस युग का प्रधान ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्र। (३) अन्तिम काल में हम उन समस्त भाष्यों टीकाओं तथा अन्यान्य ग्रन्थों को रखते हैं जिनमें वेदान्त के विचारों को तर्क की कसौटी पर रख कर विचार किया गया है अर्थात् वेदों की दुहाई न देकर स्वतंत्र युक्तियों का अवलम्बन किया गया है।

वेदान्त का विकास

यद्यपि इनमें प्रत्येक युग की विचार-धारा की पृथक्-पृथक् समीक्षा करना संभव है तथापि स्थानाभाव के कारण उन सबों का एक ही साथ विचार किया जायगा। अपने देश के प्राचीन पंडितों की दृष्टि में वेदान्त की विचार-धारा नदी की धारा की तरह एक स्रोत से निकली हुई, भिन्न भिन्न अवस्थाओं से होकर आगे बढ़ती हुई

क्रमशः विस्तीर्ण और अनेक शाखाओं में प्रवाहित होती गई है। अब वेद-उपनिषद् से वेदान्त के विकास का दिग्दर्शन किया जाय।

(२) वेदों और उपनिषदों से वेदान्त का विकास

ऋक्, यजुः और साम, इन तीन वेदों में ऋग्वेद आधारभूत मूल-ग्रन्थ है। शेष दोनों (यजुर्वेद और सामवेद) में यज्ञों के निमित्त भिन्न क्रमों से ऋग्वेद के मन्त्र आये हैं। ऋग्वेद के मन्त्र मुख्यतः अग्नि, मित्र, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुति में आये हैं। उनमें भिन्न-भिन्न देवताओं की शक्तियों और आश्चर्यजनक कार्यों का वर्णन किया गया है और उनसे सहायता या वरदान की प्रार्थना की गई है। स्तुतिपाठ के साथ-साथ हवन कुण्ड में घृत आदि वस्तुओं की आहुति देकर देवताओं को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ किया जाता था। ये देवता क्या हैं, प्रकृति के विभिन्न अंशों में अन्तर्निहित अधिष्ठाता हैं जो उन्हें संचालित करते हैं। यथा अग्नि, सूर्य, वायु, इन्द्र, आदि। जीवन, कृषिकार्य और अभ्युदय, सब कुछ इन्हीं की कृपा पर निर्भर समझा जाता था। वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि प्रकृति के सभी कार्य सर्वव्यापी नियम ('ऋत') के अनुसार होते हैं जिससे सभी जीव और विषय परिचालित होते हैं। इसी ऋत के द्वारा चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह अपने स्थानों पर अवस्थित रहते हैं। इसी ऋत के द्वारा सभी जीवों को न्यायानुसार कर्म के फल मिलते हैं।

वैदिक देवता

अनेक ईश्वरों में विश्वास रखना अनेकेश्वरवाद (Polytheism) कहलाता है। अतएव वेदों को बहुधा अनेकेश्वरवादी कहा जाता है। परन्तु वैदिक विचार-धारा में एक विशेषता है जिसके कारण इस मत को मानने में संदेह होता है। बात यह है कि जिसी देवता की प्रशंसा वैदिक मंत्रों में की गई है प्रायः उसी को कर्त्ता हर्त्ता विधाता सब कुछ मान लिया गया है और इस तरह कभी इन्द्र को, कभी अग्नि को, कभी वरुण को सर्व-

Henotheism

शक्तिमान् ईश्वर समझ कर स्तुति की गई है। अतएव मैक्समूलर साहब का विचार है कि वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद कहना ठीक नहीं है। इसके लिये वे एक नया शब्द गढ़ते हैं 'हिनोथीज्म' (Henotheism)।

वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद माना जाय अथवा 'हिनोथीज्म' यह बहुत कुछ स्तुति-मंत्रों के अर्थ पर निर्भर करता है। भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रत्येक देवताओं को जो सर्वश्रेष्ठ पद दिया गया है उसे यदि अतिशयोक्ति मान लिया जाय, तो वैदिक धर्म को अनेकेश्वरवाद समझ सकते हैं। परन्तु यदि उन मंत्रों को वाच्यार्थ में लिया जाय (अर्थात् यह मान लिया जाय कि वैदिक ऋषियों ने जो कहा है सो ठीक ही उनका विश्वास था) तो 'हिनोथीज्म' नाम ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। यह दूसरा मत इस बात से और पुष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद में बहुत से ऐसे मंत्र पाये जाते हैं जिनमें सभी देवताओं को एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूप या शक्ति कहा गया है। *एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति* "(ऋग्वेद १।१६४।४६) ❀ अर्थात् एक ही सत्ता है जिसे विद्वान् भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। इतना स्पष्ट वचन पाने पर इस विषय में अधिक शंका की गुंजाइश नहीं रह जाती कि वैदिक ऋषि सभी देवताओं को मूलतः एक ही समझते थे।

एकेश्वरवाद

कतिपय विद्वानों का मत है कि वैदिक विचारधारा में एक क्रमिक विकास पाया जाता है। पहले अनेकेश्वरवाद (Polytheism) से प्रारंभ कर, हिनोथीज्म' (Henotheism) होते हुए, अन्त में एकेश्वरवाद (Monotheism) पर पहुंचा गया है। ऐसा समझना ठीक हो सकता है। परन्तु पाश्चात्य आलोचकों को सन्तुष्ट करने के प्रयास में हमें इस बात को भूल नहीं जाना चाहिये कि भारतीय एकेश्वरवाद अपने सुविकसित

❀ और भी मंत्र देखिये, ऋग्वेद १०।११४।४, १०।१२९, १०।८२ इत्यादि।

रूप में भी इस धारणा को नहीं छोड़ता कि यद्यपि ईश्वर वस्तुतः एक ही है तथापि वह विविध देवताओं के रूप में प्रकट होता है जिनमें किसी की भी परमेश्वर के रूप में आराधना की जा सकती है। अभी भी अपने देश में शैव, वैष्णव आदि अनेकों सम्प्रदाय साथ-साथ चल रहे हैं जिनके मूल में वस्तुतः एक ही परमेश्वर या सर्वव्यापी सत्ता है। वैदिक युग से लेकर अभी तक भारतीय एकेश्वरवाद का यही विश्वास रहा है कि सभी देवता एक ही परमेश्वर के रूप हैं। अतः एक परमेश्वर में विश्वास रखने के लिये अनेक देवताओं का अस्वीकार करना आवश्यक नहीं समझा जाता था। अतएव भारतीय एकेश्वरवाद में एक विशेषता है जो ईसाई या इस्लाम धर्म में नहीं है। यह विशेषता केवल वैदिक युग में ही नहीं पाई जाती। यह हिंदू धर्म का सनातन विश्वास है।

पुरुष सूक्त

ऋग्वेद का यह विचार कि सभी देवता ईश्वर के रूप हैं उस व्यापक सिद्धान्त पर आश्रित है कि मूल सत्ता एक ही है। वेद में इस सिद्धान्त का स्पष्ट रूप से उल्लेख पाया जाता है। प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में (जो आजकल भी नैष्ठिक ब्राह्मण प्रतिदिन पाठ करते हैं) वैदिक ऋषि सम्पूर्ण जगत् को एक रूप में देखते हैं। मानवीय इतिहास में प्रायः यही अद्वैत की प्रथम अनुभूति है। इस सूक्त का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठदशाङ्गुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्ने नातिरोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥
त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत्साशनानशने अभि ॥४॥

अर्थात् पुरुष के सहस्र मस्तक हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पैर हैं। वह समस्त पृथ्वी में व्याप्त है और उससे दस अंगुल परे भी हैं।

जो कुछ है और जो कुछ होगा सो सब वही पुरुष है। वह अमरत्व का स्वामी है। जितने अन्न से पलनेवाले जीव हैं सब में वही है। उसकी इतनी बड़ी महिमा थी। और उससे भी बड़ा वह पुरुष था। सम्पूर्ण विश्व उसका एक पाद (चौपाई) मात्र है; तीन पाद बाहर अन्तरिक्ष में हैं।

उसके एक पाद से सर्वभूत व्याप्त है। और तीन पाद अमृत हैं जो धुर्लोक में हैं। वही चारों ओर चराचर विश्व में व्याप्त है।

यहाँ पृथ्वी, स्वर्गलोक, ग्रह-नक्षत्र, देवता, जड़, चेतन सभी पदार्थ एक ऐसे पुरुष के अंश माने गये हैं जो सम्पूर्ण विश्व में तो व्याप्त है ही, उसके बाहर भी विद्यमान है। जो कुछ है, था, या होगा, सब उसी एक में सन्निहित है। इस मंत्र में केवल विश्व की एकता ही का कवित्वमय चित्र नहीं, बल्कि उस परमपुरुष की भी झलक है जिसकी सत्ता विश्व के भीतर भी है और बाहर भी है।

ईश्वर सर्वव्यापी है। किन्तु उनकी सत्ता विश्व में ही सीमित नहीं है। वे उससे परे भी हैं। (देखिये उपर्युक्त मंत्र १ और ३)। पाश्चात्य धर्म-विज्ञान में इसे Panentheism (जिसे हिन्दी में निमित्तोपादानेश्वरवाद कह सकते हैं) कहते हैं। Pantheism (सर्वेश्वरवाद) में ईश्वर जगत् का उपादान कारण माना जाता है। परन्तु Panentheism में ईश्वर को उपादान और निमित्त दोनों माना जाता है। ईश्वर सम्पूर्ण जगत् का अधिष्ठाता है। समस्त विश्व से भी वह बड़ा है, क्योंकि समस्त विश्व उसके अधीन है। वैदिक ऋषि की दिव्य दृष्टि इतनी दूर तक पहुँच गई है कि इस एक ही मंत्र में उन्होंने अद्वैत, जगदैक्यवाद तथा निमित्तोपादानेश्वरवाद के तत्त्व भर दिये हैं।

वेद के नासदीय सूक्त में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जिस मूल सत्ता से सब कुछ उत्पन्न हुआ है, जो प्रत्येक वस्तु में

विद्यमान है, उसे न सत् कहा जा सकता है न असत्। यहाँ हमें पहले-पहल उस निर्गुण ब्रह्म के दर्शन होते हैं (जिसे पाश्चात्य दर्शन में Absolute कहते हैं) जो सभी वस्तुओं का अन्तस्तत्त्व है किन्तु स्वतः अवर्णनीय है।

नासदीय सूक्त

मंत्र का प्रारंभ ऐसे होता है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा पुरो यत्।

अर्थात् जो कुछ है सो पहले नहीं था, जो कुछ नहीं है सो भी नहीं था। न आकाश था न उसके परे स्वर्गलोक।

मंत्र के अन्त में ऐसे कहा गया है—

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।

अर्थात् यह सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है, उसने इसे बनाया या नहीं बनाया, सबसे ऊंचे लोक का सबसे ऊंचा विद्वान् प्रायः इसे जानता हो या शायद वह भी नहीं जानता हो।

मूलतत्त्व की सगुण ईश्वर के रूप में और निर्गुण ब्रह्म के रूप में जो कल्पनाएँ की गई हैं, उन दोनों में क्या सम्बन्ध है इसे समझने के लिये हमें यह बात देखनी चाहिये कि सगुण ईश्वर की सत्ता भी विश्व में सीमित नहीं मानी गई है अर्थात् वह भी अनन्त माने गये हैं। अतएव सगुण और निर्गुण ये एक ही आदि तत्त्व के दो रूप हैं।

ईश्वर और ब्रह्म

इस तरह यद्यपि ऋग्वेद में दर्शन के बहुतेरे महत्त्वपूर्ण तथ्य विद्यमान हैं तथापि वे काव्य के रूप में हैं। ऋषिगण किस प्रणाली से उन तथ्यों पर पहुँचे हैं या किन युक्तियों के आधार पर उन्हें मानते हैं, इसका कहीं उल्लेख नहीं है। दर्शन का आधार मुख्यतः तर्क या युक्ति है। इस दृष्टि से देखा जाय तो वेद वास्तविक अर्थ में दार्शनिक ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते। सबसे पहले उपनिषदों में दार्शनिक विचार मिलते हैं। उनमें आत्मा, ब्रह्म और जगत् की समस्याओं पर

उपनिषद् में तत्त्व-ज्ञान

शंका-समाधान पाये जाते हैं। परन्तु उनमें भी निष्कर्ष पर पहुँचने की तार्किक प्रणाली—जिसमें हेतु या युक्ति के द्वारा ही किसी तथ्य पर पहुँचा जाता है—कम ही देखने में आती है। कुछ उपनिषद् छन्दोबद्ध हैं और ऋग्वेद की तरह दार्शनिक तथ्यों पर कवित्वमय उद्‌गार हैं। कुछ गद्यमय उपनिषद् भी ऐसे ही हैं। केवल थोड़े ही से उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें वार्त्तालाप के द्वारा—प्रश्नोत्तर के रूप में—शंका समाधान करते-करते—किसी सिद्धान्त पर पहुँचा गया है। परन्तु कठोर तर्क-प्रणाली का अभाव होते हुए भी उपनिषदों में एक असाधारण सौन्दर्य और आकर्षण है। इसका कारण है कि उनमें विचारों की उच्चता, अनुभूति की गंभीरता, मनुष्य में निहित सत्यं शिवं सुन्दरम् की अनुप्रेरणा और भाषा की व्यंजना शक्ति ऐसी है, जो प्रतीत होता है कि दिव्य दृष्टि से उन सत्यों के दर्शन हुए हों। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक शोपेनहर उपनिषदों से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने कहा है—"सम्पूर्ण संसार में किसी ग्रन्थ का अध्ययन उतना कल्याण-कारक और उतना शान्तिदायक नहीं जितना उपनिषदों का। यही मेरे जीवन की शान्ति रही है, यही मेरी मृत्यु की शान्ति रहेगी।"

उपनिषदों की समस्याएं

उपनिषदों की कुछ प्रमुख समस्याएँ ये हैं—वह आदि तत्त्व क्या है जिससे सब कुछ उत्पन्न होता है? जिसमें सब कुछ स्थित रहता है और जिसमें सब कुछ विलीन हो जाता है? वह कौन-सा सत्य है जिसे जानने से सभी कुछ ज्ञात हो जाता है? वह क्या है जिसके ज्ञान से अज्ञात ज्ञात हो जाता है? किस तत्त्व को जान लेने से अमरत्व प्राप्त हो जाता है? ब्रह्म क्या है? आत्मा क्या है? जैसा इन प्रश्नों से ही मालूम होता है, उपनिषद् के रचयिताओं का दृढ़ विश्वास था कि एक सर्वव्यापी सत्ता है जिससे सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ स्थित हैं, जिसमें सभी वस्तुएँ विलीन हो जाती हैं, और इस तत्त्व के ज्ञान से अमरत्व प्राप्त हो सकता है।

इस तत्व को कभी 'ब्रह्म', कभी 'आत्मा', कभी केवल 'सत्' कहा गया है। नीचे कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। ऐतरेय ❀ और

ब्रह्म या आत्मा

बृहदारण्यक † में कहा गया है कि पहले आदि में केवल यह आत्मा मात्र था। छांदोग्य ‡ में कहा गया है 'यह सब कुछ आत्मा ही है।' बृहदारण्यक £ फिर कहता है आत्मा को जान लेने से सब कुछ ज्ञात हो जाता हैं। इसी तरह छांदोग्य ❦ कहता है— आदि में केवल सत् था, दूसरा कुछ नहीं था। पुनः छांदोग्य ¶ और मुंडक ❡ में कहा गया है— यह सब कुछ ब्रह्म है। इन सब स्थलों में ब्रह्म और आत्मा एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। कहीं कहीं तो स्पष्ट शब्दों कहा गया है कि 'यह आत्मा ही ब्रह्म है' £ 'मैं ब्रह्म हूँ' § ।

उपनिषदों में विचार का केन्द्र वैदिक देवताओं से उतर कर मनुष्य के आत्मा पर आ गया है। आत्मा का ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण

आत्मा का विचार

किया गया है जिससे बाहरी उपाधियाँ छुट जाँय और केवल असली तत्त्व रह जाय। शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और उनसे उत्पन्न होने वाले सुख—सब की समीक्षा कर इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया है कि ये सब आत्मा के क्षणभंगुर

❀ ओम् आत्मा वा इदम् एक एव अग्रे आसीत् (ऐतरेय १।१।१)

† आत्मा एव इदम् अग्रे आसीत् (बृहदारण्यक १।४।१)

‡ आत्मा एव इदं सर्वम् (छांदोग्य ७।२५ २)

£ आत्मनि खलु अरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितम् (बृहदारण्यक ४ ५ ६)

❦ सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीत्, एकम् एव अद्वितीयम् (छांदोग्य ६।२।१)

¶ सर्वं खलु इदं ब्रह्म (छांदोग्य ३।१४।१)

❡ ब्रह्म एव इदं विश्वम् (मुंडक २।२।११)

£ अयम् आत्मा ब्रह्म (बृहदारण्यक २।५।१९)

§ अहं ब्रह्म अस्मि (बृहदारण्यक १।४ १०)

परिवर्त्तनशील रूप हैं, आत्मा के मूल तत्त्व नहीं। ये सब कोष या बाहरी आवरण मात्र हैं जिनके भीतर असली तत्त्व छिपा रहता है। अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि आदि वास्तविक तत्त्व (आत्मा) नहीं हैं, वे उसके वाह्यरूप मात्र हैं। सब का मूल आधार आत्म-तत्त्व है। आत्मा शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है। किसी विषय का जो ज्ञान होता है वह इसी चैतन्य का एक सीमित प्रकाश है। शुद्ध चैतन्य किसी विषय की सीमा से बद्ध नहीं होने के कारण असीम या सर्वव्यापी है। यही आत्मा है। सत्य, अनन्त और ज्ञान-स्वरूप होने के कारण जो ही आत्मा मनुष्य में है वही सभी भूतों में (सर्वभूतात्मा) है। अतएव आत्मा परमात्मा एक ही है। कठोपनिषद् में कहा गया है—आत्मा सभी वस्तुओं में निहित है और प्रकट रूप से दिखाई नहीं देता। परन्तु जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से उसे देख लेते हैं। ❀

आत्म-ज्ञान

इस आत्मज्ञान या आत्मविद्या को सर्वश्रेष्ठ या परा विद्या कहा गया है। और सभी विद्याएँ अपरा विद्या (न्यून कोटिक) हैं। आत्म-ज्ञान का साधन है, काम, क्रोध आदि वृत्तियों का दमन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन। जब तत्त्व-ज्ञान के द्वारा संस्कारों का लोप हो जाता है तब आत्मा का साक्षात्कार होता है। यह अत्यन्त कठिन मार्ग है। जिनमें इतना ज्ञान और दृढ़ संकल्प है कि प्रेय (सुखद) का परित्याग कर केवल श्रेय (कल्याणप्रद) का अनुसरण करें, उन्हीं को इस में सफलता मिल सकती है।

यागादि कर्म अपर्याप्त हैं

उपनिषदों का मत है कि कर्मकाण्ड के द्वारा (यज्ञादि कर्मों के सम्पादन से) जीवन के परम पुरुषार्थ—अमरत्व—की प्राप्ति नहीं हो सकती। मुंडकोपनिषद् का कहना है कि ये कर्म क्षुद्र नौकाओं के समान हैं जिनके द्वारा भवसागर को पार नहीं किया जा सकता। जो अज्ञानी इन्हें ही

❀ एष सर्वेषु भूतेषु गूढाऽत्मा न प्रकाशते।

—कठोपनिषद् ३।१२.

सर्वोच्च समझ कर इनका अवलम्बन करते हैं, वे पुनः जरा-मृत्यु के पाश में फंस जाते हैं। * यज्ञ के द्वारा अधिक से अधिक स्वर्ग का सुख कुछ काल के लिये मिल सकता है। जब भोग के द्वारा पुण्य का क्षय हो जाता है, तब पुनः मर्त्यलोक में जन्म होता है। हाँ, यज्ञ का महत्त्व तब बढ़ता है जब ऐसा ज्ञान हो जाय कि यजमान और यज्ञ-देवता ये दोनों वस्तुतः एक हैं। हवन और मंत्रपाठ करने की साङ्गोपाङ्ग विधियाँ बाह्याडम्बर मात्र है जो तत्त्वज्ञान से वंचित अज्ञानियों के लिये हैं। देवताओं के यज्ञ से कहीं बढ़ कर आत्म-यज्ञ या ब्रह्मयज्ञ है। केवल आत्मज्ञान या ब्रह्मविद्या के द्वारा ही पुनर्जन्म और तज्जन्य क्लेशों का अन्त हो सकता है। जो अपने को अविनाशी ब्रह्म से अभिन्न समझ लेता है वही अमरत्व प्राप्त करता है।

आनन्दमय ब्रह्म

उपनिषदों में ब्रह्म को सत् (सत्ता का आधार) और चित् (चैतन्य का आधार) के साथ-साथ आनन्द (सभी सुखों का मूल स्रोत) भी माना गया है। समस्त सांसारिक आनन्द उसी आनन्द के क्षुद्र कण हैं जिस प्रकार समस्त सांसारिक विषय उसी सत्ता के सीमित अंश है। † जो आत्मा साक्षात्कार कर सकता है वह ब्रह्म के साथ अपना तादात्म्य अनुभव कर मुक्ति प्राप्त करता है। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाते हैं—"आत्मा सभी आनन्दों का मूल स्रोत है। इसका यह प्रमाण है कि आत्मा से बढ़कर किसी को और कुछ प्रिय नहीं होता। मनुष्य किसी व्यक्ति या वस्तु को आत्मीय या आत्मवत् जानकर ही प्रेम

---

* प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति।

— मुंडकोपनिषद् १।२।७

† देखिये, बृहदारण्यक ४।३।३२

करता है। कोई वस्तु स्वतः प्रिय नहीं होती। पत्नी इसलिये प्यारी नहीं होती कि वह पत्नी है, पति इसलिये प्यारा नहीं होता कि वह पति है, पुत्र इसलिये प्रिय नहीं होता कि वह पुत्र है। धन भी स्वतः धन के लिये नहीं चाहा जाता। ये सब आत्मा ही के लिये प्रिय होते हैं। †

आत्मा अपने शुद्ध रूप में आनन्दमय है, यह इस बात से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य जब सुषुप्तावस्था में रहता है तब शरीर, इन्द्रिय, विषय तथा मन से अपना सम्बन्ध भूल जाता है और अपने प्रकृत रूप में आकर, सुख-दुःख से परे, शान्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

आधुनिक जीवविज्ञान का मत है कि आत्मरक्षा की प्रवृत्ति सभी जीवों में स्वाभाविक है। परन्तु प्राणरक्षा या जीवन से इतना प्रेम क्यों होता है? उपनिषदों का कहना है कि जीवन इसीलिये इतना प्रिय है कि यह आनन्दमय है। यदि जीवन में आनन्द नहीं रहता तो इसे कौन चाहता? ‡ दैनिक जीवन में जो थोड़ा सा आनन्द का अंश है, वह अत्यल्प और दुःख से मिश्रित होने पर भी हमारी जीवित रहने की इच्छा को बनाये रहता है। आत्मा से दूर जाकर सांसारिक विषयों के पीछे दौड़ते रहने से, अधिक आनन्द नहीं मिल सकता। विषयों को भोग करने की वासनाएँ वे बेड़ियाँ हैं जो हमें जकड़ कर सांसारिक बन्धन में रखती हैं और जिनसे जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्म का चक्र (जो सभी क्लेशों का मूल है) चलता रहता है। वासनाओं के वेग हमें आत्मा से दूर ले जाते हैं और इच्छित विषयों के अनुरूप हमारे जीवन को निरूपित कर देते हैं। जितना ही हम विषय-वासना का परित्याग करते हैं और आत्मा या ब्रह्म के साथ अपनी एकता

विषयानन्द और ब्रह्मानन्द

---

† देखिये, बृहदारण्यक ४।५।६

‡ देखिये, तैत्तिरीय २।७

देखते हैं, उतना ही अधिक हम परमानन्द प्राप्त करते हैं। आत्मा का दर्शन करना अनन्त, अविनाशी आनन्दमय ब्रह्म में मिल जाना है। यही ब्रह्मानन्द है। इसे प्राप्त कर लेने पर कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता। किसी वस्तु की कामना शेष नहीं रहती। अतएव कठोपनिषद् का कहना है कि जब मनुष्य का हृदय सर्वथा निष्काम या वासना-रहित हो जाता है तब वह इसी जीवन में ब्रह्म में लीन होकर अमरत्व प्राप्त कर लेता है। *

यदि ब्रह्म या आत्मा ही समस्त जगत् का मूल तत्त्व है तो प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध किस प्रकार का है। भिन्न-

जगत् की सृष्टि

भिन्न उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन दिया गया है वह ठीक एक सा नहीं है। परन्तु इस विषय में प्रायः सभी सहमत हैं कि आत्मा (ब्रह्म या सत्) ही जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनों ही है। सृष्टि के आदि के विषय में अधिकांश उपनिषदों का मत कुछ इस प्रकार का है—"सबसे पहले (आदि) आत्मा मात्र था। उसमें संकल्प हुआ—मैं एक से अनेक होऊँ। मैं सृष्टि रचना करूँ।" इसके बाद के सृष्टि-क्रम को लेकर मतभेद है। कुछ उपनिषदों का कहना है कि आत्मा से पहले सूक्ष्मतम भूत आकाश की उत्पत्ति हुई, तदनन्तर स्थूल भूत उत्पन्न हुए। और-और उपनिषदों में और-और तरह के वर्णन पाये जाते हैं।

इन वर्णनों से सृष्टि सत्य मालूम होती है और ईश्वर या परमात्मा वास्तविक सृष्टिकर्त्ता जान पड़ते हैं। परन्तु उपनिषदों में

एकत्व और अनेकत्व

बहुत से ऐसे वाक्य भी हैं जिनमें कहा गया है कि अनेकता यथार्थ नहीं है। नेह नानाऽस्ति किञ्चन। जो अनेक को वास्तविक समझता है वह मृत्यु को प्राप्त होता है। मृत्योः स मृत्युम् आप्नोति य इह नानेव पश्यति †।

---

* देखिये, कठोपनिषद् २।६।१४

† देखिये, कठोपनिषद् २।१।११, बृ० ४।४।१६.

संसार के पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। उनकी एकता के प्रतिपादन में इस प्रकार के दृष्टान्त दिये गये हैं—जिस प्रकार सोने से निर्मित कुण्डलादि आभूषण वस्तुतः एक ही (सोना मात्र) हैं, अर्थात् सबका असली तत्त्व सोना एक ही है, केवल नाम-रूप के भेद से (जो केवल औपाधिक भेद हैं) वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार सभी विषयों का असली तत्त्व एक ही है, उनमें केवल नाम मात्र के भेद हैं ❀। सांसारिक विषयों की अपनी-अपनी पृथक् स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। कहीं-कहीं ब्रह्म (आत्मा) को सृष्टिकर्त्ता नहीं कह कर अवर्णनीय, अनिर्वचनीय और अकल्पनीय कहा गया है। वह उपासना का विषय भी नहीं हो सकता। जैसा केनोपनिषद् में कहा गया है—ब्रह्म ज्ञात और अज्ञात दोनों से परे है। जो वाक् से अतीत है, जिससे वाक् का स्वयं उद्गम हुआ है, वही असली ब्रह्म है, जिसकी उपासना होती है सो असली ब्रह्म नहीं †।

ईश्वर और जगत् के सम्बन्ध में ये दोनों तरह के विचार देखने से स्वभावतः मन में उलझन पैदा हो जाती है। क्या ईश्वर वस्तुतः

क्या सृष्टि सत्य है

सृष्टिकर्त्ता हैं और अतएव सृष्टि सत्य है? अथवा वस्तुतः कोई सृष्टि नहीं होती और यह विषय-संसार माया या मिथ्या आभास मात्र है? क्या ईश्वर सगुण पुरुष हैं जिनमें निर्दिष्ट धर्म हैं और जिनका ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? अथवा वह निर्गुण ब्रह्म हैं जो सर्वथा अज्ञेय हैं? उपनिषदों का वास्तविक विचार क्या है? पीछे के वेदान्त-ग्रन्थ इन समस्याओं को लेकर हल करने की कोशिश करते हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है, बादरायण के ब्रह्मसूत्र में श्रुतियों का वास्तविक अर्थ निर्धारित करने की (और उनका सामञ्जस्य दिखलाने की) चेष्टा की गई है। परन्तु इसके सूत्र इतने संक्षिप्त हैं कि उनके भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जा सकते हैं। पीछे के भाष्यकारों ने ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों

❀ देखिये, छांदोग्य ६।१

† देखिये, केन १।[illegible]

के अर्थों की अपने-अपने ढंग से विशद व्याख्या की है । इस प्रकार जो अनेक सम्प्रदाय बन गये उनमें शंकराचार्य का सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रसिद्ध और लोकप्रिय है । 'वेदान्त' से साधारण लोग अधिकतर यही (शंकर का अद्वैतवाद) समझते हैं । यहाँ तक कि विदेश के लोग भारतीय दर्शन से भी प्रायः अद्वैत वेदान्त ही समझ लेते हैं । शंकर मत के बाद रामानुज का विशिष्टाद्वैत ही अधिक परिचित है । ये ही दोनों वेदान्त के सुप्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं ।

(३) वेदान्त के बहुसम्मत सिद्धान्त

वादरायण का अनुसरण करते हुए शंकर और रामानुज मुख्यतः जगत् विषयक इन मतों का खण्डन करते हैं (१) जो यह मानता है कि भौतिक परमाणु स्वभावतः आपस में मिलकर संसार को उत्पन्न करते हैं (२) जो यह मानता है कि अचेतन प्रकृति से स्वभावतः सांसारिक विषयों का विकास होता है । (३) जिसके अनुसार चेतन और अचेतन ये दो प्रधान तत्त्व हैं जिनमें पहला जगत् का निमित्त कारण और दूसरा उपादान कारण है (जिससे सृष्टि-रचना होती है) ।

जगत् विषयक विचार

शंकर और रामानुज दोनों इस विषय में सहमत हैं कि अचेतन तत्त्व से इस जगत् की सृष्टि नहीं हो सकती और द्वैतवाद भी (जिसके अनुसार जड़ और चेतन, इन दो मूल तत्त्वों के सहयोग से सृष्टि होती है) सन्तोषजनक नहीं । दोनों उपनिषद् के 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' इस वाक्य के आधार पर सिद्ध करते हैं कि जड़ और चेतन दो पृथक् सत्ताए' नहीं हैं, किन्तु एक ही मूल सत्ता (ब्रह्म) में आश्रित हैं । इस तरह शंकर और रामानुज दोनों अद्वैतवादी (Monists) हैं अर्थात् दोनों एक मूल तत्त्व या ब्रह्म को मानते हैं जो चराचर जगत् में व्याप्त है ।

वादरायण (जिनका शंकर और रामानुज अनुसरण करते हैं) जगद्विषयक भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों की परीक्षा करते हैं । वे युक्ति

और श्रुति-प्रमाण दोनों की सहायता से प्रतिपक्षियों के मतों का खण्डन करते हैं। इनमें मुख्य प्रतिपक्षियों के खण्डन में जो स्वतंत्र युक्तियाँ दी गई हैं उनका संक्षेपतः उल्लेख किया जाता है *।

सांख्य का यह मत कि सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों से समन्वित अचेतन प्रकृति से जगत् का विकास होता है, समीचीन नहीं, क्योंकि इस संसार में व्यवस्थित क्रम और नियम देखने में आते हैं जिन्हें अचेतन कारणों का आकस्मिक कार्य नहीं माना जा सकता। जैसा सांख्य खुद स्वीकार करता है, शरीरों, इन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और विषयों का यह संसार भिन्न-भिन्न जीवात्माओं के पूर्वकर्मानुसार फल-भोग करने के निमित्त बना है। परन्तु जड़ प्रकृति ऐसी शृंखलापूर्ण व्यवस्था कैसे कर सकती है? सृष्टि को उद्देश्यमूलक स्वीकार कर और साथ ही सृष्टिकर्त्ता का अस्तित्व अस्वीकार कर सांख्य ने अपने को एक विचित्र स्थिति में डाल दिया है। चैतन्यरहित उद्देश्य अबोधगम्य है। बिना किसी चेतन परिचालक के उपाय और उपेय, साधन और उद्देश्य का संयोजन संभव नहीं है। सांख्य चैतन्यरहित उद्देश्य का दृष्टान्त यह देता है कि गाय के थन से बछड़े के निमित्त स्वतः दूध बहने लगता है। परन्तु यहाँ इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि गाय चेतन जीव है और बछड़े के प्रेम से प्रेरित होकर ही उसका दूध बहने लगता है। जड़ पदार्थ के द्वारा किसी जटिल उद्देश्य की पूर्त्ति करने वाले कार्य का कोई भी निर्विवाद दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। सांख्य जिन पुरुषों को मानता है वे निष्क्रिय होते हैं, अतएव उनसे भी जगत् की सृष्टि में सहायता नहीं मिल सकती।

सांख्यमत का खंडन

वैशेषिक का परमाणुवाद (अर्थात् यह मत कि परमाणुओं के संयोग से जगत् बन गया है) भी समीचीन नहीं। क्योंकि अचेतन

* देखिये, ब्रह्मसूत्र का द्वितीय अध्याय, द्वितीय पाद, और इन पर शांकर तथा रामानुज भाष्य।

परमाणु इस विलक्षण रूप से सुव्यवस्थित विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकते। परमाणुओं की प्रेरणा के लिये वैशेषिक अदृष्ट के नियम का सहारा लेता है, परन्तु इससे भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि वह भी तो अचेतन है। फिर इस बात का भी समाधान नहीं मिलता कि सृष्टि-रचना के लिये पहले-पहल परमाणुओं में गति कैसे उत्पन्न हुई। यदि परमाणुओं में गति होना उनका स्वाभाविक गुण है तो फिर उनकी गति का कभी अन्त नहीं होना चाहिये। इस तरह प्रलय (जिसे वैशेषिक मानता है) कभी नहीं होना चाहिये। वैशेषिक ने आत्माओं का अस्तित्व भी माना है, परन्तु उनमें स्वाभाविक चैतन्य का गुण नहीं माना है। जब आत्मा का शरीर और इन्द्रियों से संयोग होता है तभी चैतन्य की उत्पत्ति होती है और सृष्टि के पूर्व ये रहते नहीं। अतएव आत्मा को भी परमाणुओं का निर्देशक या प्रेरक नहीं कहा जा सकता।

वैशेषिक का खंडन

बौद्ध क्षणिकवाद (जिसके अनुसार सांसारिक विषय क्षणिक तत्त्वों के क्षणिक संयोग मात्र हैं) के विरुद्ध यह तर्क उपस्थित किया गया है कि क्षणिक वस्तुओं में कारणत्व नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने के लिये पहले कारण की उत्पत्ति होनी चाहिये और तब उस (कारण) में क्रिया होनी चाहिये। इस तरह एक क्षण से अधिक उसकी सत्ता रहनी चाहिये जो क्षणिकवाद के विरुद्ध पड़ता है। यदि क्षणिक तत्त्वों की किसी तरह उत्पत्ति मान भी लेते हैं तो फिर उनका संयोग नहीं बनता क्योंकि बौद्ध मतानुसार कोई द्रव्य नहीं माना गया है जो इन तत्त्वों को एक साथ मिलाकर अभीष्ट विषयों को उत्पन्न करे। चैतन्य स्वयं इन क्षणिक तत्त्वों के संयोग का परिणाम माना गया है। अतः सृष्टि के पूर्व उसकी सत्ता नहीं रहती। इस तरह अचेतन कारणवाद वाली समस्या यहाँ भी उपस्थित हो जाती है।

बौद्ध क्षणिकवाद का खंडन

बौद्ध विज्ञानवाद (जिसके अनुसार यह संसार स्वप्न की तरह मिथ्या काल्पनिक विषय है) के विरुद्ध शंकर मुख्यतः ये युक्तियाँ देते हैं—(१) वाह्य पदार्थों की सत्ता का अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वे सब को प्रत्यक्ष होते हैं। किसी घट, पट या स्तम्भ को प्रत्यक्ष करते हुए भी सत् नहीं मानना वैसा ही होगा जैसे भोजन करते समय रसास्वाद को नहीं मानना। यह साक्षात् ज्ञान को जबर्दस्ती झूठा बनाना है। (२) यदि साक्षात ज्ञान का विश्वास नहीं किया जाय तो विज्ञानों (मानसिक भावों या प्रत्ययों) का भी कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। (३) यह कहना कि मानसिक प्रत्यय ही भ्रम-वश *वाह्य विषय के समान* आभासित होते हैं तबतक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक कोई वाह्य पदार्थ सत्य नहीं माना जाय। नहीं तो यह कहना उसी प्रकार का होगा, जैसे 'देवदत्त वन्ध्यापुत्र के समान दिखाई देता है'। (४) जब तक घट-पट आदि भिन्न भिन्न प्रत्यक्ष विषयों की सत्ता नहीं मानी जाती, तब तक घटज्ञान को पटज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान-तत्त्व दोनों में एक ही है। (५) स्वप्न-विषय और प्रत्यक्ष विषय में महान् अन्तर है। स्वप्न के विषय जाग्रत् अनुभव से बाधित (खंडित) होते हैं, परन्तु प्रत्यक्ष विषय नहीं। जाग्रत् अवस्था के प्रत्यक्ष विषय तब तक असत्य नहीं कहे जा सकते जब तक वे किसी प्रमाण के द्वारा बाधित (मिथ्या प्रमाणित) नहीं होते। इस प्रकार विज्ञानवाद अथवा शून्यवाद से जगत् की सन्तोष-जनक व्याख्या नहीं होती।

बौद्ध विज्ञानवाद का खंडन

शैव, पाशुपत, कापालिक और कालामुख मतों के अनुसार जगत् का उपादान कारण भूततत्त्व, और निमित्त कारण ईश्वर है।* वेदान्त इस मत को नहीं मानता। पहली बात तो यह है कि यह मत वेदमूलक नहीं है। केवल साधारण अनुभव और युक्ति के आधार पर यह

केवल-निमित्तेश्वर वाद का खंडन

* इन चारों अवैदिक मतों का उल्लेख रामानुज-भाष्य (२।२।३५) में देखिये।

मत स्थापित है। ऐसी अवस्था में इसे प्रत्यक्ष अनुभव से विरोध नही पड़ना चाहिये। परन्तु ऐसी बात नहीं है। जहाँ तक हमारा अनुभव जाता है, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से युक्त शरीर के द्वारा ही चेतन पुरुष भौतिक तत्त्वों पर कोई व्यापार कर सकता है। पुनश्च, उसकी क्रिया किसी उद्देश्य या प्रयोजन से ही प्रेरित होती है (यथा सुख की प्राप्ति या दुःख का निवारण)। परन्तु ईश्वर को अशरीरी, निर्विकार और इच्छारहित माना गया है। ऐसी अवस्था में यह समझ में नहीं आता कि ईश्वर ने सृष्टि की तो क्यों और कैसे ?

जैसा हम पहले देख चुके हैं, वैदिक युग से ही ईश्वर के दो रूप माने गये हैं। ईश्वर सम्पूर्ण चराचर जगत् में व्याप्त है। परन्तु उसकी सत्ता जगत् में ही सीमित नहीं है। वह इससे परे भी है। वह विश्वव्यापी भी है और विश्वातीत भी। ईश्वर का यह उभयात्मक रूप उपनिषदों ❀ और अनुवर्त्ती वेदान्त-साहित्य में पाया जाता है। हाँ, सबों की कल्पना ठीक एक सी नहीं है। 'ईश्वर सभी वस्तुओं में विद्यमान है' इस सिद्धान्त को Pantheism (सर्वेश्वरवाद) कहते हैं और वेदान्त का मत भी सामान्यतः यही समझा जाता है। Pantheism (Pan=all, Theism = God) का शाब्दिक अर्थ है वह मत जिसके अनुसार सब कुछ ईश्वर ही है। परन्तु यदि सब कुछ ईश्वर ही है तो यह विचार उठता है कि क्या ईश्वर केवल विश्व ही है अथवा उससे भी अधिक। जब ऐसा भेद किया जाता है तब प्रथम मत के लिये सामान्यतः Pantheism (सर्वेश्वरवाद या केवलोपादानेश्वरवाद) शब्द का व्यवहार किया जाता है और दूसरे मत के लिये Panentheism † (निमित्तोपादानेश्वरवाद) का। अतएव इस भेद को स्पष्ट

ईश्वर-विचार

❀ द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे......(बृ० २।३।१)

† यह शब्द जर्मन दार्शनिक Krause का गढ़ा हुआ है।

करने के लिये और इस बात का स्मरण रखने के लिये कि वेदान्त का ईश्वर केवल विश्वरूप ही नहीं, विश्वातीत भी है, वेदान्त के ईश्वरवाद को Panentheism (निमित्तोपादानेश्वरवाद) कहना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है।

'ब्रह्म' और 'ईश्वर'

यहाँ यह बताना आवश्यक है कि उपनिषदों और पश्चात्-कालीन वेदान्त-साहित्य में 'ब्रह्म' शब्द का व्यवहार परम तत्त्व या मूल सत्ता (Ultimate Reality) के अर्थ में भी किया गया है और सृष्टिकर्त्ता (Creator) के अर्थ में भी (जिन्हें उपास्य समझा जाता है)। इस दूसरे अर्थ को जताने के लिये अधिकतर 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग किया जाता है। पर 'ब्रह्म' और 'ईश्वर' इन दोनों नामों के व्यवहार से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि ये दो पृथक्-पृथक् सत्ताएँ हैं।

ईश्वर का प्रमाण

वेदान्तियों में इस बात को भी लेकर एकमत है कि ईश्वर के अस्तित्व का ज्ञान प्रथमतः श्रुतियों के आधार पर ही होता है, युक्ति के द्वारा नहीं। चित्त शुद्ध होने पर महात्माओं को ईश्वर के दर्शन हो सकते हैं। परन्तु प्रारंभ में ईश्वर का जो परोक्षज्ञान होता है वह शास्त्रीय वचनों के प्रमाण से ही। जिस तरह न्याय आदि ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये तार्किक युक्तियाँ मिलती हैं, उस तरह वेदान्त में नहीं। वेदान्त ने युक्तियों के द्वारा यही सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईश्वर के विषय में कोई भी अवैदिक मत पर्याप्त नहीं ठहरता और केवल वैदिक विचार ही सत्य हैं। वेदान्त का यह मत अन्ध-विश्वास सा जान पड़ता है और बहुधा इसकी कटु आलोचना भी की गई है। परन्तु इस सम्बन्ध में एक बात विचारणीय है कि बहुत से पाश्चात्य दार्शनिकों ने (जैसे कांट, लौटजा वगैरह ने) भी ईश्वर-विषयक प्रमाणों को अपर्याप्त समझा है। लौट्ज़ा ने तो साफ कहा है कि जब तक हम ईश्वर से विश्वास को लेकर आगे नहीं बढ़ें तब

तक केवल तर्क से कुछ सिद्ध नहीं होता। * वेदान्त के अनुसार भी यह प्रारंभिक विश्वास धार्मिक जीवन या धार्मिक विचार के लिये आवश्यक है। मनुष्य अपने में अपूर्णता का अनुभव कर पूर्णता की ओर अग्रसर होना चाहता है परन्तु अज्ञान के अन्धकार में भटकता फिरता है। जब शास्त्र के द्वारा उसे ज्ञान का प्रकाश होता है तब ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग मिल जाता है। इन्हीं शास्त्रीय वचनों को समझने के लिये, शंका-समाधान के द्वारा तत्त्वार्थ-निरूपण करने के लिये, तर्क की आवश्यकता होती है। तर्क केवल विचार की एक पद्धति मात्र है जिसके प्रयोग के लिये कोई आधार चाहिये। शास्त्रों के द्वारा वही आधार प्राप्त होता है जिस पर हम विचार, तर्क या मनन कर सकते हैं।

वेदान्ती गण श्रुति के आधार पर ईश्वर को मान कर चलते हैं, और श्रुति के वचनों की व्याख्या और संगति के लिये तर्क का अवलम्बन करते हैं। उपनिषदों के द्वारा वे यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि ईश्वर अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सृष्टि-स्थिति और लय का आधार है। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने-अपने ढंग से ईश्वर को समझने की चेष्टा करता है।

बादरायण के सूत्रों का मुख्य विषय है ब्रह्म (या ईश्वर)। अतएव उसका नाम है ब्रह्मसूत्र। परन्तु उनका अधिकारी मनुष्य ही है जो शरीरी जीव है। अतएव उन्हें 'शारीरक सूत्र' भी कहते हैं। इस तरह वेदान्त में मनुष्य को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। मनुष्य के ज्ञान और मुक्ति के लिये ही वेदान्त-दर्शन की रचना हुई है। परन्तु मनुष्य का यथार्थ स्वरूप क्या है? उपनिषदों का कहना है कि ब्रह्म (ईश्वर) से भिन्न मनुष्य की कोई पृथक् सत्ता नहीं। शंकर और रामानुज दोनों को यह मत मान्य है। परन्तु जीव ब्रह्म में क्या सम्बन्ध है इस विषय को लेकर दोनों में मतभेद है।

* देखिये, Lotze—Outlines of a Philosophy of Religion.

२. शंकर का अद्वैत

(१) जगत्-विचार

उपनिषदों में एक ओर तो सृष्टि का वर्णन किया गया है और दूसरी ओर नाना-विषयात्मक संसार को मिथ्या कहा गया है। इन दोनों बातों का सामञ्जस्य कैसे किया जाय ? यदि सृष्टि को सत्य मानते हैं तो फिर अनेकता को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है ? शंकर इस समस्या का समाधान इस प्रकार करते हैं। उपनिषदों की सामान्य विचार-धारा और दृष्टि-कोण को देखते हुए सृष्टि की बातें उन्हें अनमेल सी जान पड़ती हैं। यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विकार है तो फिर वह सृष्टिकर्त्ता कैसे हो सकता है ? यदि उसका कर्तृत्व सत्य है तो फिर वह निर्गुण या अविकारी कैसे ? ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं। फिर शास्त्रों में यह बात कही गई है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि को सत्य मान लिया जाय, तो यह भी समझ में नहीं आ सकता। यदि जगत् सत्य है तो फिर यह तिरोहित कैसे हो जाता है ? ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर केवल मिथ्याज्ञान (असत् में सत् की प्रतीति) नष्ट हो सकता है। जो सत् है सो कैसे नष्ट होगा ? यहाँ शंकर को जगत् के रहस्य की एक कुंजी मिल जाती है। यदि संसार को एक स्वप्न या भ्रम की तरह माया-मात्र मान लिया जाय तो उसकी सृष्टि और पीछे तत्त्वज्ञान हो जाने पर उसका तिरोभाव—ये दोनों बातें समझ में आ सकती हैं। इस तरह पहेली हल हो जाती है। उपनिषदों में भी इसका संकेत पाया जाता है। ऋग्वेद पर्यन्त में भी कहा गया है कि एक ही इन्द्र माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं।* बृहदारण्यक में भी यही

जगत् का मिथ्यात्व

---

* देखिये, ऋग्वेद ६।४७।१८

बात कही गई है।† श्वेताश्वतर में तो साफ तौर से कहा गया है कि ब्रह्म की माया ही प्रकृति है ‡।

मायाऔर ईश्वर

माया ईश्वर की शक्ति है। जिस तरह अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है उसी तरह माया भी ईश्वर से अभिन्न है। इसीके द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की अद्भुत लीला दिखलाते हैं। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं, परन्तु जो तत्त्वदर्शी हैं वे इस लीला को समझ जाते हैं और इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म-मात्र उन्हें सत्य जान पड़ता है।

भ्रम और अविद्या

जीवन में साधारणतः किस प्रकार भ्रम होते हैं इसे यदि हम समझने की कोशिश करें तो यह देखने में आता है कि वास्तविक आधार या अधिष्ठान का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। जैसे, रस्सी का यथार्थ ज्ञान नहीं होने पर उसमें साँप का भ्रम होता है। यदि हम रस्सी को रस्सी जानते तो उसके विषय में भ्रम नहीं होता। परन्तु केवल रस्सी का अज्ञान-मात्र ही भ्रम का कारण नहीं है। क्योंकि वैसी हालत में जिसे रस्सी का कभी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ वह सर्वदा साँप ही साँप देखा करता। जिस अविद्या के कारण भ्रम उत्पन्न होता है वह केवल आधार का 'आवरण' ही नहीं करती, उस पर 'विक्षेप' भी कर देती है। आवरण का अर्थ है असली स्वरूप पर पर्दा डाल देना। विक्षेप का अर्थ है उसपर दूसरी वस्तु का आरोप कर देना। ये दोनों अविद्या या अज्ञान के कार्य हैं, जिनसे हमारे मन में भ्रम पैदा होता है।

जब कोई बाजीगर जादू का खेल दिखाकर हमें भ्रम में डाल देता है (जैसे, एक ही सिक्के को अनेक सा बनाकर दिखा देता है)

† इन्द्रो मायाभिः पुरु रूप ईयते—बृ० २।५।१९ (इस पर शांकर भाष्य देखिये।)

‡ मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे० ४।१० (इस पर शांकर भाष्य देखिये।)

तब दर्शक तो भ्रम में पड़ जाते हैं, परन्तु स्वयं बाजीगर उस भ्रम में नहीं पड़ता। हम में वह भ्रम अविद्या या अज्ञान के कारण पैदा होता है जिसके कारण वस्तु का असली स्वरूप छिप जाता है और उसके स्थान में दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है। यदि कोई दर्शक उस एक सिक्के का असली रूप ही देखता रहे तो जादू की छड़ी उसे भुलावे में नहीं डाल सकती। यह तो हमारी दृष्टि से हुआ। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की शक्ति है, जिससे उसके दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वयं जादूगर नहीं। इसी तरह सृष्टि की माया भी दो तरह से समझी जा सकती है। ईश्वर के लिये वह केवल एक इच्छा-मात्र है। ईश्वर स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होता।* वह अपने नहीं ठगा जाता। हम लोग जो अज्ञानी हैं उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म के बदले अनेक विषय देखने लग जाते हैं। इस तरह माया हम लोगों के लिये भ्रम का कारण है। इस अर्थ में माया को अज्ञान या अविद्या भी कहते हैं। इसके दो कार्य हैं—जगत् के आधार, ब्रह्म का असली स्वरूप छिपा देना और उसे दूसरी वस्तु (संसार) के रूप में आभासित करना। इस विक्षेप-शक्ति के कारण माया को भावरूप अज्ञान कहते हैं। सृष्टि का आरंभ कभी किसी काल में हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अतः माया को अनादि मानते हैं। जो इने-गिने ब्रह्मज्ञानी संसार की भूलभुलैया में नहीं पड़ जगत् को ब्रह्ममय देखते हैं उनके लिये न कोई भ्रम है न माया। उनके लिये ईश्वर मायावी नहीं।

माया

रामानुज श्वेताश्वतर का अनुसरण करते हुए माया का भी उल्लेख करते हैं, परन्तु माया से वह या तो ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति समझते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्त्व जिसका वास्तविक परिणाम यह जगत् है। शंकर भी माया को ईश्वर की शक्ति

शंकर के मत में माया

* देखिये, ब्रह्मसूत्र २।१।९ पर शांकर भाष्य

कहते हैं, परन्तु उनके अनुसार यह सृजन-शक्ति ईश्वर का नित्य स्वरूप नहीं (जैसा रामानुज मानते हैं), परन्तु एक इच्छा-मात्र है जिसको वे (ईश्वर) चाहें तो परित्याग कर सकते हैं। जो ज्ञानी हैं और संसार की मृग-मरीचिका के फेर में नहीं पड़ते उन्हें ईश्वर को मायावी समझने का कोई प्रयोजन नहीं। माया शक्तिरूप में ब्रह्म से भिन्न पदार्थ नहीं है। वह ब्रह्म से उसी तरह अभिन्न और अविच्छेद्य है जैसे अग्नि से दाहकता और मन से संकल्प। जब शंकर प्रकृति को माया कहते हैं, तब उनका अर्थ यही होता है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिये संसार की प्रकृति (आदि या मूल स्रोत) है जो इसे (संसार को) देख रहे हैं। अतएव शंकर और रामानुज का भेद संक्षेप में यह है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म में अवस्थित अचित् तत्त्व में (और इसलिये ब्रह्म में भी) ❀ वास्तविक विकार या परिवर्तन उत्पन्न होता है। शंकर का मत है कि ब्रह्म में कोई वास्तविक विकार (परिवर्तन) नहीं होता, विकार केवल प्रातिभासिक होता है, वास्तविक नहीं।

परिणाम और विवर्त्त

किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे रस्सी का साँप के रूप में दिखाई पड़ना) विवर्त्त कहलाता है, और वास्तविक विकार (जैसे दूध का दही बन जाना) *परिणाम*। अतएव शंकर का उपर्युक्त मत *विवर्त्तवाद* कहलाता है। इसके विपरीत सांख्य का मत (अर्थात् प्रकृति वस्तुतः बदल कर जगत् के रूप में परिणत हो जाती है)। *परिणामवाद* कहलाता है। रामानुज का मत भी एक तरह का परिणामवाद है, क्योंकि वे मानते हैं कि ब्रह्म का अचित् अंश ही संसार के रूप में परिणत होता है। विवर्त्तवाद और परिणामवाद दोनों इस बात में सहमत हैं कि कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में विद्यमान

❀ रामानुज स्वतः इस निष्कर्ष से यह कह कर बचना चाहते हैं कि ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप विकार को प्राप्त नहीं होता। उनका यह कहना कहाँ तक संगत है, इसका विचार आगे किया जायगा।

रहता है। अतएव दोनों ही सत्कार्यवाद (अर्थात् कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में सत् या विद्यमान था, वह कुछ नई वस्तु नहीं है, इस मत) के अन्दर आते हैं। ❀

जहाँ जो वस्तु नहीं है उसे वहाँ कल्पित करना *अध्यास* कहलाता है। वर्त्तमान मनोविज्ञान (Psychology) की भाषा में इसे एक तरह का बहिरारोप (Projection) कहेंगे। जहाँ-जहाँ भ्रान्त प्रत्यक्ष (Illusion) होता है वहाँ-वहाँ ऐसा अध्यास (Projection) होता है। जिस तरह रज्जु में सर्प अध्यस्त हो जाता है, उसी तरह ब्रह्म में जगत् अध्यस्त हो जाता है।

अध्यास

उपनिषदों में जो सृष्टि का वर्णन आता है वह इस अर्थ में कि ब्रह्म की माया से संसार बन जाता है। शंकर इसे मानते हैं कि इस माया को कहीं-कहीं अव्यक्त या प्रकृति भी कहा गया है जो सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों से युक्त है। परन्तु इसे सांख्य की प्रकृति नहीं समझ लेना चाहिये जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व माना गया है। † वेदान्त की प्रकृति ईश्वर की माया है और उन्हीं पर सर्वथा आश्रित है।

उपनिषदों की तरह वेदान्त-ग्रन्थों में भी इस बात को लेकर मतैक्य नहीं है कि ब्रह्म की माया से किस प्रकार और किस क्रम से सांसारिक विषयों का आविर्भाव हुआ है। सबसे प्रचलित मत यह है कि आत्मा या ब्रह्म से पहले

पञ्चीकरण

❀ विवर्त्तवादस्य हि पूर्वभूमिः
वेदान्तवादे परिणामवादः।
प्रतिष्ठितेऽस्मिन् परिणामवादे
स्वयं स आयाति विवर्तवादः।

† देखिये, ब्रह्मसूत्र १।४।३ और श्वेताश्वतर ४।९, ४।११ पर शंकर-भाष्य।

पाँच सूक्ष्म भूतों का इस क्रम से आविर्भाव होता है—आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इन पाँचों का पुनः पाँच प्रकार से संयोग होता है जिससे पाँच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। जब पाँच सूक्ष्म भूतों का संयोग इस अनुपात से होता है कि आधे में आकाश-तत्त्व और बाकी आधे में शेष चारो तत्त्व रहते हैं (अर्थात् ($\frac{1}{2}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ वायु + $\frac{1}{8}$ अग्नि + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी) तब स्थूल आकाश का प्रादुर्भाव होता है। इसी तरह शेष चारों स्थूल भूत भी उत्पन्न होते हैं। (जैसे, वायु-भूत की उत्पत्ति में तत्त्वों का संयोग इस प्रकार होता है—$\frac{1}{2}$ वायु + $\frac{1}{8}$ आकाश + $\frac{1}{8}$ अग्नि + $\frac{1}{8}$ जल + $\frac{1}{8}$ पृथ्वी)। इस क्रिया को 'पञ्चीकरण' कहते हैं।

मनुष्य का सूक्ष्म-शरीर सूक्ष्म भूतों से बना है और स्थूल-शरीर (तथा अन्यान्य सांसारिक विषय) स्थूल भूतों से (जो पाँच सूक्ष्म तत्त्वों के संयोग से बनते हैं)। शंकर सृष्टि के इसी क्रम को मानते हैं। परन्तु वे इस समस्त प्रक्रिया को विवर्त्त या अध्यास मानते हैं।

शंकर के इस विवर्त्तवाद में कई गुण हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय वचनों की संगत व्याख्या इस मत से हो जाती है।

शंकर-मत की विशेषता

दूसरे, सृष्टि का अधिक युक्ति-संगत कारण यह बतलाता है। यदि ऐसा माना जाय कि ईश्वर सृष्टि-कर्त्ता हैं और अचेतन प्रकृति जैसी किसी अन्य वस्तु को लेकर जगत् की रचना करते हैं, तब ईश्वर के अतिरिक्त उस दूसरी वस्तु की सत्ता भी माननी पड़ती है और इस तरह ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता नहीं रह जाते। उनकी असीमता नष्ट हो जाती है। परन्तु यदि उस प्रकृति को सत्य भी मानते हैं और ईश्वर में आश्रित भी, और इस संसार को उसका वास्तविक परिणाम मानते हैं तो एक दुविधा उपस्थित हो जाती है।* प्रकृति या तो ईश्वर का एक अंश मात्र है अथवा सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है।

* देखिये, ब्रह्मसूत्र २।१।२६-२८

यदि पहला विकल्प मान लिया जाय (जैसा रामानुज मानते हैं) तो यह आपत्ति आ जाती है कि ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों की तरह सावयव और अतएव उन्हीं की तरह विनाशी सिद्ध हो जाता है। यदि दूसरा विकल्प (अर्थात् प्रकृति सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है) माना जाय तो यह बाधा उपस्थित होती है कि तब प्राकृतिक विकास का अर्थ हो जाता है सम्पूर्ण ईश्वर का जगत् के रूप में परिणत हो जाना। वैसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि होने के उपरान्त कोई ईश्वर नहीं रहता। यदि ईश्वर में सचमुच विकार होता है तो वह विकार चाहे आंशिक हो या पूर्ण, ईश्वर को किसी हालत में नित्य निर्विकार नहीं कहा जा सकता। और तब वह ईश्वर कहलाने का अधिकारी ही नहीं रहता। विवर्त्तवाद (अर्थात् विकार केवल आभास-मात्र है, यथार्थ नहीं) को मान लेने पर ये कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं।

इन कठिनाइयों का अनुभव रामानुज ने भी किया है। परन्तु उनका विचार है कि सृष्टि का रहस्य मानव-बुद्धि के परे है और शास्त्रों में जो सृष्टि का वर्णन दिया गया है, वही हमें मान्य होना चाहिये। रही कठिनाइयों की बात। सो एक बार जब हम ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और विचित्र-सृष्टिकारी मान लेते हैं तो उनके लिये कुछ भी असंभव नहीं रह जाता है।* शंकर भी यह मानते हैं कि बिना श्रुति की सहायता से, केवल तर्क के सहारे, ‡ सृष्टि का रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता। परन्तु वे कहते हैं कि स्वयं श्रुतियों में ही एक से अनेक का आभासित होना बतलाया गया है। शास्त्र-ज्ञान के अनुसार हम अपनी तर्क-बुद्धि का सहारा लेकर अपने जीवन के साधारण भ्रम के अनुभवों से इस सृष्टि-रूपिणी माया के रहस्य को यथासंभव समझने का प्रयत्न कर सकते हैं।

---

* देखिये, श्रीभाष्य २।१।२६-२८ और १।१।३

‡ देखिये, शांकर भाष्य २।१ २७

(क) अद्वैतवाद की समर्थक युक्तियाँ

विवर्त्तवाद के पक्ष में शंकर की युक्तियाँ, और उनका माया, अविद्या तथा अध्यास-विषयक सिद्धान्त—ये सब अद्वैतवाद के लिये प्रबल यौक्तिक आधार हैं। जो श्रुति अथवा ब्रह्म-विषयक अपरोक्ष अनुभूति में विश्वास नहीं करते, किन्तु सामान्य अनुभव और तर्क के आधार पर जगत् का वास्तविक रूप समझना चाहते हैं, वे भी तार्किक या दार्शनिक दृष्टि से इन युक्तियों को बहुत अधिक मूल्यवान् समझेंगे। शंकर के अनुयायियों ने अद्वैत की पुष्टि में जो स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं (जैसे, तत्त्वप्रदीपिका या चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि, खंडनखंडखाद्य) उनमें ऐसी-ऐसी सूक्ष्म और चमत्कृत युक्तियाँ हैं जिनकी गहराई को पाश्चात्य दर्शन के गंभीर ग्रन्थ भी शायद ही पा सकते हैं। वेदान्त का मूल है श्रुति या अपरोक्ष अनुभूति। तथापि वह इस बात को नही भूलता कि जब तक मनुष्य की तर्कबुद्धि सन्तुष्ट नहीं होती और सहज अनुभव के आधार पर युक्ति द्वारा उसे कोई बात समझ में नहीं आ जाती तब तक केवल दूसरे की उच्चतम अपरोक्ष अनुभूति को भी वह नहीं मान सकता। वेदान्त के विद्यार्थी को अद्वैतवाद के इस स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिये नीचे यह दिखाया जाता है कि शंकर सामान्य अनुभव को तर्क की कसौटी पर कस कर किस तरह अपने मत की स्थापना करते हैं—

(१) किसी कार्य और उसके उपादान-कारण में क्या संबंध है, यदि इसकी सूक्ष्म विवेचना की जाय तो ज्ञात होता है कि कार्य कारण से भिन्न वस्तु नहीं है। मिट्टी का बर्तन मिट्टी के अलावे और कुछ नहीं। सोने का गहना सोना मात्र है। पुनः कार्य अपने उपादान-कारण से अविच्छेद्य है। उसके बिना कार्य नहीं रह सकता। हम मिट्टी से बर्तन को पृथक् नहीं कर सकते। न सोने से गहने को अलग कर सकते हैं। अतएव ऐसा समझना गलत

सत्कार्यवाद

है कि कार्य एक नई चीज है जो पहले नहीं थी और अब हुई है। तत्त्वत: वह सर्वदा अपने उपादान कारण में विद्यमान थी। वस्तुत: हम अभाव पदार्थ के उत्पन्न होने की (असत् से सत् होने की) कल्पना भी नहीं कर सकते। द्रव्य का केवल रूपान्तर होना (एक रूप से दूसरे रूप में आना) हम सोच सकते हैं। यदि असत् से सत् की उत्पत्ति संभव होती तो बालू से भी तेल निकल सकता, न कि केवल तिल आदि वस्तुओं से। निमित्त-कारण (जैसे तेली, कुम्हार या सोनार) की क्रिया से किसी नये द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती, केवल उस द्रव्य के निहित रूप की अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। अतएव कार्य को कारण से अनन्य और उसमें पूर्व से विद्यमान जानना चाहिये। ꣸

इन युक्तियों के आधार पर शंकराचार्य सत्कार्यवाद का अवलम्बन करते हैं। सांख्य भी इसी मत का अनुयायी है। परन्तु शंकर का कहना है कि सांख्य सत्कार्यवाद का पूरा तत्त्व नहीं समझ पाता। क्योंकि सांख्य का मत है कि यद्यपि कार्य अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है तथापि उपादान में वास्तविक विकार या परिणाम होता है, क्योंकि वह नया रूप धारण करता है। इसका अर्थ यह है कि जो आकार असत् था वह सत् हो जाता है। इस तरह सत्कार्यवाद का सिद्धान्त टूट जाता है। यदि इस सिद्धान्त (सत्कार्यवाद) का आधार पक्का है तो हमें उसका निष्कर्ष मानने को भी तैयार रहना चाहिये और ऐसे मत का अवलम्बन नहीं करना चाहिये जिससे वह सिद्धान्त भंग हो जाय।

परिणामवाद का खंडन

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि कार्य में जो एक नया आकार होता है, इस प्रत्यक्ष बात को कैसे अस्वीकार किया जाय। शंकर

꣸ देखिये ब्रह्म-सूत्र २।१ १४-२०, छांदोग्य ६।२, तै० २।६, बृ० १।२।१ गीता २ १६ पर शांकर भाष्य।

प्रत्यक्ष को अस्वीकार नहीं करते, केवल उसका यथार्थ तत्त्व क्या है, उसीका अनुसन्धान करते हैं। क्या सांख्य का यह समझना ठीक है कि आकार का परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन है? यह तब ठीक होता जब आकार की अपनी अलग सत्ता होती। परन्तु सूक्ष्म विवेचना करने से ज्ञात होता है कि आकार द्रव्य या उपादान की एक अवस्था मात्र है जो उस (द्रव्य) से अविच्छेद्य है। उसके पृथक् अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आकार की जो कुछ सत्ता है वह द्रव्य या वस्तु ही को लेकर। अतएव आकार या आकृति के परिवर्तन को देखकर उसे वास्तविक परिवर्तन समझना ठीक नहीं। इसके विपरीत, यह देखने में आता है कि आकारिक परिवर्तन होने पर भी कोई वस्तु वही कही जाती है। जैसे, देवदत्त सोते, उठते या बैठते हुए भी 'देवदत्त' ही कहा जाता है। यदि आकार-परिवर्तन का अर्थ वास्तविक विकार होता तब यह बात कैसे होती ❀?

(आकार परिवर्तन वास्तविक विकार नहीं है)

इसके अतिरिक्त यदि आकार या और किसी गुण की द्रव्य से पृथक् सत्ता मान ली जाय तो फिर उस गुण में और द्रव्य में कैसे सम्बन्ध होता है, यह समझ में नहीं आ सकता। क्योंकि दो पृथक् सत्ताओं में बिना किसी तीसरी वस्तु की सहायता से सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। अब यदि हम इस तीसरी वस्तु की कल्पना करते हैं तो उसका पहली और दूसरी वस्तु से सम्बन्ध जोड़ने के लिये चौथी और पाँचवी वस्तुओं की भी कल्पना करनी पड़ेगी। फिर उन चौथी और पाँचवीं का अपनी-अपनी अपेक्षित वस्तुओं से सम्बन्ध जोड़ने के लिये भी उसी प्रकार अन्य माध्यमों की कल्पना करनी पड़ेगी। इस तरह अनवस्था-दोष का प्रसंग आ जायगा। अतएव गुण और द्रव्य में उस तरह की सम्बन्ध-कल्पना करने से हम पार नहीं पा

(आकार द्रव्य से पृथक् नहीं है)

❀ देखिये ब्रह्मसूत्र २।१।१८ पर शांकर भाष्य।

सकते। संक्षेप में यह कहिये कि गुण और उसके द्रव्य में पार्थक्य की कल्पना करना अयुक्तिसंगत है। आकार द्रव्य से भिन्न सत्ता नहीं है। अतएव यदि द्रव्य वही कायम रहे तो केवल आकार-परिवर्तन को वास्तविक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

विवर्त्तवाद

हम देख चुके हैं कि जब कोई कार्य उत्पन्न होता है, तब द्रव्य में विकार नहीं आता। कारण-कार्य का सम्बन्ध वास्तविक परिवर्तन सूचित नहीं करता। और जो परिवर्तन होता है वह कारण ही के द्वारा। अतएव वस्तु का विकार नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि यद्यपि हम विकारों को देखते हैं तथापि बुद्धि उन्हें सत्य नहीं मान सकती। अतएव उनका जो प्रत्यक्ष होता है उसे प्रत्यक्षाभास ही समझना चाहिये। हमें आकाश नीला दीख पड़ता है, सूर्य में गति दिखलाई पड़ती है, परन्तु हम इन सब बातों को सत्य नहीं मानते, क्योंकि वे युक्ति के द्वारा असत्य प्रमाणित हो जाती हैं। ऐसी प्रत्यक्ष किन्तु असत्य घटना को आभास कहते हैं, जो वास्तविक सत्ता नहीं है। इसलिये सभी विकारों को आभास-मात्र समझना चाहिये, वास्तविक सत्य नहीं। इस तरह हम केवल युक्ति द्वारा भी विवर्त्तवाद पर पहुँच जा सकते हैं*। इसके अनुसार हम जो परिवर्त्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप या विक्षेप-मात्र है। इसीको शंकर 'अध्यास' कहते हैं। इस तरह की मिथ्या-कल्पना का कारण अविद्या है जो हमें भ्रम में डाल देती है और असत् में सत् का आभास कराती है। इसको शंकर अज्ञान, अविद्या या माया कहते हैं। इसीके कारण संसार की प्रतीति होती है।

---

* सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः।

— वेदान्तसार।

(२) यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि यह परिवर्त्तनशील संसार आभास-मात्र है तो वह कौन सी वस्तु या पदार्थ है जो भिन्न-भिन्न विषयों के रूप में हमें आभासित होती है? सामान्यतः हम उसीको द्रव्य कहते हैं जो कुछ गुणों का आश्रय होता है। इस अर्थ में घट या पट द्रव्य है। परन्तु हम देख चुके हैं कि घट से पृथक् उसके रूप आदि गुणों की सत्ता नहीं होती और घट की सत्ता उसके उपादान कारण (मृत्तिका) से भिन्न नहीं होती। यहाँ मृत्तिका ही सत्य या वास्तविक द्रव्य है और घट उसका एक रूप या आकार मात्र है। परन्तु मृत्तिका स्वयं विकार को प्राप्त होनेवाली वस्तु है। और उसका मृत्तिका-भाव नष्ट हो जा सकता है। अतएव इसे भी यथार्थ वस्तु या परमार्थ नहीं कह सकते *। यह घट की अपेक्षा अधिक स्थायी जरूर है पर यह भी किसी अन्य द्रव्य का एक रूप मात्र है जो द्रव्य उस मृत्तिका के सभी विकारों में विद्यमान रहता है, जो मृत्तिका के आधार-भूत कारण में भी वर्त्तमान रहता है और मृत्तिका का नाश हो जाने पर उसके परिणाम-रूप द्रव्यान्तर में भी। इस तरह यदि सभी 'द्रव्य' नामधारी पदार्थ विकारी हैं तो वास्तविक द्रव्य वह है जो सभी विषयों में एक सा बना रहता है †। हम देखते हैं कि 'सत्ता' (Existence)—कोई विशिष्ट सत्ता नहीं परन्तु शुद्ध सत्ता मात्र—सभी विषयों में सामान्य है। प्रत्येक विषय में—चाहे उसका रूप कुछ भी हो—'सत्ता' देखने में आती है। अतएव इसी सत्ता को विषय-संसार का मूल द्रव्य या उपादान कारण समझना चाहिये।

मूल तत्त्व या सत्ता

---

* वर्त्तमान भौतिकविज्ञान (Physics) भी कहता है कि रसायन शास्त्र (Chemistry) जिन्हें मूल-भूत (Element) कहता है वे भी वस्तुतः अविकारी नहीं हैं। Electron और Proton के संयोग-विशेष से बने होने के कारण, उनका भी दूसरी वस्तुओं में रूपान्तर हो सकता है।

† एक रूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः सः परमार्थः—शांकर भाष्य २।१।११

जब हम अपनी परिवर्त्तनशील मनोवृत्तियों पर ध्यान देते हैं तब वहाँ भी देखते हैं कि प्रत्येक भाव या विचार का विषय चाहे जो कुछ हो, उसमें सत्ता तो अवश्य ही रहती है। भ्रमात्मक विचार ‡ का विषय सत्य नहीं होता, तो भी वह विचार अवगति (Idea) के रूप में तो अवश्य ही सत् (Existent) है। सुषुप्तावस्था या मूर्छावस्था निर्विषयक होने पर भी सत् होती है £। इस तरह सत्ता एक अव्यभिचारी वस्तु है जो वाह्य और आभ्यन्तरिक सभी अवस्थाओं में अनुगत रहती है §। अतएव इसी सत्ता को मूल-द्रव्य या उपादान-कारण मानना चाहिये। सभी वाह्य विषय या आभ्यन्तरिक वृत्तियाँ इसी सत्ता के नाना रूप हैं।

सत्ता सभी में अनुगत है

इस तरह हम देखते हैं कि शुद्ध सत्ता जो समस्त संसार का मूल कारण है, नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार है, भिन्न-भिन्न भागों में विभक्त होने पर भी यथार्थतः निरवयव है, सान्त विषयों में भासमान होने पर भी वस्तुतः अनन्त है। इस प्रकार शंकर अनन्त, निर्विशेष सत्ता को ही संसार का मूल-तत्त्व या उपादान कहते हैं। वह इसी सत्ता को 'ब्रह्म' कहते हैं।

सत्ता स्वयं प्रकाश है

(३) इस ब्रह्म को चेतन सत्ता माना जाय या अचेतन? साधारणतः हम वाह्य विषयों को अचेतन और अपने मन की आभ्यन्तरिक वृत्तियों को चेतन समझते हैं। परन्तु चैतन्य की कसौटी क्या है? मन की वृत्ति को हम चैतन्य कहते हैं क्योंकि उसका अस्तित्व स्वयं-प्रकाश्य है। परन्तु जब हम वाह्य संसार को देखते हैं तो उसका अस्तित्व भी स्वयं अपने

---

‡ देखिये, ब्रह्मसूत्र २।१।१४ पर शांकर भाष्य

£ देखिये, छांदोग्य ६।२।१ पर शांकर भाष्य

§ इससे मिलते-जुलते मत के लिये Mc Taggart का The Nature of Existence देखिये।

को प्रकाशित करता है। यह 'भाति' या प्रकाश की शक्ति बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों पदार्थों में पाई जाती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि इन दोनों पदार्थों में जो सामान्य तत्त्व—सत्ता—है वह स्वयं-प्रकाशक है अर्थात् उसमें अपने को प्रकट करने का स्वाभाविक गुण है। अतएव ब्रह्म को स्वयं-प्रकाश चैतन्य-स्वरूप मानना अधिक समीचीन है। सूक्ष्मतया विचार करने से विदित हो जायगा कि प्रकाश या भाति ही सत् पदार्थ को असत् से पृथक् करता है। जो असत् है (जैसे वन्ध्यापुत्र) वह क्षण भर के लिये भी अपने को प्रकट नहीं कर सकता।

यहाँ दो आपत्तियाँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि कुछ सत् पदार्थ भी दिखाई नहीं देते और दूसरी यह कि कुछ असत् पदार्थ भी (जिनका अस्तित्व नहीं है) दिखाई देते हैं (जैसे स्वप्न या मृगमरीचिका आदि भ्रमों में)। प्रथम आक्षेप का यह उत्तर है कि सत् पदार्थों के अप्रत्यक्ष या अप्रकाश का कारण है प्रकाश के मार्ग में बाधा (जैसे सूर्य स्वयं-प्रकाश्य होते हुए भी बादलों के कारण छिप जाता है अथवा स्मृति में बाधा उपस्थित होने पर कोई विषय प्रकाशित नहीं होता) *। दूसरे आक्षेप का उत्तर यह है कि भ्रम के अधिष्ठान में भी कोई सत्ता अवश्य रहती है और उसीका हमें आभास होता है। इस तरह सत्ता का अर्थ है स्वयं-प्रकाश्यता अथवा चैतन्य।

शुद्ध सत्ता का स्वरूप

(४) इस निष्कर्ष की पुष्टि एक दूसरी दृष्टि से भी होती है। जहाँ-जहाँ सत्ता का प्रकाश होता है वहाँ-वहाँ तद्विषयक बुद्धि भी विद्यमान रहती है। जैसे, एक बाह्य विषय 'मृत्तिका' (मिट्टी) भी मृद्बुद्धि ('यह मिट्टी है' ऐसी बुद्धि) के रूप में प्रकाशित होती है। जब हम इस मृत्तिका को घट के रूप में परिणत होते देखते हैं तब हमारी मृद्बुद्धि घटबुद्धि ('यह घट है' ऐसी बुद्धि)

* देखिये, बृ० १।४।१ पर शांकर भाष्य

में बदल जाती है †। काल्पनिक विषय उस विषय की बुद्धि मात्र है। भ्रम का विषय भी केवल तद्विषयक बुद्धि मात्र है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ किसी प्रकार की सत्ता रहती है वहाँ बुद्धि भी अवश्य ही विद्यमान रहती है।

इस तरह की अनेक युक्तियों से शंकर श्रुति के इस वाक्य का मंडन करते हैं कि जगत् का आधार ब्रह्म है जो शुद्ध सत्ता एवं चैतन्य-स्वरूप है और स्वतः निर्विकार होते हुए भी अपने को नाना रूपों में प्रकट करता है।

ब्रह्म (सत्ता या चैतन्य) हमारी सभी अनुभूतियों में या सभी भासमान विषयों में वर्त्तमान है। किन्तु उसके रूप नाना होते हैं।

शुद्ध सत्ता या ब्रह्म अबाधित है

और, एक प्रकार की प्रतीति (जैसे स्वप्न या भ्रम) दूसरे प्रकार की प्रतीति (जैसे जाग्रत् अवस्था के वास्तविक अनुभव) से कट जाती है। जो प्रतीति बाधित (या खंडित) हो जाती है वह कम सत्य मानी जाती है और जिस प्रतीति के द्वारा वह बाधित होती है वह अधिक सत्य। परन्तु इन सब बाध्य-बाधक प्रतीतियों के रहते हुए भी शुद्ध सत्ता या चैतन्य बाधित नहीं होता। जब हम रज्जु में आभासित सर्प को असत्य समझते हैं तब केवल सर्पाकार सत्ता का निषेध करते हैं, सत्ता-मात्र का नहीं। इसी तरह जब हम स्वप्न के विषय को मिथ्या समझते हैं तब भी हम उस अनुभूति या अवगति की सत्ता को मानते हैं। और जब हम ऐसे देश-काल की कल्पना करते हैं जहाँ कुछ नहीं है तब भी कम से कम उस देश-काल की सत्ता तो मानते ही हैं। इस तरह सत्ता, (किसी न किसी रूप में) प्रत्येक विचार में व्याप्त है। अतः सत्ता के अभाव या निषेध की कल्पना नहीं की जा सकती। यह सर्वव्यापी शुद्ध सत्ता अथवा चैतन्य (सत् चित्) ही एक मात्र वस्तु है जिसके बाधित (खंडित) होने की कल्पना भी

---

† देखिये छां० ६।२।२ पर शांकर भाष्य

नहीं की जा सकती। अतएव शंकर उसे पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। इस तरह वह युक्ति द्वारा सत्ता का लक्षण यह निरूपित करते हैं—'जो प्रत्येक देश काल और अवस्था में अबाधित रहे ❀।

सत् 'असत्' की परिभाषा

किसी विशिष्ट रूप की सत्ता (जिसकी हमें प्रतीति होती है) के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि भविष्य में वह किसी दूसरी प्रतीति से बाधित नहीं हो जायगी। इसके बाधित होने की संभावना बराबर बनी रहती है। यह भी एक कारण है जिससे शंकर कहते हैं कि ऐसा विषय अथवा संसार जो इन समस्त विषयों का समूह है अबाध्य या अखंडनीय सत्ता का पद नहीं प्राप्त कर सकता। उपर्युक्त कारणों से वह बहुधा यों परिभाषा करते हैं कि जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओं में रहे वह सत् और जिसकी वृत्ति सभी वस्तुओं में नहीं रहे वह असत् है। अर्थात् अनुवृत्ति सत् का लक्षण है और *व्यभिचार* असत् का ‡।

प्रत्यक्ष और संभावित विरोध

इस तर्कशैली को ध्यान में रखते हुए हम शांकर अद्वैतवाद की इस पहेली को समझ सकते हैं कि घट और पट जो एक दूसरे से पृथक् हैं एक दूसरे की सत्ता को बाधित और खंडित करते हैं। यहाँ शंकर की दृष्टि में दो तरह के विरोध हैं, प्रत्यक्ष और संभावित। सर्पाकार सत्ता की प्रतीति उससे अधिक प्रबल रज्ज्वाकार (रस्सी के आकार की) सत्ता की प्रतीति से कट जाती है। यहाँ एक वास्तविक प्रतीति दूसरी वास्तविक प्रतीति से खंडित हो जाती है। यह प्रत्यक्ष विरोध है। सामान्यतः इसीको असत्यता का चिह्न समझा जाता है। शंकर भी इसे मानते

❀ यद्यपि स्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदंशनस्नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम्, प्रतिबुद्धस्यापि अबाध्यमानत्वात्।

—शांकर भाष्य २।१।१४

‡ देखिये, छां० ६।२।२, ब्रह्मसूत्र २।१।११ और गीता २।१६ पर शांकर भाष्य।

हैं। परन्तु कुछ पाश्चात्य दार्शनिकों (जैसे जेनो, कांट, ब्रैडले आदि) की तरह वे भी और एक प्रकार का विरोध मानते हैं। यह वहाँ होता है जहाँ कोई वास्तविक प्रतीति विचार के द्वारा बाधित हो जाती है अथवा एक विचार दूसरे विचार से बाधित हो जाता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर विकार या परिवर्त्तन को (जिसकी प्रत्यक्ष प्रतीति होती है) असत्य मानते हैं क्योंकि यह युक्ति द्वारा बाधित हो जाता है। इसी तरह वे यह दिखलाते हैं कि यद्यपि घट की प्रतीति से पट की प्रतीति बाधित नहीं होती तथापि घट और पट दोनों सत्ता के यथार्थरूप से विरुद्ध पड़ते हैं। शुद्ध सत्ता वह है जो न केवल प्रत्यक्ष द्वारा अबाधित हो किन्तु अनुमान या युक्ति से भी अबाध्य हो, क्योंकि उसका खंडन कल्पनातीत है। घट, पट आदि सविशेष प्रतीतियों में यह बात नहीं है। बल्कि सत्ता की भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीति होती है इसी बात से इस संभावना का मार्ग खुल जाता है कि जिसकी एक रूप में अभी प्रतीति हो रही है उसकी बाद में दूसरे रूप में प्रतीति हो सकती है (जैसे अभी सांप के रूप में जिसकी प्रतीति हो रही है उसकी रस्सी के रूप में प्रतीति हो सकती है)। प्रत्यक्ष अनुभव में परिवर्त्तन की यह आशंका और फलस्वरूप उसकी बाधित होने की संभावना प्रत्येक वस्तु-विशेष की सत्ता को शंकाग्रस्त कर देती है। हमें इस बात का पूर्ण निश्चय नहीं हो सकता कि अभी जिसे हम घट के रूप में देख रहे हैं वह कभी अन्यथा नहीं दिखाई पड़ेगा। इस तरह घट-पट आदि भिन्न-भिन्न आकारक सत्ताएँ एक दूसरे से टकराती हैं जिससे किसी की सत्ता असंदिग्ध नहीं मानी जा सकती। यदि यहाँ विशेषाकारक सत्ता नहीं लेकर केवल शुद्ध सत्ता का ग्रहण किया जाय तो कोई विरोध उपस्थित होने की संभावना नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में वस्तु मात्र की सत्ता अबाधित रहती है। विशेषों का विशेषत्व ही उनकी अकाट्य सत्यता का बाधक हो जाता है। निर्विशेष सत्ता संदेह और बाधाओं से परे है।

(५) संसार के परिवर्त्तनशील विशेष विषयों की सत्ता की परीक्षा करते हुए शंकर उनका दुहरा स्वरूप देखते हैं। वे विषय सत् नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे विशेष और विकारशील हैं। किन्तु वे वंध्यापुत्र के समान सर्वथा असत् अलीक या तुच्छ भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें भी सत्ता है जो उनके रूप में आभासित हो रही है। इस कारण वे न तो सत् कहे जा सकते हैं न असत्। वे अनिर्वचनीय हैं। यह समस्त विषय-संसार और उसकी जननी माया या अविद्या भी सत् असत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय है।

अनिर्वचनीय

(ख) भ्रम-विचार

शंकर जगत् को माया या भ्रम समझते हैं अतएव उन्होंने (और उनके अनुयायियों ने भी) भ्रम की विशद विवेचना की है, विशेषत: इसलिये कि अन्यान्य सम्प्रदायों के भ्रम-विषयक मत अद्वैतवाद के प्रतिकूल पड़ते हैं। मीमांसक-गण तो प्रत्यक्ष में भ्रम की संभावना मानते ही नहीं। कुछ पाश्चात्य वस्तुवादी दार्शनिकों की तरह उनका कहना है कि ज्ञान-मात्र (विशेषत: साक्षात् ज्ञान) सत्य है। यदि यह विचार ठीक माना जाय तो अद्वैत की सिद्धि नहीं होती। अतएव अद्वैतवादी इस मत की आलोचना करते हैं। मीमांसकों का कहना है कि जिसे हम भ्रम कहते हैं (जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम) वह वस्तुत: एक प्रकार का ज्ञान नहीं है। वह प्रत्यक्ष और स्मृतिज्ञान का सम्मिश्रण और इन दोनों के भेदज्ञान का अभाव (भेदाग्रह) है। इसके विरुद्ध अद्वैतवादियों की मुख्यत: ये युक्तियाँ हैं। 'यह साँप है' ऐसा भ्रमात्मक विचार सूचित करता है कि यहाँ एक ही ज्ञान है। यह सत्य हो सकता है कि 'यह' पदवाच्य वस्तु के प्रत्यक्ष से पूर्वानुभूत साँप की स्मृति जग जाती है, परन्तु यदि वह स्मृति इस प्रत्यक्ष के साथ मिलकर एक ज्ञान नहीं बन जाती (अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान

मीमांसा मत का खण्डन

के साथ-साथ पृथक् रूप में रहती) तो दो विचार होते (१) 'मैं यह देखता हूँ' (२) 'मुझे साँप की स्मृति हो रही है' अथवा (१) 'यह है' और (२) 'वह साँप था ।' इसके विपरीत, 'यह साँप है' इस वाक्य में 'साँप' 'यह' पदवाच्य प्रत्यक्ष का विधेय (Predicate) है। अतएव 'यह' (प्रत्यक्ष वस्तु) साँप से अभिन्न माना गया है। यहाँ केवल भेद-ज्ञान का अभाव मात्र नहीं है, परन्तु प्रत्यक्ष और स्मृत पदार्थों की तादाम्य-कल्पना भी है। यदि ऐसा तादाम्य-ज्ञान (अर्थात् यह विश्वास कि 'यह वस्तु साँप है') नहीं रहता तो हम उस वस्तु से डर कर भागते नहीं। अतएव प्रत्यक्ष भ्रम को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

न्याय-वैशेषिक मत का खंडन

प्रत्यक्ष ज्ञान में भ्रम हो सकता है इस बात को न्याय-वैशेषिक भी स्वीकार करता है। परन्तु वह उसे एक अलौकिक प्रत्यक्ष की तरह मानता है जिसमें स्मृति का संस्कार (जैसे पूर्वानुभूत सर्प के सदृश रस्सी को देखकर उस सर्प का स्मृति-संस्कार) इतना प्रबल हो उठता है कि वह प्रत्यक्ष सा जान पड़ता है। इस तरह जो वस्तुतः पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुआ था (जैसे अन्यत्र देखा हुआ साँप) वह उस संस्कार के द्वारा वर्त्तमान-कालिक ज्ञान बन जाता है। जो नित्य असत् है उसकी कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जिस सत् पदार्थ का कभी पहले प्रत्यक्ष हुआ था उसी की प्रतीति भ्रम में हो सकती है। अतएव अद्वैतवादियों का यह कहना कि यह जगत् भ्रम-मात्र है तभी समझ में आ सकता है जब किसी वास्तविक जगत् का भी पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हो चुका हो। विना इसके भ्रम की सिद्धि ही नहीं होती। यदि जगत् त्रिकाल में असत् है तो इसकी कभी प्रतीति ही नहीं होनी चाहिये।

इसके उत्तर में अद्वैतवादी मुख्यतः ये युक्तियाँ देते हैं। वर्त्तमान देश-काल में किसी अतीत देश-काल के विषय का प्रत्यक्ष होना

असंभव है। स्मृति-संस्कार कितना ही प्रबल क्यों न हो उसमें 'तत्' ('वह') का भाव रहेगा, 'एतत्' ('यह') का नहीं। ('वह' में देश-काल की दूरता का भाव है, 'यह' सामीप्य अर्थात् 'यहाँ' और 'अभी' का सूचक है।) इस तरह भ्रमात्मक विषय में जो वर्त्तमानत्व और साक्षात् प्रतीति का भाव रहता है उसकी उपपत्ति नहीं होती। यदि यह कहा जाय कि स्मृति-ज्ञान प्रत्यक्ष के वास्तविक विषय को अपने देश-काल से अलग कर हटा देता है तो यह भी असंगत होगा। किसी भी अवस्था में यह तो मानना ही पड़ेगा कि जो यहाँ और अभी वस्तुतः सत् नहीं है (जैसे साँप), वह सत् के रूप में भासमान हो सकता है और वह इस कारण कि हमें वर्त्तमान वस्तु (जैसे रज्जु) का अज्ञान है। इन सब बातों को एक साथ मिलाकर अद्वैतवादी इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि अज्ञान के कारण वास्तविक विषय के स्वरूप पर आवरण (पर्दा) पड़ जाता है और वहाँ विषयान्तर की प्रतीति होती है जिसे हम भ्रम कहते हैं। वर्तमान स्वरूप का प्रत्यक्ष नहीं होना कई कारणों से हो सकता है जैसे दृष्टि-दोष, प्रकाश का अभाव आदि। सादृश्य-ज्ञान और तज्जन्य स्मृति-संस्कार के उद्‌बोधन से अज्ञान को भावरूप भ्रम (जैसे सर्प) की सृष्टि करने में सहायता पहुँचती है। यह भासमान विषय (सर्प) वर्त्तमानकालिक प्रतीति (अभी और यहाँ जो अवगति हो रही है) के रूप में विद्यमान है, यह तो मानना ही होगा। इसे अज्ञान की तात्कालिक सृष्टि कह सकते हैं। इस सृष्टि को सत् नहीं कह सकते क्योंकि यह पश्चात्-कालिक अनुभव (रज्जु के प्रत्यक्ष) से बाधित हो जाती है। इसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि यह कुछ काल के लिये (क्षण भर के लिये भी) प्रकट होती है। और जो वस्तु असत् है (जैसे वंध्यापुत्र) वह कभी क्षणमात्र के लिये भी प्रकट नहीं हो सकती। अतएव अद्वैतवादी इसे अनिर्वचनीय सृष्टि कहते हैं। उनका मायावाद अनिर्वचनीय ख्यातिवाद कहलाता है। यह रहस्यवाद सा मालूम हो सकता है। परन्तु माया या भ्रम

में रहस्य तो है ही। जो वस्तुवादी या स्वभाववादी हैं उनके लिये भी यह एक उलझन हैं। न्याय-वैशेषिक को भी यह स्वीकार करना पड़ा है। अतएव वह इसे प्रत्यक्ष का अलौकिक रूप कहता है।

अद्वैतवाद का सिद्धान्त

यह संसार भ्रम है। उस भ्रम का कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण आवरण और विक्षेप होता है (अर्थात् वस्तु का स्वरूप आच्छादित होकर वस्त्वन्तर की प्रतीति होती है)। यही वेदान्त का मत है। फिर भी यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि वास्तविक जगत् का पहले कभी प्रत्यक्ष नहीं हुआ तो फिर इस वर्त्तमान जगत् की प्रतीति (भ्रम-रूप में) कैसे हो सकती है। परन्तु अद्वैतवादी के लिये इसका उत्तर देना कठिन नहीं है। क्योंकि कतिपय अन्यान्य भारतीय दर्शनों की तरह वे भी मानते हैं कि सृष्टि का प्रवाह अनादि है और इस संसार के पहले असंख्यों संसार हो चुके हैं।

अतएव शंकराचार्य 'अध्यास' (भ्रम) का अर्थ करते हैं—पूर्ववर्त्ती अनुभव का परवर्त्ती आधार में भासित होना।'※ उनका अभिप्राय है कि अज्ञान के कारण हम पूर्व जन्मों में अनुभूत नाना विषयों का शुद्ध सत्ता या ब्रह्म में आरोप करते हैं।

यदि अनादि प्रवाह का सिद्धान्त न भी माना जाय तो भी सत्ता का रूपान्तर में प्रकट हो सकना भ्रमात्मक ज्ञान के आधार पर ही सिद्ध हो जाता है। प्रत्येक भ्रम में, एक विषय के स्थान में विषयान्तर का प्रकट होना रहता ही है। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि जिसकी अभी वास्तविक सत्ता नहीं है वह भी सत् के रूप में प्रकट हो सकता है। अयथार्थ वस्तु भी सत् रूप में प्रकट हो सकती है, यह बात प्रत्येक भ्रम से सिद्ध होती है।

अद्वैत का भ्रमविषयक सिद्धान्त बौद्धमत के शून्यवाद या विज्ञानवाद से भिन्न है। शून्यवादी कहता है कि शून्य (अर्थात् जो

※ देखिये, Introduction to Brahma Sutra.

बिल्कुल असत् है) ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ता है। विज्ञानवादी का मत है कि मानसिक विज्ञान या प्रत्यय ही जगत् के रूप में दिखाई पड़ता हैं। शंकर और उनके अनुयायियों का सिद्धान्त है कि प्रत्येक विषय का आधार शुद्ध सत्ता है, और यह आधार न तो शून्य है, न मन की भावना, यह केवल सत्ता मात्र है।

यद्यपि स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था का संसार भ्रम की तरह अविद्या का परिणाम माना जाता है तथापि अद्वैतवादी यथार्थ प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास में भेद करते हैं। अतएव इनके कारणरूप अज्ञान भी दो प्रकार के माने गये हैं। जिस मूल अविद्या के कारण व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है वह 'मूलाविद्या' कहलाती है। उसी के सदृश जिस अविद्या के कारण तात्कालिक भ्रम उत्पन्न होता है, वह 'तुलाविद्या' कहलाती है।

अद्वैतवादी व्यावहारिक जगत् और काल्पनिक विषय (जैसे रज्जु में सर्प का आभास), दोनों को सृष्टिमूलक और अतएव विषयात्मक (objective) मानते हैं। इस सम्बन्ध में अद्वैतवादी वस्तुवादियों से भी बढ़े-चढ़े हैं। भेद इतना ही है कि अद्वैतवादियों के अनुसार विषयात्मक होने से ही यथार्थ भी होगा ऐसा आवश्यक नहीं और असत् होने से वह मन में ही है यह भी आवश्यक नहीं। हाल्ट (Holt) प्रभृति कुछ आधुनिक अमेरिकन नववस्तुवादी (Neo-Realists) भी ऐसा ही मानते हैं। इसके विरुद्ध, वे पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर प्रत्येक विषय को (जो सविशेष और विकारशील होता है) विरुद्धात्मक (Contradictory और अतएव असत्य समझते हैं। केवल शुद्ध सत्ता ही एकमात्र यथार्थ सत्य है।

(ग) शांकर मत की समालोचना

शंकराचार्य के मत पर अनेक प्रकार के आक्षेप किये गये हैं।

उनमें मुख्य यह है कि शंकर जगत् का उपपादन नहीं करते, बल्कि

उस समस्या ही को उड़ा देते हैं। दर्शन का काम है जगत् का कारण बतलाना। यदि वह जगत् की सत्ता ही नहीं माने, तो वह फिर टिकेगा किस आधार पर ? परन्तु इस तरह की आलोचना कुछ छिछली सी प्रतीत होती है। यह सत्य है कि दर्शन का काम है जगत् का (अर्थात् समस्त विषयों के समूह का) कारण बतलाना। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दर्शनशास्त्र शुरू से ही इस बात को स्वीकार कर लेता है कि सामान्यतः जो संसार देखने में आता है वही पूर्ण सत्य है। दर्शन सामान्य ज्ञान और लोकमत की परीक्षा करता है जिससे तर्क के प्रकाश में उसका वास्तविक तथ्य निकल आवे और सबसे सुसंगत विचार या सिद्धान्त की प्राप्ति हो सके। शंकराचार्य ऐसी परीक्षा के द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सभी प्रतीतियाँ एक समान विश्वसनीय नहीं हैं और न सभी लोकमत परस्परविरोध से रहित हैं। एक प्रकार की प्रतीति दूसरी को बाधित करती और उससे अधिक सत्य होने का दावा करती है। कुछ अनुभव और विश्वास (अपने विशेष रूपों में) ऐसे हैं जिनका भविष्य अनुभव से विरोध पड़ने की संभावना है। अतएव दर्शनशास्त्र का काम है कि वह एक विश्वास और दूसरे विश्वास में, एक अनुभव और दूसरे अनुभव में, विवेचना कर प्रत्येक का उचित स्थान-निर्धारण करे। इसी

क्या शंकर जगत् को बिल्कुल मिथ्या मानते हैं

यौक्तिक आधार पर शंकर सामान्य अनुभवों का प्रकार-भेद और स्थान-निरूपण करते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, वह पहले सभी विद्यमान और संभाव्य विषयों को असत् (जैसे वंध्यापुत्र) से पृथक् करते हैं। पुनः उन्हें तीन कोटियों में विभाजित करते हैं—

सत्ता की तीन कोटियाँ

(१) वे विषय जो क्षण भर के लिये प्रकट होते हैं (जैसे स्वप्न या भ्रम में) और स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था के अनुभवों से बाधित होते हैं। (२) वे विषय जो स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था में प्रकट होते हैं (जैसे परिवर्त्तनशील घट, पट आदि वस्तु-विशेष, जो हमारे दैनिक

जीवन और व्यवहार के विषय हैं) परन्तु जो तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक या बाधित हो सकने योग्य रहने के कारण सम्पूर्णतः सत्य नहीं कहे जा सकते। (३) शुद्ध सत्ता जो सभी प्रतीतियों में प्रकट होती है और जो न बाधित होती है और न जिसके बाधित होने की कल्पना ही हो सकती है।

यदि सभी प्रकार की प्रतीतियों का नाम संसार है, तो यह संसार न तो समष्टि-रूप में सत्य कहा जा सकता है, न व्यष्टि रूप में।

अनिर्वचनीयवाद

ऊपर जिन तीन कोटियों की सत्ता का वर्णन किया गया है, उनमें प्रथम प्रातिभासिक सत्ता, दूसरी व्यावहारिक सत्ता और तीसरी पारमार्थिक सत्ता कहलाती है। इस तरह संसार एक रूप नहीं है। तथापि जो यह जानना चाहते हैं कि संसार (समष्टि-रूप में) क्या है, उनके लिये शंकर का यही उत्तर है कि यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण, अनिर्वचनीय है। परन्तु यदि संसार को व्यावहारिक सत्ता के अर्थ में लिया जाय तो यह कहना ठीक होगा कि यह संसार केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है अर्थात् यह प्रातिभासिक सत्ता की अपेक्षा अधिक सत्य और पारमार्थिक सत्ता की अपेक्षा कम सत्य है।

किन्तु यदि यह जगत् पारमार्थिक सत्ता के अर्थ में लिया जाय तो शंकर जोर देकर कहते हैं कि जगत् अवश्य ही सत्य है। उनका कहना है—"कारणरूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में (भूत, भविष्य और वर्त्तमान में) रहती है, अतएव कार्य-रूपी जगत् में उसका (सत्ता का) कभी अभाव नहीं रह सकता ❀। पुनश्च—नाना रूपनामात्मक विषय निर्विशेष रूप में सत् हैं, सविशेष रूप में असत् हैं †।

❀ देखिये ब्रह्मसूत्र २।१।१६

† ,, छांदोग्य ६।२।२

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शंकर व्यावहारिक दृष्टि से जगत् को सत्य मानते हैं और विज्ञानवादी (Subjective Idealist.) की तरह उसे ज्ञाता पुरुष की अनुभूति-मात्र नहीं मानते (जिसका अस्तित्व मन के भीतर ही सीमित रहता है)। उनका विज्ञानवाद का खंडन देखने से यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायगी ‡। उनका कहना है कि स्वाभाविक जाग्रत् अवस्था के विषय स्वप्न-विषयों की कोटि में नहीं हैं क्योंकि स्वप्न के विषय जाग्रत् अनुभव से बाधित होते हैं। अतएव जाग्रत् अनुभव अधिक सत्य है। घट, पट आदि बाह्य विषय जो साक्षात् रूप से मन के बाहर जान पड़ते हैं, मन के आभ्यन्तरिक भावों की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते, क्योंकि वे विषय सबको प्रत्यक्ष दिखलाई देते हैं। परन्तु मनोभाव का अनुभव केवल उसीको होता है जिसके मन में वे भाव हैं। शंकराचार्य इस बात को भी स्पष्ट कर देते हैं कि यद्यपि वह स्वप्न के दृष्टान्त द्वारा जगत् के स्वरूप का उपपादन करते हैं तथापि वह बाधित स्वप्न-ज्ञान और बाधक जाग्रत् ज्ञान (जो व्यावहारिक जगत् का आधार है) का अन्तर स्वीकार करते हैं। इन दोनों के कारण (अज्ञान) भी भिन्न-भिन्न हैं, इसे भी वह मानते हैं। ❀ प्रथम कोटि का अनुभव (जैसे स्वप्न या भ्रम) व्यक्तिगत एवं तात्कालिक अज्ञान से होता है। द्वितीय कोटि का अनुमान (जैसे नाना विषयों का प्रत्यक्ष) सार्वजनिक और अपेक्षाकृत स्थायी अज्ञान से होता है। प्रथम के लिये बहुधा 'अविद्या' और द्वितीय के लिये 'माया' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवत् (भ्रमोत्पादक अज्ञान के अर्थ में) भी व्यवहृत होते हैं।

व्यावहारिक दृष्टि से जगत् सत्य है

---

‡ ,, ब्रह्मसूत्र २।२।२८

❀ देखिये ब्रह्मसूत्र २। २।२६

(२) ब्रह्म-विचार

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से (जिसके अनुसार जगत् सत्य माना जाता है) ब्रह्म को मूल कारण, सृष्टि-कर्त्ता, पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् कह सकते हैं। इसी रूप में उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म भी कहा जाता है। इसी रूप में ईश्वर की उपासना की जाती है।

तटस्थ और स्वरूप लक्षण

परन्तु शंकराचार्य जगत् को अविद्यामूलक अध्यास या भ्रममात्र मानते हैं। अतएव ब्रह्म को जगत्कर्त्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता है (अर्थात् जबतक हम जगत् को सत्य मानते हैं)। जगत्-कर्त्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं, केवल तटस्थ लक्षण है। अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता होना उनका औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं।

एक दृष्टान्त के द्वारा यह भेद स्पष्ट हो जायगा ❀। एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा बनकर अभिनय करता है। वह देश जीत कर उस पर शासन करता है। अब वास्तविक दृष्टि से वह व्यक्ति गड़ेरिया है। यह उसका स्वरूप-लक्षण है। किन्तु नाटक की दृष्टि से वह राजा विजेता और शासक के रूप में प्रकट होता है। वह उसका तटस्थ लक्षण है (अर्थात् ऐसा लक्षण है जो उसके असली स्वरूप को स्पर्श नहीं करता।)

मायावी का दृष्टान्त

इसी तरह ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण है—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (अर्थात् ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान-स्वरूप है)। † जगत्कर्त्ता, जगत्पालक, जगत्-संहारक आदि विशेषण (जिनका जगत् से सम्बन्ध है) उसके तटस्थ लक्षण मात्र हैं और केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं। जिस प्रकार हम रंगमंच के

❀ नट की उपमा के लिये ब्रह्मसूत्र २।१।१८ पर शांकर भाष्य देखिये।

† तैत्तिरीय २।१

पात्र को नट के अतिरिक्त अन्य दृष्टि-कोण से भी देख सकते हैं, उसी तरह हम ब्रह्म को जगत् से भिन्न दृष्टि-कोण से-पारमार्थिक दृष्टि से-भी देख सकते हैं। तब जगत् के सम्बन्ध को लेकर जितने विशेषण हम उसमें लगाते हैं, उन सभी से वह परे हो जाता है। यही ब्रह्म का यथार्थ या असली स्वरूप है। शंकराचार्य इसी को परब्रह्म कहते हैं। ब्रह्म के इस यथार्थ स्वरूप को (जो जगत् से अतीत या परे है) तथा औपाधिक रूप को (जो जगत् से सम्बद्ध है) समझने के लिये शंकर मायावी का दृष्टान्त देते हैं (जो श्वेताश्वतर में वर्णित है)। जादूगर केवल उन्हीं लोगों की दृष्टि में अद्भुत है जो उसकी माया या छल से छले जाते हैं और उसके दिखलाये हुए इन्द्रजाल को सच समझते हैं। परन्तु जो लोग उसके माया-जाल में नहीं फँसते और उसकी चालाकी समझ जाते हैं, उनकी दृष्टि में वह जादू अद्भुत या आश्चर्य-जनक नहीं रहता। इसी तरह, जो जगत् रूपी माया-जाल के भुलावे में आ जाते हैं वे ईश्वर को मायावी या सृष्टिकर्त्ता के रूप में देखते हैं परन्तु जो इने-गिने तत्त्वज्ञानी हैं वे समझते हैं कि यह संसार केवल धोखे की टट्टी है। न कोई वास्तविक सृष्टि है न वास्तविक सृष्टिकर्त्ता।

शंकर का मत है कि इसी प्रकार सामान्य अनुभव के आधार पर हम समझ सकते हैं कि ब्रह्म कैसे जगत् में व्याप्त भी है और इससे परे भी (जैसा उपनिषद् हमें बतलाते हैं)। जगत् जबतक भासित होता है तबतक वह एकमात्र सत्ता—ब्रह्म—के ही आश्रित रहता है; जैसे रस्सी में आभासित साँप उस रस्सी के अलावे और कहीं नहीं रहता। परन्तु जिस तरह उसी रस्सी में सर्पत्व की भ्रान्ति के कारण कोई विकार नहीं आता अथवा जिस तरह नाटक के पात्र को राज्य की प्राप्ति या नाश से कोई यथार्थ लाभ-हानि नहीं होती, उसी तरह जगत् के सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि विषयों से ब्रह्म प्रभावित नहीं होता।

जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, रामानुज ब्रह्म के इन दो विभिन्न रूपों (विश्व और विश्वातीत) का सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वे इस असमंजस में पड़ जाते हैं कि यह कैसे हो सकता है कि ब्रह्म जगत् में रहते हुए भी जगत् के दोषों से रहित है। यह कठिनता केवल रामानुज को ही नहीं है। अधिकांश पाश्चात्य ईश्वरवादी भी इस कठिनता में पड़ जाते हैं और सृष्टि को वास्तविक मानते हैं।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म

उपासक और उपास्य का भेद मानकर ही ईश्वर को उपासना का विषय समझा जाता है। सांसारिक विषय की सत्ता की तरह जीव की सत्ता भी अविद्या (अर्थात् 'ब्रह्म ही एक मात्र सत्ता है' इस सत्य का अज्ञान) पर आश्रित है। इसके अतिरिक्त ईश्वर की उपासना इसलिये की जाती है कि उसे जगत् का कर्त्ता और स्वामी समझा जाता है। इस तरह उपासना और उपास्य ईश्वर व्यावहारिक दृष्टि से सम्बन्ध रखते हैं जिसके अनुसार जगत् सत्य प्रतीत होता है और ईश्वर तत्सम्बन्धी अनेक गुणों से युक्त मालूम होता है। यही सगुण ब्रह्म या ईश्वर उपास्य माना जा सकता है।

पारमार्थिक दृष्टि से जगत् या जीव के गुण ब्रह्म में आरोपित नहीं किये जा सकते। वह सजातीय, विजातीय और स्वगत, सभी भेदों से रहित है। यहाँ शंकर का रामानुज से भेद पड़ता है। रामनुज ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं, क्योंकि ब्रह्म में चित् (Conscious) और अचित् (Unconscious) ये दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। शंकर का मत है कि विश्वातीत रूप में ब्रह्म अनिर्वचनीय है। अतएव वे परब्रह्म को निर्गुण मानते हैं। *सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म* (ब्रह्म सत्य और अनन्त ज्ञान-स्वरूप है) भी (यद्यपि यह तटस्थ लक्षणों से अधिक शुद्ध है) ब्रह्म का ठीक स्वरूप नहीं बतला सकता। यह केवल इतना ही दिखलाता है कि ब्रह्म असत्, सान्त और अचेतन

नहीं है और इस तरह बुद्धि को ब्रह्म की ओर प्रेरित करता है। ❀

उद्देश्य (Subject) के सम्बन्ध में किसी गुण का विधान (Predication) करना मानों उस उद्देश्य को सीमित कर देना है।

'नेति' का तात्पर्य

तर्कशास्त्र के प्रतिवर्तन (Obversion) के नियम से यह निष्कर्ष निकलता है। यदि 'क' 'ख' है तो वह 'न-ख' नहीं है। अर्थात् 'न-ख' 'क' के वहिर्गत है। अतः 'क' उस अंश तक सीमित है। यूरोप के एक बड़े दार्शनिक स्पिनोजा भी, इसी बात को स्वीकार करते हैं। उनका सिद्धान्त है—प्रत्येक विशेषण का अर्थ है निषेध। (Every determination is a negation)। अतएव उनका यह भी विचार है कि मूल द्रव्य (Substance) अविशेष (Indeterminate) और अनिर्वचनीय (अवर्णनीय) है। उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है। उनका कहना है–'नेति नेति'। अर्थात् ब्रह्म में यह गुण नहीं है, वह गुण नहीं है। इस तरह किसी गुण का—उपस्थता तक का—ब्रह्म में आरोप नहीं किया जाता। † इसी कारण शंकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण कहते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि संसार माया का फल-स्वरूप है। अतः सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मायावी के समान कहे गये हैं। अज्ञानी मनुष्य समझते हैं कि सृष्टि सत्य है और अतएव ब्रह्म वस्तुतः मायाविशिष्ट (सृष्टि उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त) है। परन्तु वस्तुतः कर्तृत्व ब्रह्म का स्वाभाविक गुण नहीं है, यह केवल बाह्य उपाधि मात्र है जिसको हम भ्रमवश ब्रह्म में आरोपित करते हैं। अतएव ब्रह्म केवल मायोपहित (माया की उपाधि से युक्त) है। सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म—ये दो नहीं एक हैं। जैसे नाट्यशाला के भीतर जो आदमी है वही नाट्यशाला से बाहर जाने पर दूसरा आदमी नहीं हो जाता।

❀ देखिये, तै० २।१ पर शांकरभाष्य

† केन १।५

सगुण ब्रह्म या ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। जगत् की अपेक्षा से वह ईश्वर है। निरपेक्ष रूप में वह परब्रह्म है।

व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोण

जीवन में निरन्तर हम भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखने के अभ्यस्त रहते हैं। अतएव यह अद्वैत-दर्शन की कुछ नई या विलक्षण वस्तु नहीं है। दैनिक जीवन में हम देखते हैं कि सरकारी नोट वस्तुतः कागज मात्र है परन्तु व्यावहारिक रूप में धन है। फोटो वस्तुतः कागज होते हुए भी मनुष्य सा दिखाई पड़ता है। दर्पण का प्रतिबिम्ब यथार्थ वस्तु सा प्रतीत होता है, परन्तु असल में वैसा नहीं रहता। इस तरह के अनेकों उदाहरण दिये जा सकते हैं। प्रकट और वास्तविक रूप का यह सामान्य भेद लेकर वेदान्त ने ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध समझाने की चेष्टा की है। इस तरह व्यावहारिक और पारमार्थिक का भेद न अस्वाभाविक है, न अगम्य। यह जीवन में प्रचलित भेद ही का एक विशिष्ट प्रयोगमात्र है।

ईश्वर का महत्त्व

यद्यपि ईश्वर का सृष्टिकर्त्ता होना केवल बाह्यरूप है तथापि उसका महत्त्व हमें कम नहीं समझना चाहिये। निचली सीढ़ी के सहारे ही हम क्रमशः ऊपर चढ़ सकते हैं। उपनिषदों और अद्वैत वेदान्त का विश्वास है कि सत्य का साक्षात्कार क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति के द्वारा होता है। अविवेकी मनुष्य, जिसे यही संसार पूर्ण सत्य जान पड़ता है, इसके बाहर जाने की अथवा इसके कारण या आधार का अनुसंधान करने की आवश्यकता नहीं समझता। जब उसे किसी तरह संसार की अपूर्णता का बोध हो जाता है तब वह उस तत्त्व की खोज करता है जो इस संसार की पृष्ठभूमि या आधार है। तब वह सृष्टिकर्त्ता और जगत्पालक के रूप में ईश्वर को ढूँढ़ निकालता है और श्रद्धा-भक्ति के साथ उसकी प्रार्थना करता है। इस तरह ईश्वर उपासना का विषय बन जाता है। जब विचार

इससे भी आगे बढ़ जाता है, तब (अद्वैतानुसार) हमें यह बोध हो सकता है कि जिस ईश्वर तक हम जगत् के सहारे पहुँच चुके हैं वही वास्तव में एक मात्र सत्ता है और जगत् केवल एक आभास मात्र है। इस प्रकार पहली खाड़ी में केवल जगत् ही सत्य है। दूसरी खाड़ी में, जगत् और ईश्वर, ये दोनों ही सत्य हैं। तीसरी खाड़ी में, केवल ईश्वर (ब्रह्म) ही सत्य है। प्रथम मत निरीश्वरवाद (Atheism) है। दूसरा मत रामानुज प्रभृति आचार्यों का ईश्वरवाद (Theism) है। तीसरा मत शंकराचार्य का अद्वैतवाद (Absolute Monism) है। शंकराचार्य इस बात को मानते हैं कि अन्तिम खाड़ी पर एकबारगी नहीं पहुँचा जा सकता। दूसरी खाड़ी के सहारे ही क्रमशः ऊपर चढ़ कर हम वहाँ तक पहुँच सकते हैं। अतएव वे सगुण ब्रह्म की उपासना को भी महत्त्व देते हैं। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है और हमें परम तत्त्व की प्राप्ति में सहायता मिलती है। इसके बिना हमें विश्वव्यापी अथवा विश्वातीत ब्रह्म का अनुभव नहीं हो सकता। शंकराचार्य देवताओं की उपासना की भी उपयोगिता मानते हैं; क्योंकि उससे अज्ञानी की नास्तिकता दूर होती है। इस तरह उपासना तत्त्वज्ञान के पथ में एक सीढ़ी है।

ब्रह्म-विचार का यौक्तिक आधार

उपर्युक्त ब्रह्मविषयक विचार मुख्यतः श्रुतियों के आधार पर हैं। परन्तु सामान्य अनुभव और युक्ति के द्वारा भी उनका उपपादन किया जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर तर्क के द्वारा कैसे इन बातों को सिद्ध करते हैं—

युक्ति के द्वारा ब्रह्म का समर्थन

(१) संसार की सभी विशेष और परिवर्तनशील सत्ताओं का मूल आधार (और उपादान) शुद्ध निर्विशेष सत्ता है।

(२) विशेष विषय परस्पर-बाधित होने के कारण पूर्णतः सत्य नहीं माने जा सकते।

(३) केवल शुद्ध सत्ता ही वास्तविक या संभाव्य विरोध से रहित होने के कारण एक मात्र निरपेक्ष सत्य है।

(४) शुद्ध सत्ता शुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।

उपर्युक्त बातों से सूचित होता है कि यह निरपेक्ष सत् चित् ही उपनिषदों का सत्य, ज्ञान, अनन्त ब्रह्म है। ब्रह्म के सगुण और निर्गुण रूप भी युक्ति-द्वारा सिद्ध किये जा सकते हैं। जैसा हम देख चुके हैं, विषय-संसार के स्वरूप से युक्तियों के द्वारा हम शुद्ध सत्ता या ब्रह्म पर पहुँच जाते हैं। जब तक हम ऐसा सूक्ष्म विश्लेषण नहीं करते तबतक जाग्रत् अवस्था का व्यावहारिक जगत् ही वास्तविक सत्य प्रतीत होता है। हमारा सामान्य दैनिक जीवन इसी सहज विश्वास पर अवलम्बित रहता है। परन्तु जब समीक्षा के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि अखिल विश्व का आधार शुद्ध सत्ता मात्र है तब हमें प्रत्येक वस्तु में उसका अस्तित्व दिखलाई पड़ता है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि प्रत्येक विषय में ब्रह्म अभिव्यक्त होता है। यद्यपि यह जगत् अनेक नामरूपात्मक आभासित होता है तथापि इसका एकमात्र आधार-तत्त्व ब्रह्म ही है।

परन्तु जब इस बात का अनुभव होता है कि 'यद्यपि शुद्ध सत्ता अनेक रूपों में प्रकट होती है तथापि युक्ति उन्हें यथार्थ नहीं मान सकती', तब यह स्वीकार करना पड़ता है कि जगत् के मूल-कारण में ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है जो वह वस्तुतः एक (अपरिणामी) होते हुए भी अनेक रूपों में अपने को उद्भासित करता है। आस्तिकवाद के शब्दों में इस दार्शनिक तथ्य को मायाशक्तिसम्पन्न सृष्टिकर्त्ता ईश्वर कहते हैं। यही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर या सगुण ब्रह्म है। संसार के समस्त विषय नष्ट होकर रूपान्तर में परिणत हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे अपने मूल-कारण—सत्ता—में विलीन हो सकते हैं। इस प्रकार ईश्वर को लयकर्त्ता या संहारकारी भी कह सकते हैं, क्योंकि उसमें सांसारिक विषयों के विशेष रूप लीन हो जाते हैं।

सगुण ब्रह्म

परन्तु और भी गंभीर विचार करने पर ज्ञात होता है कि सत् से असत् का सम्बन्ध सत्य नहीं हो सकता। अतः दृश्यमान जगत् के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध जताने के लिये जो विशेषण उसमें आरोपित किये जाते हैं वे वास्तविक नहीं माने जा सकते। इस तरह निर्गुण ब्रह्म की कल्पना की जाती है जो सभी विशेषणों से परे है। यह निर्विशेष, निराकार, नानात्व से परे ब्रह्म ही परब्रह्म है।

निर्गुण ब्रह्म

इस तरह सामान्य अनुभव के सूक्ष्म विश्लेषण से युक्ति के द्वारा सगुण और निर्गुण ब्रह्म की सत्ता का प्रतिपादन किया जा सकता है।

स्पिनोजा के Substance की तरह शंकर का ब्रह्म (निर्गुण या पर ब्रह्म) भी उपास्य ईश्वर से भिन्न है अर्थात् उस ईश्वर से भिन्न है जो उपासक से पृथक्, सर्वोच्च गुणों से विभूषित, माना जाता है। अतएव यह अचरज की बात नहीं कि शंकर पर भी, स्पिनोजा की तरह, बहुधा निरीश्वरवादी होने का दोष लगाया गया है। यदि 'ईश्वर' का संकुचित अर्थ लिया जाय तो यह दोषारोपण ठीक है। परन्तु यदि 'ईश्वर' का व्यापक अर्थ लिया जाय तो यह दोषारोपण उचित नहीं। यदि 'ईश्वर' से परा सत्ता का बोध किया जाय तो शंकर का मत निरीश्वरवाद नहीं, प्रत्युत आस्तिकता की चरम सीमा है। निरीश्वरवादी केवल जगत् को मानता है, ईश्वर को नहीं। ईश्वरवादी जगत् और ईश्वर दोनों को मानता है। शंकर केवल ईश्वर ही को मानते हैं। उनके मत में ईश्वर (ब्रह्म) ही एकमात्र सत्ता है। इसे ईश्वर का निषेध करना कैसे कहा जा सकता है? यह तो ईश्वर को पराकाष्ठा पर पहुँचाना हुआ। धार्मिकों के मन में ईश्वर के प्रति जो श्रद्धाभाव रहता है उसको यह मत पूर्णता पर पहुँचा देता है। क्योंकि यह उस अवस्था की ओर लक्ष्य करता है जहाँ अहंकार और जगत् की परिधि से ऊपर, केवल ब्रह्मकी उपासना ही सर्वोपरि है। यदि इस मत को

क्या यह मत निरीश्वरवाद है

साधारण ईश्वरवाद (जो ईश्वर को पुरुष-रूप में मानता है) से भिन्न नाम दिया जाय तो इसे 'निरीश्वरवाद' न कह कर 'सर्वेश्वरवाद' कहना अधिक संगत होगा।

सृष्टि-वर्णन के प्रसंग में हम देख चुके हैं कि अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म से माया-शक्ति के द्वारा जगत् का क्रमिक विकास होता है अर्थात् सूक्ष्म से स्थूल की परिणति का आभास होता है। इस विकास-क्रम में तीन अवस्थाएँ होती हैं (जिस तरह बीज से वृक्ष होने में)*—

ब्रह्म और माया से जगत् की उत्पत्ति

(१) बीजावस्था वा अव्यक्त कारणावस्था (२) अंकुरावस्था वा सूक्ष्म परिणामावस्था (३) वृक्षावस्था वा स्थूल परिणामावस्था। वस्तुतः अपरिणामी ब्रह्म में ये परिणाम या विकार नहीं हो सकते। ये सभी परिवर्तन या विकास माया ही के खेल हैं। यह माया या सृष्टि-शक्ति पहले अव्यक्त रहती है, तब सूक्ष्म विषयों में व्यक्त होती है, तत्पश्चात् स्थूल विषयों में। इस अव्यक्त माया का आश्रय होने के कारण ब्रह्म को सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ईश्वर का नाम दिया जाता है। यह ब्रह्म का वह रूप है जो वास्तविक सृष्टि से पहले अव्यक्त माया के साथ रहता है। जब माया सूक्ष्म रूप से व्यक्त होती है तब उसका आधार ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' (सूत्रात्मा अथवा प्राण) कहलाता है। इस रूप में ब्रह्म का अर्थ है सकल सूक्ष्म विषयों की समष्टि। जब माया स्थूल रूप में अर्थात् दृश्यमान विषयों में अभिव्यक्त होती है तब उसका आधार ब्रह्म 'वैश्वानर' (या विराट्) कहलाता है। इस रूप में ब्रह्म का अर्थ है सभी स्थूल विषयों की समष्टि, अर्थात् समस्त व्यक्त संसार (जिसमें सभी जीव भी सम्मिलित हैं)।

जगत् के इस क्रमिक विकास की उपमा मनुष्य की तीन अवस्थाओं से दी जाती है—(१) सुषुप्तावस्था (२) स्वप्नावस्था और (३) जाग्रत् अवस्था। सुषुप्तावस्था का ब्रह्म ईश्वर है। स्वप्नावस्था का ब्रह्म

* देखिये, सदानन्दकृत वेदान्तसार।

हिरण्यगर्भ है। जाग्रत् अवस्था का ब्रह्म वैश्वानर है। साधारणतः 'ईश्वर' शब्द का प्रयोग सगुण ब्रह्म अर्थात् माया की सभी अवस्थाओं से समन्वित ब्रह्म के अर्थ में किया जाता है। परन्तु यहाँ ईश्वर को एक विशिष्ट अर्थ में लिया गया है जो माया की केवल पहली ही अवस्था से सम्बन्ध रखता है।

उपर्युक्त सगुण ब्रह्म की तीन अवस्थाएँ तथा उनसे परे—निर्गुण ब्रह्म की अवस्था—इस तरह कुल चार अवस्थाएँ ब्रह्म की होती हैं—

चार अवस्थाएँ

(१) परब्रह्म (शुद्ध सत्-चित् स्वरूप) (२) ईश्वर (३) हिरण्यगर्भ और (४) वैश्वानर। यद्यपि सामान्यतः ये चारो अवस्थाएँ पूर्वापर क्रम में (एक के बाद दूसरी) जान पड़ती हैं तथापि 'ये एक ही साथ हैं' ऐसा भी माना जा सकता है। क्योंकि शुद्ध चैतन्य का कभी लोप नहीं होता। जब सूक्ष्म विषयों में वह आभासित होता है तब भी उसकी सत्ता बनी रहती है। और जब स्थूल विषयों की उत्पत्ति होती है तब भी सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ (बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियाँ) बनी रहती हैं।

सृष्टि का विकास किस क्रम से हुआ इसके सम्बन्ध में जो भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं उनको शंकर कुछ अधिक महत्त्व नहीं देते। हाँ, भिन्न-भिन्न श्रुतियों में जो सृष्टि-विषयक भिन्न-भिन्न वर्णन पाये जाते हैं उनकी व्याख्या भी शंकर करते हैं। किसी का खंडन-मंडन नहीं करते। जगत् के विषय में दो प्रश्न स्वभावतः मन में उठते हैं—

सृष्टि का तत्त्व

(१) इस जगत् का मूल आधार या तत्त्व क्या है जिसे माने विना जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती ?

(२) इस मूल तत्त्व से जगत् की क्यों और कैसे उत्पत्ति होती है ?

प्रथम समस्या का समाधान करना दर्शन का मुख्य कार्य है। शंकर, स्पिनोजा, ग्रीन, ब्रैडले आदि महान् दार्शनिक इसी प्रश्न को लेकर चलते हैं। वे प्रत्यक्ष विश्व-संसार से शुरू करते हैं, उसकी

गहरी समीक्षा करते हैं और उस मूल-तत्त्व को पकड़ने की चेष्टा करते हैं जिसे माने बिना प्रत्यक्ष अनुभवों की सिद्धि नहीं हो सकती। यहाँ मुख्यतः युक्ति या तर्क का सहारा लिया जाता है। हम देख चुके हैं, शंकर किस युक्ति से यह सिद्ध करते हैं कि शुद्ध सत्-चित् ही एकमात्र मूल तत्त्व है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर पुराणों में पाया जाता है जो नाना कल्पनाओं के सहारे यह बतलाने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर ने क्यों और कैसे सृष्टि की। यहाँ युक्ति के स्थान में कल्पना ही से काम लिया जाता है। उसे तर्क की कसौटी पर कसना भी उचित नहीं। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में सृष्टि की यह पहेली मानव-बुद्धि के कुतूहल की सामग्री रही है। संसार के समस्त धर्मग्रन्थ तथा दन्त-कथाएँ इस बात के प्रमाण हैं। कभी कभी दर्शन के साथ भी उनका सम्मिश्रण हो जाता है। पर बड़े बड़े दार्शनिक इन पौराणिक कल्पनाओं से दूर ही रहते हैं। ग्रीन और ब्रैडले ने तो साफ स्वीकार किया है कि सृष्टि का 'क्यों' और 'कैसे' दर्शन की परिधि के बाहर है। इसी तरह, शंकर सृष्टि या विकास-क्रम के पीछे उतना नहीं पड़ते, जितना मूल-तत्त्व ब्रह्म के प्रतिपादन या परिवर्त्तनशील विशेष-विषयों के खंडन में। उनके मत में सृष्टि-विकास की कथाएँ, केवल निम्न स्तर की दृष्टि से सत्य हैं।

(३) आत्म-विचार

हम पहले ही देख चुके हैं कि शंकर का मत विशुद्ध अद्वैतवाद है। उनके अनुसार एक विषय का दूसरे विषय से भेद, ज्ञाता-ज्ञेय का भेद, तथा जीव और ईश्वर का भेद, ये सब माया की सृष्टि हैं। उनका विचार है कि वस्तुतः एक ही तत्त्व है और अनेकत्व मिथ्या है। सर्वत्र उन्होंने इसी मत का प्रतिपादन किया है। अतएव उपनिषदों में जो बारंबार जीव और ब्रह्म की एकता बतलाई गई है उसका वे पूर्णतः समर्थन करते हैं।

आत्मा ब्रह्म से अभिन्न है

मनुष्य शरीर और आत्मा के संयोग से बना हुआ जान पड़ता है। परन्तु जिस शरीर को हम प्रत्यक्ष देखते हैं, वह अन्यान्य भौतिक विषयों की तरह माया की सृष्टि है। इस बात का ज्ञान हो जाने पर आत्मा और ब्रह्म में कुछ अन्तर नहीं। 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ है कि जीवात्मा ब्रह्म से अभिन्न है अर्थात् दोनों में यथार्थतः अभेद-सम्बन्ध है। यदि 'त्वम्' से शरीर की उपाधि से युक्त प्रत्यक्ष जीव-विशेष समझा जाय और 'तत्' से परोक्ष परम-तत्त्व या पर-ब्रह्म का बोध हो, तो 'तत्' और 'त्वम्' में अभेद-सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव 'त्वम्' से जीव का अधिष्ठान-रूप शुद्ध चैतन्य और 'तत्' से परोक्ष तत्त्व का अधिष्ठान शुद्ध चैतन्य समझना चाहिये। इन दोनों में पूर्ण अभेद है। यही वेदान्त की शिक्षा है।

'तत्त्वमसि' का अर्थ

इस बात को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। किसी तादात्म्य-सूचक वाक्य को लीजिये। जैसे, 'यही वह देवदत्त है।' इस वाक्य से सूचित होता है कि देवदत्त को हम पहले एक बार देख चुके हैं, अब दूसरी वार देख रहे हैं। अब प्रथम वार देखे हुए देवदत्त में जो जो औपाधिक गुण थे, ठीक वे ही सब द्वितीय वार देखे हुए देवदत्त में नहीं हैं। फिर भी हम कहते हैं 'यह वही देवदत्त है।' इसका अर्थ यह है कि तात्कालिक और एतत्कालिक इन दो विरुद्ध विशेषणों से रहित मनुष्य एक ही है। इसी तरह जीवात्मा और परमात्मा के विषय में भी समझना चाहिये। 'तत्' अर्थात् परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा ब्रह्म, और त्वम् अल्पज्ञत्व अपरोक्षत्व आदि उपाधियों से विशिष्ट चैतन्य अथवा जीव, इन दोनों के विरुद्ध अंश को त्याग करके उभयनिष्ठ शुद्ध चैतन्य का अभेद या ऐक्य है, यही *तत्त्वमसि* महावाक्य का तात्पर्य है। अतएव यह तत्त्वमसि-वाक्य पिष्ट-पेषण या निरर्थक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि यह बतलाता है कि जो आपाततः भिन्न

तत्त्वमसि-वाक्य का अभिप्राय

प्रतीत होते हैं वे यथार्थतः एक हैं। जीव और ब्रह्म आपाततः भिन्न प्रतीत होते हुए भी वस्तुतः अभिन्न हैं। इसी तादात्म्य का ज्ञान कराना तत्त्वमसि-वाक्य का तात्पर्य है।* आत्मा और परमात्मा वस्तुतः एक है। वह स्वतः-प्रकाश्य अनन्त चैतन्य-स्वरूप है। अनन्त आत्मा सीमित जीवात्मा की तरह भासित होता है, उसका कारण है शरीर के साथ सम्बन्ध जो अविद्या का कार्य है।

स्थूल और सूक्ष्म शरीर

इन्द्रियों के द्वारा जो स्थूल शरीर दिखलाई पड़ता है, उसके भीतर एक सूक्ष्म शरीर होता है जो अन्तःकरण, प्राण और इन्द्रियों का समूह है। मृत्यु से स्थूल शरीर का नाश होता है, सूक्ष्म शरीर का नहीं। सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ दूसरे स्थूल शरीर में चला जाता है। ये दोनों शरीर—स्थूल और सूक्ष्म—माया के कार्य हैं।

बन्धन

अविद्या के कारण (जिसके आदि का निश्चय नहीं किया जा सकता) आत्मा भ्रमवश अपने को स्थूल या सूक्ष्म शरीर समझ लेता है। यही बन्धन है। इस स्थिति में आत्मा अपना यथार्थ स्वरूप (ब्रह्मत्व) भूल जाता है। वह स्वल्प, क्षुद्र, दुःखी जीव की नाई संसार के क्षणभंगुर विषयों के पीछे दौड़ने लगता है, उनके पाने पर सुखी होता और नहीं पाने पर दुःखी होता है। वह अपने को शरीर या अन्तःकरण समझ कर सोचता है—'मैं मोटा हूँ,' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुःखी हूँ।' इस तरह आत्मा में 'अहंकार' ('मैं हूँ') भाव की उत्पत्ति होती है। यह 'अहम' (मैं) अपने को शेष संसार से पृथक् समझता है। अतएव इस 'अहम' को शुद्ध आत्मा नहीं समझ कर उसका एक अविद्याकृत बन्धन मात्र समझना चाहिये।

आत्मा का ज्ञान भी शारीरिक उपाधियों के कारण सीमित या

---

* वेदान्तसार और वेदान्त-परिभाषा में इस महावाक्य पर और प्रकार की व्याख्याएँ भी देखिये।

परिच्छिन्न हो जाता है। अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों का सीमित ज्ञान छन कर आता है। ऐसा परिच्छिन्न विषय-ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। वाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान तब उत्पन्न होता है, जब किसी इन्द्रिय के द्वारा अन्तःकरण उस विषय तक पहुँच कर तद्विषयाकार हो जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त, वेदान्ती पाँच प्रकार के परोक्ष ज्ञान भी मानते हैं—अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अद्वैतवादियों का इस विषय में भाट्ट मीमांसकों के साथ मतैक्य है *। उनका प्रमाण-विषयक सिद्धान्त पहले ही वर्णित हो चुका है, अतएव यहाँ दुहराना अनावश्यक होगा †।

प्रज्ञान

जब मनुष्य जाग्रत् अवस्था में रहता है तब वह शरीर और इन्द्रियों को ही अपना असली रूप समझता है। निद्रित होने पर, स्वप्नावस्था में भी, उसे स्मृति-संस्कार-जन्य विषय-ज्ञान रहता है अतएव अहंकार बना रहता है। सुषुप्तावस्था में उसे किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता। विषयों के अभाव में उसका ज्ञातृत्व भाव भी लुप्त हो जाता है। ज्ञाता और ज्ञेय का भेद ही मिट जाता है। उसे यह भी भान नहीं रहता कि वह शरीर की परिधि में सीमित है। तथापि इस अवस्था में भी चैतन्य का नाश नहीं होता। नहीं तो जागने पर यह कैसे अनुभव होता कि 'मैं खूब सोया' 'अच्छी नींद आई' 'कोई स्वप्न नहीं देखा'। यदि उस अवस्था में हम पूर्णतः अचेतन रहते तो फिर इन बातों की याद कैसे आती ?

जाग्रत्, स्वप्न, और सुषुप्त अवस्थाएँ

सुषुप्तावस्था के अनुभव से हमें आत्मा की उस अवस्था की झलक मिल जाती है जिसमें उसका शरीर से तादात्म्य-भाव दूर हो जाता

* इस विषय का विशेष विवरण श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त के Six Ways of Knowing में देखिये।

† अद्वैतियों का कहना है—व्यवहारे भाट्टनयः।

है। आत्मा अपने प्रकृत रूप में स्वल्प दुःखी प्राणी नहीं होता। उसमें अहंभाव ('मैं हूँ') नहीं होता, जिसके कारण जीव अपने को 'मैं मान कर 'तुम' या 'उस' से पृथक् समझने लगता है। विषयों के पीछे दौड़ने से जो दुःख उत्पन्न होते हैं उन सब से यह मुक्त रहता है। यथार्थ में आत्मा शुद्ध चैतन्य और आनन्द स्वरूप है।

शंकर के आत्मविचार की समर्थक युक्तियाँ

आत्मा का उपर्युक्त विचार मुख्यतः श्रुतियों के आधार पर किया गया है। परन्तु अद्वैतवादी इसे सामान्य अनुभव के आधार पर स्वतंत्र युक्तियों द्वारा भी प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं। यहाँ मुख्य युक्तियों का संक्षेपतः दिग्दर्शन कराया जाता है। इस प्रसंग में पहले एक बात कह देना आवश्यक है। वह यह कि शंकर आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये युक्ति देने की आवश्यकता नहीं समझते। आत्मा प्रत्येक जीव में स्वतः प्रकाश्य है। प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि 'मैं हूँ'। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कोई नहीं अनुभव करता।* परन्तु इस 'मैं' के साथ इतने प्रकार के अर्थ जुड़े हुए हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप निश्चय करने के लिये काफी विश्लेषण और तर्क की जरूरत है।

आत्मा का अर्थ

इस विषय की विवेचना के लिये एक प्रणाली है शब्दार्थ का विश्लेषण। 'मैं' कभी-कभी शरीर के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे, 'मैं मोटा हूँ।' कभी-कभी 'मैं' का व्यवहार ज्ञानेन्द्रिय के अर्थ में किया जाता है, जैसे, 'मैं काना हूँ।' कभी-कभी 'मैं' से कर्मेन्द्रिय का बोध होता है, जैसे, 'मैं लँगड़ा हूँ'। कभी कभी 'मैं' अन्तःकरण के अर्थ में आता है, जैसे, "मैं सोचता हूँ"। कभी कभी 'मैं' ज्ञाता के अर्थ में व्यवहृत होता है, जैसे, "मैं जानता हूँ"।

मैं और मेरा का अर्थ

---

* देखिये ब्रह्मसूत्र १।१।१

इनमें किसको आत्मा का असली तत्त्व समझा जाय? इसका निरूपण करने के लिये हमें सत्ता के वास्तविक लक्षणपर ध्यान देना चाहिये। जो किसी वस्तु की सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहे वही उसका यथार्थ तत्त्व या असली सत्ता है†। इस प्रकार विषय-संसार की तह में जो यथार्थ तत्त्व है वह विशुद्ध सत्ता है क्योंकि जहाँ संसार की और सभी वस्तुएँ बदलती और नष्ट होती हैं वहाँ सत्ता प्रत्येक अवस्था में विद्यमान रहती है। इसी तरह, यह देखने में आता है कि शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि में जिस समान तत्त्व के कारण आत्मा उससे अपना अभेद-सम्बन्ध मानता है, वह है ज्ञान। इनमें किसी के साथ आत्मा के तादात्म्य-भाव का अर्थ है किसी प्रकार का आत्म-ज्ञान, जैसे, 'मैं मोटा हूँ' (आत्मा का शरीर-रूप में ज्ञान) 'मैं देख रहा हूँ' (आत्मा का इन्द्रिय-रूप में ज्ञान) इत्यादि। अतः आत्मा चाहे जिस रूप में प्रकट हो, ज्ञान उसका असली धर्म है। यह कोई विशेष-विषयक ज्ञान नहीं, बल्कि शुद्ध सामान्य चैतन्य है। इस चैतन्य को शुद्ध सत्ता-स्वरूप समझना चाहिये क्योंकि यह सभी प्रकार के ज्ञानों में विद्यमान रहता है। घटज्ञान, पटज्ञान आदि विशेष प्रकार के भिन्न-भिन्न-विषयक ज्ञान परस्पर-बाधित होने के कारण आभासमात्र हैं, जैसे घट, पट आदि विशेष-विषयक सत्ताएँ परस्पर बाधित होने के कारण आभासमात्र हैं। 'मेरा शरीर' 'मेरी इन्द्रिय' 'मेरा अन्तःकरण'—आदि शब्दों के व्यवहार से भी उपर्युक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है। इन शब्दों से सूचित होता है कि आत्मा अपने को इनसे (शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण आदि से) पृथक् कर इन्हें अपने से भिन्न बाह्य पदार्थ समझ सकता है। अतएव ये आत्मा के यथार्थ स्वरूप नहीं कहे जा सकते।

आत्मा का धर्म

---

† देखिये, ब्रह्मसूत्र २।१।११ पर शंकर भाष्य। एक रूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः। गीता २।१६ पर शांकर भाष्य—यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति तत् सत्, यद्विषया व्यभिचरति तदसत्।

यहाँ कोई यह शंका कर सकता है कि 'मेरा चैतन्य' ऐसा भी तो प्रयोग किया जाता है। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यहाँ षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध नहीं, किन्तु ऐक्य सूचित करती है, जैसे, काशी की नगरी। ऐसे प्रयोग को औपचारिक (आलंकारिक) समझना चाहिये। 'मेरा चैतन्य' इस प्रयोग को शाब्दिक अर्थ में नहीं लिया जा सकता। क्योंकि यदि आत्मा अपने को चैतन्य से पृथक् समझने की चेष्टा करे तो वह भी एक विशिष्ट प्रकार का चैतन्य ही होगा। इस तरह चैतन्य आत्मा से अविच्छेद्य एवं अभिन्न है। इस प्रकार 'मैं' और 'मेरा' की सूक्ष्म विवेचना करने पर शुद्ध चैतन्य ही आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्धारित होता है।

चैतन्य का स्वरूप

हम अपने दैनिक जीवन की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं की तुलना करने से भी उपर्युक्त सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं। आत्मा का सारभूत चैतन्य इन तीनों में अवश्य ही वर्त्तमान रहता है, अन्यथा आत्मा का अस्तित्व इन तीनों अवस्थाओं में कैसे रह सकता? अब, इन सभी अवस्थाओं में हम कौन सा समान तत्त्व पाते हैं? प्रथम अवस्था में वाह्य विषयों का ज्ञान रहता है। द्वितीय अवस्था में केवल आभ्यन्तरिक विषयों का स्वप्न-रूप में ज्ञान होता है। तृतीय अवस्था में किसी विषय का ज्ञान नहीं रहता। परन्तु तथापि चैतन्य का लोप नहीं होता। क्योंकि वैसी हालत में सुषुप्ति से जागने पर उस सुषुप्तावस्था के आनन्द (अर्थात मैं खूब आराम से सोया) ऐसी स्मृति नहीं होती। इस तरह जो तत्त्व स्थायी है वह है चैतन्य। हाँ, वह किसी खास विषय का ज्ञान नहीं। इस प्रकार देखने में आता है कि आत्मा का यथार्थ स्वरूप निर्विषयक ज्ञान या शुद्ध चैतन्य है। इस प्रसंग में दो बातें और विचारणीय हैं। एक तो यह कि आत्मा का स्वरूप—चैतन्य—विषयों पर निर्भर नहीं। अतएव यह समझना उचित नहीं कि ज्ञाता का किसी माध्यम के द्वारा विषय के साथ सम्पर्क होने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान नित्य नहीं है, उसकी

उत्पत्ति होती है, इस साधारण मत को हमें बदलना पड़ेगा। यदि आत्मा स्वतः-स्थित और स्वतः-प्रकाश्य चैतन्य है और प्रत्येक विषय भी (जैसा हम देख चुके हैं) स्वतः-प्रकाश्य सत् चित् का एक विशेष रूप मात्र है, तो किसी विद्यमान विषय की अनुपलब्धि का एक ही कारण समझ में आ सकता है—कोई आवरण जो उस विषय के रूप को आच्छादित करता है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियादि के द्वारा आत्मा का विषय के साथ जो सम्पर्क होता है, वह इसी आवरण या बाधा को हटाने के लिये आवश्यक होता है, जैसे आवृत दीप को देखने के लिये उसका ढकना दूर कर दिया जाता है।

दूसरी बात यह कि आत्मा अपने स्वाभाविक रूप में—सभी विषयों से निर्लिप्त जैसे सुषुप्तावस्था में—आनन्दमय होता है।

शुद्ध चैतन्य आनन्द स्वरूप है

शुद्ध चैतन्य आनन्द-स्वरूप है। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में भी यह आनन्द कुछ न कुछ अंश में विद्यमान रहता है, यद्यपि उसका रूप विकृत हो जाता है। जाग्रत् और स्वप्नावस्था के क्षणिक आनन्द उसी सत चित् आनन्द के अंश हैं। मनुष्य को धन स्त्री आदि प्राप्त होने पर आनन्द होता है, क्योंकि वह उनको अपने में *आत्मसात्* करता है अर्थात् उन्हें *अपना लेता* है। इस प्रकार हर एक आनन्द का मूल स्रोत आत्मा ही है। विषयानन्द क्षुद्र और क्षणिक होता है क्योंकि आत्मा क्षुद्र और क्षणिक विषयों में अपने को सीमित करने से संकुचित हो जाता है। जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरूप (निर्विशेष शुद्ध चैतन्य जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है) का ज्ञान हो जाता है तब उसे किसी विषय की आकांक्षा नहीं रहती और वह केवल आनन्द-रूप हो जाता है।

उपर्युक्त युक्तियों से सिद्ध होता है कि उपाधि-रहित शुद्ध सत्ता

ब्रह्म ही जीव और जगत् का आधार है

जीव और जगत् दोनों में समान है। चैतन्य दोनों में विद्यमान रहता है, जीव में व्यक्त रूप से और बाह्य जगत् में अव्यक्त रूप से। अतएव जीव

जगत् दोनों का तत्व एक ही है

और जगत् दोनों का तत्त्व एक ही है। यदि जगत् और जीव का एक सामान्य आधार नहीं होता, तो जीव को जगत् का ज्ञान संभव नहीं होता। और बाह्य विषयों के साथ उसका तादात्म्य-ज्ञान तो और भी असंभव होता। दूसरे शब्दों में, अनन्त सत् चित् या ब्रह्म ही एकमात्र मूल तत्त्व है जिससे जीव और जगत् दोनों ही बनते हैं। ब्रह्म आनन्द-स्वरूप भी है, क्योंकि सुषुप्तावस्था में आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप—निर्विषयक शुद्ध चैतन्य—प्रकट होता है वह आनन्द रूप भी है। आत्मा का जीव-विशेष के रूप में अहंभाव ('मैं' का भाव) अविद्या के कारण होता है जिससे वह कभी अपने को शरीर, कभी इन्द्रिय और कभी और कुछ समझ लेता है।

सर्वव्यापी निराकार चैतन्य (जो आत्मा का वास्तविक रूप है) विशेष आकार कैसे धारण कर लेता है, यह वही समस्या है जो एक दूसरे रूप में हमारे सामने आ चुकी है अर्थात् शुद्ध सत्ता विशेष विषयों का आकार कैसे धारण कर लेती है? कोई भी परिवर्त्तनशील सविशेष विषय वास्तविक नहीं माना जा सकता। अतएव एक दुरूह समस्या सामने आ जाती है—अर्थात् प्रत्यक्षतः सत् और विचार करने पर असत्। इस गूढ़ पहेली को हल करने के लिये प्रत्यक्ष अनुभव और युक्ति में विरोध मिटाने के लिये बुद्धि को एक रहस्यमय अनिर्वचनीय शक्ति का आश्रय लेना पड़ता है जिसके द्वारा अनन्त आत्मा अपने को प्रकटतः जीवों में सीमित करता है। इस तरह अद्वैतवादी आभासमान स्वल्पत्व और अनेकत्व की व्याख्या करने के लिये माया का सहारा लेते हैं। इस माया की कल्पना समष्टि-रूप में भी की जा सकती है और व्यष्टि-रूप में भी। अर्थात् शुद्ध अनन्त सत् चित् आनन्द ब्रह्म सर्वशक्तिमती माया के प्रभाव से अपने को उपाधियुक्त कर नाना जीव-विषयों से युक्त जगत् के रूप में अपने को प्रकट करते हैं। यह सामूहिक माया की कल्पना है। अथवा हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रत्येक जीव अविद्या

माया और अविद्या

से ग्रस्त होने के कारण एक ब्रह्म के स्थान में नाना विषय और जीव देखता है। यह व्यक्तिगत माया या अविद्या की कल्पना है। बात एक ही है, दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं— सामूहिक और वैयक्तिक। जब इस प्रकार का विभेद किया जाता है तब मुख्यत: पहले अर्थ में *'माया'* और दूसरे अर्थ में *'अविद्या'* शब्द का व्यवहार किया जाता है।

आलंकारिक भाषा में यों कहा जा सकता है कि अनन्त चैतन्य का अविद्या के दर्पण पर जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही जीव है। जिस तरह एक ही चन्द्रमा के नाना प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न जलाशयों पर पड़ते हैं, और जल की स्वच्छता या मलिनता के अनुरूप प्रतिबिम्ब भी स्वच्छ या मलिन होता है, जल की स्थिरता या चंचलता के अनुसार प्रतिबिम्ब भी स्थिर या चंचल होता है, उसी तरह अविद्या के स्वरूप के अनुसार अनन्त के प्रतिबिम्ब स्वरूप जीव भी भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के होते हैं।

प्रतिबिम्बवाद

हम पहले देख चुके हैं कि स्थूल और सूक्ष्म शरीर दोनों ही अविद्या के कार्य हैं और अन्तःकरण सूक्ष्म शरीर का एक अंग है। इस तरह अन्तःकरण निर्मल या मलिन, क्षुब्ध या शान्त हो सकता है। इन्हीं विभेदों को लेकर जीवगत अविद्याएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रतिबिम्ब की उपमा से यह बात समझ में आ जाती है कि एक ही ब्रह्म कैसे भिन्न-भिन्न जीवों में प्रतिभासित होता है और फिर भी एक ही रहता है। केवल भिन्न-भिन्न अविद्याओं के फलस्वरूप भिन्न भिन्न अन्तःकरणों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है। इससे यह भी संकेत मिलता है कि अन्तःकरण जितना ही अधिक निर्मल बनाया जायगा उतना ही अधिक स्पष्ट रूप से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब उसमें उतरेगा। अन्तःकरण अधिक शान्त बनाया जा सकता है इसकी संभावना दैनिक जीवन की सुषुप्तावस्था के अनुभव से भी होती है, जिसमें सभी विषयों से विरत हो जाने के कारण आत्मा को कुछ काल के लिये शान्ति मिल जाती है।

उपर्युक्त मत को प्रतिबिम्बवाद कहते हैं। परन्तु उसमें एक दोष यह है कि जीवों को प्रतिबिम्बवत् मानने से मुक्ति का अर्थ हो जायगा जीवों का नाश, क्योंकि अविद्यारूपी दर्पण नष्ट हो जाने पर उसके प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जायँगे।

अवच्छेदकवाद

इस दोष का परिहार करने के लिये अर्थात् जीव की सत्ता को बचाने के लिये कुछ अद्वैतवादी एक दूसरी उपमा का सहारा लेते हैं। वह है घटाकाश (घड़े के बीच का आकाश) की। जैसे आकाश वस्तुतः सर्वव्यापी और एक ही है, फिर भी उपाधि-भेद से वह घटाकाश मठाकाश आदि नाना रूपों में आभासित होता है और व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम उसका काल्पनिक विभाग करते हैं, उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी और एक ही है तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि-भेद से नाना जीवों और विषयों के रूप में प्रतीत होता है। वस्तुतः विषय-विषय में, जीव-जीव में, कोई भेद नहीं, क्योंकि मूलतः वे एक ही शुद्ध सत्ता मात्र हैं। यहाँ भ्रम है केवल उपाधि अर्थात् माया के कारण अनन्त का सान्त रूप में आभासित होना। प्रत्येक जीव, सान्त रूप में दृष्टिगोचर होते हुए भी वस्तुतः ब्रह्म से अभिन्न है। मुक्ति का अर्थ है अविद्यामूलक बेड़ियों को तोड़ कर सान्त से अनन्त पर पहुँच जाना। इस मत को 'अवच्छेदकवाद' कहते हैं।

(४) मोक्ष-विचार

शंकर और उनके अनुयायी यह बतलाने की चेष्टा करते हैं कि आत्मा का शुद्ध स्वरूपावस्थान कैसे संभव है। सुषुप्तावस्था का आनन्द शाश्वत नहीं है; कुछ ही काल के अनन्तर मनुष्य फिर अपने जाग्रत् चैतन्य की क्षुद्र परिधि में सीमित हो जाता है।

वेदान्त का उद्देश्य

इससे सूचित होता है कि सुषुप्तावस्था में भी कर्म या अविद्या की शक्ति बीजावस्था में रहती है जो मनुष्य को फिर संसार में खींच लाती है। जब तक इन पूर्व-संचित शक्तियों का पूर्णतः क्षय नहीं होता तबतक जीव को इस दुःखमय संसार से मोक्ष पाने की आशा नहीं।

वेदान्त का अध्ययन मनुष्य को चिर-कालीन अविद्या के बद्धमूल संस्कारों पर विजय प्राप्त करने में सहायता पहुँचाता है। परन्तु यदि पहले चित्त का साधन नहीं किया जाय तो केवल वेदान्तोक्त सत्यों का अध्ययन करना निष्फल है। प्रारंभिक साधना मीमांसा-सूत्र का अध्ययन नहीं है, जैसा रामानुज मानते हैं। मीमांसा जो देवताओं के निमित्त यज्ञों का विधान करती है, वह उपासक और उपास्य के मिथ्या भेद पर अवलम्बित है। अतः उसकी विचार-धारा वेदान्त के अद्वैतवाद के प्रतिकूल पड़ती है। वह अद्वैत सत्य को ग्रहण करने के लिये चित्त को तैयार क्या करेगी, उलटे अनेकत्व और विभेद के मिथ्या भ्रम को और भी सुपुष्ट करती है।

साधन-चतुष्टय

शंकर के मतानुसार वेदान्त की शिक्षा के लिये चार साधन आवश्यक हैं—(१) नित्यानित्य-वस्तु-विवेक (साधक को पहले नित्य और अनित्य पदार्थों की विवेचना करनी चाहिये), (२) इहामुत्रार्थ भोग-विराग (उसे लौकिक और पारलौकिक सकल भोगों की कामना का परित्याग कर देना चाहिये), (३) शमदमादि साधन-सम्पत् (शम, दम, श्रद्धा, समाधान, उपरति और तितिक्षा इन छः साधनों से युक्त होना चाहिये। शम का अर्थ है मन का संयम। दम का अर्थ है इन्द्रियों पर नियन्त्रण। शास्त्र में निष्ठा रखना श्रद्धा है। चित्त को ज्ञान के साधन में लगाना समाधान है।* विक्षेपकारी कार्यों से विरत होने को उपरति कहते हैं। सर्दी-गर्मी आदि सहन करने के अभ्यास को तितिक्षा कहते हैं।) (४) मुमुक्षत्व (साधक को मोक्ष-प्राप्ति के लिये दृढ़-संकल्प होना चाहिये।) उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होने पर ही कोई वेदान्त का अधिकारी हो सकता है।

इस प्रकार अपने अन्तःकरण, मनोवेग तथा इच्छा पर विजय प्राप्त कर लेने पर ऐसे गुरु से वेदान्त की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये

* देखिये शांकर भाष्य १।१।१

जो स्वयं ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर चुका हो। वेदान्त के अध्ययन के लिये ये तीन बातें आवश्यक हैं—(१) श्रवण (अर्थात् गुरु के उपदेश सुनना (२) मनन (अर्थात् उन उपदेशों पर विचार करना और (३) निदिध्यासन (अर्थात् उन सत्यों का बारंबार अनुशीलन करना)।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन

पूर्व के संचित संस्कार इतने प्रबल होते हैं कि एक बार वेदान्त के अध्ययन मात्र से ही वे नष्ट नहीं हो जाते। बारंबार ब्रह्म-विद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण के अभ्यास से ही क्रमशः उन संस्कारों का क्षय हो सकता है। जब सभी मिथ्या संस्कार दूर हो जाते हैं और ब्रह्म की सत्यता में अचल निष्ठा हो जाती है तब मुमुक्षु को गुरु *तत्त्वमसि* (तू ब्रह्म है) वाक्य की दीक्षा देते हैं। तदनन्तर वह एकाग्र चित्त से इस सत्य की अनुभूति करने लगता है और अन्त में आत्म-साक्षात्कार पा जाता है '*अहं ब्रह्मास्मि*' (अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ)। इस प्रकार जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद हट जाता है और उसीके साथ बन्धन कट कर मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

मोक्ष की प्राप्ति

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर भी शरीर जारी रह सकता है क्योंकि वह प्रारब्ध कर्मों का फल है। परन्तु मुक्तात्मा पुनः कभी अपने को वह शरीर नहीं समझता। संसार का मिथ्या प्रपंच उसके सामने रहता है। परन्तु वह फिर ठगा नहीं जाता। सांसारिक विषयों के हेतु उसे तृष्णा नहीं होती। अतएव उसे कोई दुःख व्याप्त नहीं होता। वह संसार में रहते हुए भी उससे बाहर है। शंकर का यह विचार परवर्त्ती वेदान्त-साहित्य में 'जीवन्मुक्ति' के नाम से विख्यात है। ❀ इसका अर्थ है जीवितावस्था में ही मुक्ति पा जाना। बौद्ध, सांख्य, जैन और कुछ अन्यान्य दर्शन भी इसी

जीवन्मुक्ति

❀ देखिये, शांकर भाष्य, १।१।४ "सिद्धं जीवतोऽपि विदुषः अशरीरत्वम् ; कठ ६।१४— अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।"

प्रकार की मुक्ति को संभव मानते हैं। मुक्ति स्वर्ग की तरह, अज्ञात भविष्य की अलौकिक सिद्धि नहीं। यह सत्य है कि साधक को पहले शास्त्रों में निष्ठा रखकर आगे बढ़ना पड़ता है, परन्तु उसके विश्वास का फल इसी जीवन में मिल जाता है।

विदेह-मुक्ति

कर्म तीन प्रकार के होते हैं—(१) संचित (पूर्वकाल के वे कर्म जो जमा हैं), (२) प्रारब्ध (पूर्वकाल के वे कर्म जिनका फल-भोग हो रहा है), और (३) क्रियमाण या संचीयमान (वे नये कर्म जो इस जीवन में जमा हो रहे हैं)। तत्त्वज्ञान से संचित कर्म का क्षय तथा क्रियमाण कर्म का निवारण होता है और इस तरह पुनर्जन्म के बन्धन से छुटकारा मिल जाता है। परन्तु प्रारब्ध कर्म का निवारण नहीं किया जा सकता। उसका फल भोग करने के लिये यह शरीर (जो प्रारब्ध का फल है) जारी रहता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है तब उसका भी अन्त हो जाता है। जिस तरह कुम्हार का चाक दण्ड उठा लेने पर भी कुछ देर तक घूमता रहता है और फिर घूमते-घूमते, वेग शान्त होने पर, आप से आप रुक जाता है। जब स्थूल और सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है, तब जीवन्मुक्त की उस अवस्था को *'विदेह-मुक्ति'* कहते हैं।

मुक्ति का स्वरूप

पारमार्थिक दृष्टि से मुक्ति न तो उत्पन्न होती है, न पहले से अप्राप्त है। यह प्राप्ति ही की प्राप्ति है। यह शाश्वत सत्य का अनुभव है। जो सत्य सर्वदा से है, (बन्धन की अवस्था में भी जो सत्य अज्ञात रूप से विद्यमान रहता है) उसका साक्षात् अनुभव ही मुक्ति है। मोक्ष-प्राप्ति की उपमा वेदान्ती यों देते हैं कि जैसे किसी के गले में पहले ही से हार है, परन्तु वह इस बात को भूल कर इधर-उधर ढूँढता फिरता है; अन्त में जब अपनी ओर देखता है तो हार मिल जाता है। इसी तरह मुमुक्षु को मोक्ष-प्राप्ति के लिये कहीं इधर-उधर भटकने की आवश्यकता नहीं, सिर्फ अपने को

समझने की जरुरत है। बन्धन अज्ञानकृत होता है, अतः इस अज्ञान का आवरण दूर कर देना ही मुक्ति है।

जीव और ब्रह्म की भेद-बुद्धि से उत्पन्न हुए समस्त क्लेशों की निवृत्ति मात्र ही मुक्ति नहीं है। अद्वैतवादी उपनिषदों के अनुसार मोक्षावस्था को आनन्द मानते हैं। मोक्ष का अर्थ है ब्रह्मानुभूति।

यद्यपि मुक्त आत्मा को किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती तथापि वह इस तरह कर्म कर सकता है, जिससे पुनः बन्धन में नहीं फँसे। शंकराचार्य गीता के इस सिद्धान्त को मानते हैं कि आसक्तिपूर्वक किया हुआ कर्म ही बन्धन का हेतु होता है। परन्तु पूर्णज्ञान और पूर्णानन्द प्राप्त कर लेने पर मनुष्य आसक्ति से मुक्त हो जाता है। उसे किसी वस्तु की चाह नहीं रहती। अतएव लाभ-हानि और हर्ष-विषाद से वह प्रभावित नहीं होता। वह अनासक्त होकर कर्म कर सकता है। शंकराचार्य इस निष्काम कर्म को बहुत अधिक महत्त्व देते हैं। जिसे पूर्णज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे आत्मशुद्धि के लिये ऐसा कर्म करना आवश्यक है। अहंकार और स्वार्थ के बन्धन से क्रमशः मुक्त होने के लिये निष्काम कर्म आवश्यक है न कि निष्क्रियता। जो तत्त्वज्ञान या मुक्ति पा चुका है, उसे भी अन्यान्य बन्धन-ग्रस्त जीवों के उपकारार्थ निःस्वार्थ कर्म करना चाहिये। ❀

अनासक्त कर्म

मुक्तात्मा पुरुष का आचरण समाज के लिये आदर्श होना चाहिये जिसका और लोग भी अनुसरण कर सकें। उसे निष्क्रियता या कुक्रिया का अवलम्बन नहीं करना चाहिये। शंकराचार्य लोक-सेवा को मुक्ति के पथ में बाधक नहीं, प्रत्युत साधक समझते हैं। उन्होंने स्वयं अपने जीवन में इस आदर्श का पालन कर दिखाया है। स्वामी विवेकानन्द और लोकमान्य तिलक प्रभृति † नवीन वेदान्ती भी इसी आदर्श का अनुमोदन करते हैं।

❀ देखिये, भगवद्गीता ४।१४, ३।२०-२६ पर शांकर भाष्य

† देखिये, लोकमान्य तिलक का गीता-रहस्य।

अद्वैत वेदान्त के आलोचक बहुधा यह कहते हैं कि यदि एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है और सब विभेद मिथ्या हैं, तो पाप और पुण्य का विभेद भी मिथ्या होगा, अतएव ऐसे दर्शन का परिणाम समाज के लिये भयंकर हो सकता है।

क्या वेदान्त पाप-पुण्य नहीं मानता?

परन्तु इस प्रकार की आपत्ति करने वाले व्यावहारिक और पारमार्थिक दृष्टिकोण के अन्तर को भूल जाते हैं। व्यावहारिक दृष्टिकोण से, पाप-पुण्य का भेद अन्यान्य भेदों की तरह यथार्थ है। जिसने अभी मुक्ति नहीं पाई है, उसके लिये जो कर्म मुख्य या गौण रूप से ब्रह्म-साक्षात्कार के साधक हैं वे पुण्यकर्म और जो बाधक हैं वे पापकर्म हैं। सत्य, अहिंसा, दया, उपकार आदि पुण्य-कोटि में आते हैं और असत्य, हिंसा, स्वार्थ अपकार आदि पाप-कोटि में। जो पूर्णप्रज्ञ और मुक्त हो चुका है वह पाप-पुण्य के धरातल से ऊपर उठ चुका है। उसके लिये ये निम्नस्तर की वस्तुएँ हैं, जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हैं, पारमार्थिक दृष्टि से असत्य। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मुक्त पुरुष पापाचरण करेगा। क्योंकि पापकर्म वही जीव करता है जो शरीर या इन्द्रिय आदि को भ्रमवश अपना रूप समझ कर उसकी तुष्टि के लिये यत्न करता है। परन्तु जिस आत्मा को ब्रह्मानुभूति हो गई उसे पापकर्म के लिये प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। ❀

व्यवहारवादी समालोचक जो व्यावहारिक उपयोगिता को सर्वोच्च मानदंड समझते हैं शंकर पर यह आक्षेप करते हैं कि उनका मायावाद केवल कवि-कल्पना मात्र है जो वास्तविक जगत् को स्वप्नवत् मानकर जीवन की वास्तविकताओं से हमें दूर हटा देता है और इस तरह संघर्ष में हमें सफल नहीं होने देता। इस

क्या वेदान्त निष्क्रियता की ओर ले जाता है

❀ देखिये, सर्वपल्ली राधाकृष्णन का Indian Philosophy Vol II (पृ० ६१२-३४) और स्वामी विवेकानन्द के भाषण।

आक्षेप का यह उत्तर है कि यदि पशु के स्तर पर विचार-रहित जीवन बिताया जाय तब तो विषय-संसार से बाहर जाने की जरूरत नहीं। परन्तु यदि हम अपनी बुद्धि की सहायता से इस जगत् के स्वरूप और अर्थ पर विचार करते हैं तो यह मानना ही पड़ता है कि सांसारिक विषय परस्पर-विरोधी होने के कारण असत्य हैं और उनका वास्तविक तत्त्व कुछ दूसरा ही है जिसका हमें अन्वेषण करना चाहिये। बुद्धि ही यह चाहती है कि हम अपने जीवन को युक्ति के आधार पर उच्चतम सत्ता के अनुरूप बनावें। जैसे बच्चा सयाना होता है तो अपने बदले हुए दृष्टिकोण के अनुसार अपना जीवन बदल लेता है। जो खिलौने उसकी दृष्टि में सबसे अधिक मूल्यवान् प्रतीत होते थे वे ही अब अन्य मूल्यवान् पदार्थों के सामने तुच्छ मालूम होते हैं। अतएव जीवन का उच्चतर आदर्श के अनुरूप पुनः संगठन करना व्यावहारिक जीवन को क्षति नहीं पहुँचाता वरन जीवन को और अधिक उच्च और पूर्ण बनाता है। पशु, बच्चे और असभ्य मनुष्य जिन वासनाओं से आन्दोलित होते हैं, उन्हें ही यदि जीवन का वास्तविक आनन्द मान लिया जाय तब तो ठीक ही वेदान्त वह आनन्द छीन लेता है क्योंकि यह वासना के ऊपर संयम करने को कहता है। किन्तु अन्धी वासनाओं के स्थान में यह प्रकाशयुक्त आदर्शों को स्थापित करता है जो जीवन में अधिक पवित्र और स्थायी आनन्द दे सकते हैं।

रही जीवन संघर्ष में सफलता की बात। सो वनस्पति-जीवन, पशु-जीवन, और मनुष्य-जीवन के क्षेत्रों में योग्यता के भिन्न-भिन्न मानदंड हैं। मानव जीवन में प्रेम, एकता, त्याग और युक्तिसंगत व्यवहार का स्वार्थ, द्वेष, अहंकार और विषयान्धता की अपेक्षा अधिक मूल्य है। और इन सद्गुणों को वेदान्त के इस सिद्धान्त से कि 'सभी जीव एक हैं, 'सारी सृष्टि एक है, 'सब एक ही सत्ता है, जितनी प्रेरणा मिल सकती है उतनी और किसी सिद्धान्त से नहीं। अतएव यह कहना कि व्यावहारिक जीवन पर वेदान्त का बुरा असर

पड़ता है सरासर भूल है। वेदान्त जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधना पर जोर देता है उसका लक्षण है आत्मदर्शन या ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् सब विषयों में ब्रह्म की सत्ता देखना। नाना भिन्न-विषयक अनुभव हमें इस ज्ञान से दूर ले जाते हैं, परन्तु तर्क या युक्ति के द्वारा यह ज्ञान प्रतिष्ठित होता है।

शंकराचार्य का वेदान्त उपनिषदों के एकत्ववाद का युक्तिसिद्ध परिणाम है। अपने सभी गुण-दोषों के साथ, यह मानव-चिन्तन के इतिहास में सबसे अधिक संगत अद्वैतवाद है।

उपसंहार

जैसा विलियम जेम्स * स्वामी विवेकानन्द के द्वारा प्रतिपादित शांकर वेदान्त की प्रशंसा में कहते हैं—"भारतवर्ष का वेदान्त संसार के सभी अद्वैतवादों का शिरोमणि है।" यह सत्य है कि जो लोग सांसारिक नाम-गुणों के विषय में अपनी अधूरी धारणाओं की पुष्टि के लिये दर्शन का मुंह जोहते हैं, उन्हें वेदान्त से निराश होना पड़ेगा। आदि बौद्ध और जैन दर्शनों की नाईं शंकर का अद्वैतवाद भी उन प्रौढ़ हृदयवालों के लिये है जो दृढ़तापूर्वक युक्ति-मार्ग का अवलम्बन करते हैं, चाहे वह जिस परिणाम पर ले जाय। ऐसे इने-गिने साहसी लोगों के लिये ही वेदान्त का दुर्गम मार्ग है जो सामान्य अनुभव को उलट देता है और व्यावहारिक मूल्यों को तुच्छ बताता है। परन्तु तथापि अद्वैतवाद का भी अपना एक खासा आकर्षण और आनन्द है। जैसा जेम्स * कहते हैं—"एक अद्वितीय परब्रह्म, और मैं वह परब्रह्म! यहाँ एक ऐसा धार्मिक विश्वास उत्पन्न हो जाता है जिसमें मन को सन्तुष्ट करने की असीम शक्ति है, इसमें चिरस्थायी शान्ति और सुरक्षा का भाव निहित है। हम सभी यह अद्वैतवाद का मधुर संगीत सुन सकते हैं। इसमें अपूर्व शान्तिदायिनी और उद्धारकारिणी शक्ति है।"

---

* देखिये William James का Pragmatism

३ रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत

(१) सृष्टि-विचार

उपनिषदों में सृष्टि का जो वर्णन पाया जाता है उसे रामानुज अक्षरशः यथार्थ मानते हैं। उनका मत है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी इच्छा से, स्वयं अपने से, यह नाना-विषयात्मक संसार उत्पन्न करते हैं। सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् (जड़) ये दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं। अचित् प्रकृति-तत्त्व है जिससे सभी भौतिक विषय उत्पन्न होते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसी प्रकृति-तत्त्व को संसार का बीज या मूल माना गया है। ※ स्मृति-पुराणों में भी यही बात कही गई है। रामानुज इन सबोंको विशेष महत्त्व देते हैं। वे प्रकृति को अजा (अनादि) शाश्वत सत्ता मानते हैं (जैसा सांख्यवाले मानते हैं)। परन्तु सांख्य से रामानुज का यह मतभेद है कि वे (रामानुज) प्रकृति को ईश्वर का अंश और ईश्वर के द्वारा संचालित मानते हैं। उसी तरह, जिस तरह शरीर आत्मा के द्वारा संचालित होता है। प्रलय की अवस्था में यह प्रकृति सूक्ष्म अविभक्त रूप में रहती है। उसी बीज से ईश्वर जीवात्माओं के पूर्वकर्मानुसार नाना-विषयात्मक संसार की रचना करते हैं। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की इच्छा से अविभक्त सूक्ष्म प्रकृति क्रमशः तीन प्रकार के तत्वों में विभाजित हो जाती है—तेज, जल, पृथ्वी। उनमें क्रमशः ये तीन गुण पाये जाते हैं—सत्त्व, रज और तम। धीरे-धीरे ये तीनों तत्त्व परस्पर सम्मिलित हो जाते हैं और उनसे समस्त स्थूल विषयों की उत्पत्ति होती है जो भौतिक संसार में दृष्टिगोचर होते हैं। ※ संसार के प्रत्येक विषय में इन तीनों गुणों का सम्मिश्रण है। वह सम्मिश्रण-क्रिया *त्रिवृत् करण* कहलाती है।

※ देखिये श्वेताश्वतरोपनिषद् ४। ५ अजाम् एकाम् लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् और ४। १० मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिन तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतै स्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्। देखिये ब्र० सू० १। ४। ८ पर रामानुज भाष्य।

१। शंकर — स्पिनोजा — रामानुजाचार्य
२। रामानुजाचार्य — हेगेल — शंकर

रामानुज का मत है कि सृष्टि वास्तविक है और यह जगत् उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। उपनिषद् के जो वाक्य नानात्व का निषेध और एकत्व का प्रतिपादन करते हैं उन के सम्बन्ध में रामानुज का कहना है कि वे वाक्य उनके विषयों की सत्ता अस्वीकार नहीं करते, केवल यही बतलाते हैं कि उन सबों के अन्दर एक ही ब्रह्म निहित है, जिस पर वे समाश्रित हैं (जिस प्रकार स्वर्ण के सभी आभूषण स्वर्ण ही हैं)। उपनिषदों में विषयों की पृथक् स्थिति को अस्वीकार किया गया है, उनकी अपृथक् स्थिति को नहीं।

सृष्टि सत्य है

रामानुज इस बात को स्वीकार करते हैं कि उपनिषद् (श्वेताश्वतर) में ईश्वर को मायावी कहा गया है। परन्तु इसका वे यह अर्थ लगाते हैं कि ईश्वर जिस अनिर्वचनीय शक्ति के द्वारा सृष्टि की रचना करते हैं वह मायावी की शक्ति के समान अद्भुत है। माया का अर्थ है ईश्वर की विचित्रार्थ-सर्गकारी (अद्भुत विषयों की सृष्टि करनेवाली) शक्ति। कभी-कभी माया से अघटित-घटना-पटीयसी प्रकृति का भी बोध होता है।

माया का अर्थ

सृष्टि और जगत् भ्रममात्र है। रामानुज इस बात को स्वीकार नहीं करते। अपना पक्ष समर्थन करने के लिये वे कहते हैं कि ज्ञानमात्र सत्य होता है (*यथार्थं सर्वविज्ञानम्*) और कोई भी विषय मिथ्या नहीं है। रज्जु-सर्प वाले भ्रम में भी जो तीनों तत्त्व (तेज, जल, पृथ्वी) सर्प में विद्यमान हैं वे ही रज्जु में भी। इसलिये जब वह वस्तुतःसत् समान तत्त्व परिलक्षित होता है तब हमें रज्जु में सर्प की प्रतीति होती है। वहाँ असत् पदार्थ की प्रतीति नही होती। प्रत्येक विषय के मूल उपादान सभी विषयों

ज्ञान-मात्र सत्य है

---

* देखिये ब्रह्मसूत्र १।४ ८-१०, १।१।३ और २।१ '४ पर श्री भाष्य, वेदान्तसार और वेदान्त-दीपिका। (यहाँ गीता के अनुसार गुणों को प्रकृति से इतर धर्म माना गया है, प्रकृति का तत्त्व नहीं।)

में वर्त्तमान रहते हैं , अतः उसी प्रकार से सभी भ्रमों की उत्पत्ति हो सकती है।

मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकराचार्य के बहुत दिन बाद हुए। अतः उन्हें शंकर तथा उनके अनुयायियों की आलोचना करने का मौका मिला है।

अज्ञान-विषयक शंका-समाधान

ब्रह्मसूत्र पर रामानुज ने जो भाष्य लिखा है वह रामानुज-भाष्य अथवा श्रीभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाष्य में उन्होंने वेदान्त के अनेक जटिल प्रश्नों की विवेचना की है। शंकर के मायावाद पर उन्होंने बहुत आक्षेप किये हैं। यद्यपि अद्वैतवाद की तरफ से उनका समाधान भी किया गया है, तथापि शंकर और रामानुज इन दोनों के दृष्टिकोण अच्छी तरह समझने में उनसे बड़ी सहायता मिलती है। यहाँ शंकर के मायावाद पर रामानुज के मुख्य आक्षेप और अद्वैतवाद की ओर से उनके संक्षिप्त उत्तर दिये जाते हैं।

जिस अविद्या या अज्ञान से संसार की उत्पत्ति होती है, उसका आधार क्या है अर्थात् वह कहाँ (किसमें) रहता है ? यदि यह कहा

अज्ञान का आधार क्या है ?

जाय कि वह जीवाश्रित रहता है तो यह शंका उत्पन्न होती है कि जीवत्व तो स्वयं अविद्या का कार्य है, फिर जो कारण है वह कार्य पर कैसे निर्भर रह सकता है ? यदि कहा जाय कि अज्ञान ब्रह्माश्रित है तो फिर ब्रह्म को शुद्ध ज्ञान-स्वरूप कैसे कह सकते हैं ?

शंकराचार्य के अद्वैतमत की तरफ से इसका समाधान यों हो सकता है। अज्ञान को जीवाश्रित मानने से उपर्युक्त दोष तभी लग सकता है जब अज्ञान को कारण और जीव को उसका कार्य माना जाय। परन्तु यदि वे दोनों एक ही वस्तु के दो परस्परापेक्ष सहवर्त्ती अंग मान लिये जायँ (जैसे वृत्त और परिधि, अथवा त्रिभुज और उसके कोण) तो वह कठिनता उपस्थित नहीं होती। यदि अज्ञान

को ब्रह्माश्रित माना जाय तो भी कोई दोष नहीं लगता। क्योंकि ब्रह्म को माया का आधार मानने का अर्थ होता है कि वह मायावी की तरह जीवों में अविद्या या भ्रम उत्पन्न करने की शक्ति से युक्त है। परन्तु जिस तरह मायावी (जादूगर) स्वयं अपनी माया से ठगा नहीं जाता, उसी तरह ब्रह्म भी अपनी माया से प्रभावित नहीं होता।

माया या अज्ञान से ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित हो जाता है। परन्तु ब्रह्म स्वतः प्रकाश्य माना जाता है। यदि माया से ब्रह्म पर आवरण पड़ जाता है तो उसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्म की स्वतः-प्रकाश्यता नष्ट हो जाती है और इस तरह ब्रह्म का लोप हो जाता है।

२ अज्ञान ब्रह्म का नाश करनेवाला है

इसके उत्तर में शंकर के अनुयायी कहते हैं कि अज्ञान के द्वारा ब्रह्म का जो आवरण होता है उसके कारण अज्ञानी जीव को ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप नहीं दीखता। जैसे, मेघ से आच्छादित हो जाने से सूर्य का दर्शन नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं कि सूर्य का लोप हो जाता है। उसी तरह अज्ञान के कारण ब्रह्म का लोप नहीं हो जाता। स्वतः-प्रकाश्यता का अर्थ यह नहीं है कि बाधा होने पर भी प्रकाश का आवरण नहीं हो। अन्धा (नेत्र के अभाव में) सूर्य को नहीं देख सकता, इससे सूर्य की स्वयं-प्रकाश्यता नष्ट नहीं होती।

अज्ञान का स्वरूप क्या है? कभी कभी अद्वैतवादी माया को सत् और असत् दोनों से विलक्षण, अनिर्वचनीय मानते हैं। यह असंभव है। क्योंकि अनुभव यही सिद्ध करता है कि सभी पदार्थ या तो सत् होते हैं या असत्। इन दो विरुद्ध कोटियों के अतिरिक्त तीसरी कोटि हो ही क्या सकती है?

३ अज्ञान सत् है या असत्

इसके उत्तर में अद्वैती का कहना है कि माया (तथा प्रत्येक भ्रम के विषय) को न सत् कहा जा सकता है न असत्। उसकी प्रतीति होती है, इस कारण वह वंध्यापुत्र या आकाश-कुसुम की तरह असत् नहीं मानी जा सकती (जिसकी कभी प्रतीति नहीं हो

सकती)। पुनश्च वह कालान्तर के अनुभव से बाधित हो जाती है, अतएव वह ब्रह्म या आत्मा की तरह सत् भी नहीं मानी जा सकती (जो कभी बाधित नहीं हो सकता)। इसीलिये माया या भ्रम को सत् और असत् इन दो सामान्य कोटियों से विलक्षण समझा जाता है। माया को अनिर्वचनीय कहने का अर्थ है कि हम उसे किसी सामान्य कोटि में नहीं रख सकते। यहाँ विरोध का दोष भी नही लगता। क्योंकि 'सत्' का अर्थ यहाँ 'पूर्णतः सत्य' और 'असत्' का अर्थ 'पूर्णतः असत्य' है। परन्तु इन दोनों के बीच में तीसरी कोटि भी संभव है, जैसे, पूर्ण प्रकाश और पूर्ण अन्धकार के बीच में।

४ अज्ञान भावरूप कैसे हो सकता है

अद्वैतवादी प्रायशः माया या अविद्या को भावरूप अज्ञान कहते हैं। परन्तु ऐसा कहने का कुछ अर्थ नहीं होता। अज्ञान का अर्थ है ज्ञान का अभाव। तब फिर वह भाव-रूप कैसे माना जा सकता है ?

इसका उत्तर अद्वैतवाद की तरफ से यों दिया जाता है कि अज्ञानमूलक भ्रम (जैसे रज्जु-सर्प भ्रम) में केवल वस्तु के ज्ञान का अभाव मात्र ही नहीं रहता, परन्तु विषयान्तर का आभास (सर्प का भाव) भी रहता है। इसी अर्थ में माया को भाव-रूप अज्ञान कहा गया है।

५ भावरूप अज्ञान का नाश कैसे हो सकता है ?

यदि माया को भावरूप अज्ञान भी मानलिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि तब ब्रह्मज्ञान से उसका नाश होना कैसे संभव है ? भावरूप सत्ता का ज्ञान के द्वारा नाश नहीं हो सकता।

इसके विषय में अद्वैतियों का यह कहना है कि दैनिक जीवन में हमें जो रज्जु-सर्प सरीखे भ्रम हुआ करते हैं उनमें हम देखते हैं कि मिथ्या विषय (जैसे सर्प) भावरूप से प्रकट होता है और पुनः यथार्थ

वस्तु (जैसे रज्जु) का ज्ञान होने पर नष्ट हो जाता है। अतएव यहाँ कोई असंगति नहीं है। *

२ ब्रह्म-विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़-जगत्) दोनों तत्त्वों से युक्त है। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे पृथक् या स्वतंत्र और किसी वस्तु की सत्ता नहीं है। परन्तु उसमें जो जीव और जड भूत है सो भी वास्तविक हैं। रामानुज का अद्वैतवाद *विशिष्टाद्वैत* कहलाता है क्योंकि उनके अनुसार चित् और अचित् अंशों से विशिष्ट होते हुए भी ब्रह्म एक ही है। उसकी एकता भेद-रहित नहीं है। वेदान्ती तीन प्रकार के भेद मानते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप

(१) विजातीय भेद-- जैसे, गाय और भैंस में।

(२) सजातीय भेद—जैसे, एक गाय और दूसरी गाय में।

(३) स्वगत भेद—जैसे, गौ के पुच्छ और सींग में।

उपर्युक्त भेदों में प्रथम और द्वितीय (विजातीय और सजातीय भेद) ब्रह्म में नहीं माने जा सकते क्योंकि ब्रह्म का विजातीय या सजातीय कोई अपर पदार्थ नहीं। परन्तु उसमें स्वगत भेद का होना रामानुज मानते हैं, क्योंकि उसमें चित् और अचित्, ये दोनों अंश एक दूसरे से भिन्न हैं।

ब्रह्म अनन्त गुणों का भंडार है। वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और कृपालु है। अतएव ब्रह्म सगुण है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में जो ब्रह्म को निर्गुण कहा गया है उसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म में अल्पज्ञ जीव के गुण (रागद्वेष आदि) नहीं पाये जाते हैं। † ब्रह्म या ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और

ब्रह्म सगुण है

* इसी प्रकार रामानुज के अनुयायियों की तरफ से भी इनके प्रत्युत्तर दिये गये हैं। यह उत्तर-प्रत्युत्तर का सिलसिला अभीतक जारी है।

† श्रीभाष्य १। १। १ निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धात् उपपद्यन्ते।

लय करनेवाले हैं। जब प्रलय होता है और भौतिक विषय का नाश हो जाता है तब भी ब्रह्म में चित् (जीव) और अचित (भूत) ये दोनों तत्त्व अपनी बीजावस्था में निहित रहते हैं। भौतिक विकारों के परिणामस्वरूप विषय बनते विगड़ते और बदलते रहते है परन्तु उनका आधार भूत द्रव्य सर्वदा विद्यमान रहता है। इसी तरह जीवों के शरीर बनते-बिगड़ते रहते हैं परन्तु उनके चित् तत्त्व सर्वदा विद्यमान रहते हैं। प्रलयावस्था में विषयों के अभाव में ब्रह्म शुद्ध चित् (अशरीरी जीव) और अव्यक्त अचित् (निर्विषयक भूत तत्त्व) से युक्त रहता है। इसे 'कारण ब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरी जीवों तथा भौतिक विषयों में व्यक्त होता है। यह 'कार्य ब्रह्म' है।

उपनिषदों में जहाँ जहाँ विषयों को असत् और ब्रह्म को 'नेति नेति' (वाणी और मन से अगोचर) कहा गया है, वहाँ 'अव्यक्त ब्रह्म' (कारण-ब्रह्म) से तात्पर्य है।❀

जब चित् और अचित् (चेतन और जड़ तत्त्व) दोनों ही ब्रह्म के अंश हैं तब भौतिक विकार का अर्थ हुआ ब्रह्म का विकार। इस तरह ब्रह्म का परिणामी होना सूचित होता है।

ब्रह्म का जीव और जगत् से सम्बन्ध

इसी प्रकार जब जीव ब्रह्म के वास्तविक अंश हैं तब जीव के सुख-दुःख क्या ब्रह्म के सुख-दुःख नहीं कहे जा सकते? तब जगत् के सारे दोष ब्रह्म पर आ जाते हैं। इन गुत्थियों को रामानुज नाना प्रकार की कल्पनाओं के द्वारा सुलझाने की चेष्टा करते हैं। कभी वह शरीर और आत्मा की उपमा देते हैं। जीव-जगत् देह है और ईश्वर आत्मा है। जिस प्रकार आत्मा भीतर से शरीर का नियन्त्रण करता है उसी प्रकार ईश्वर जीव और जगत् का नियन्त्रण करता है। इसलिये वह अन्तर्यामी (भीतर से विश्व का नियन्त्रण करने वाला) कहलाता है। इसी उपमा के सहारे रामानुज यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि ब्रह्म में कोई दुःख या दोष व्याप्त नहीं

❀ श्री भाष्य १।१।१, १।१।१२, २।१।१५

होता। जिस तरह शारीरिक विकारों या त्रुटियों से आत्मा प्रभावित नहीं होता, उसी तरह जगत् के विकारों या त्रुटियों से ईश्वर प्रभावित नहीं होता। वह (ईश्वर या ब्रह्म) उन सब से परे है।

कभी कभी रामानुज इस विषय को समझाने के लिये राजा और प्रजा की उपमा देते हैं। राजा की आज्ञा के पालन या उल्लंघन से प्रजा को जो सुख-दुःख होता हैं उसका भागी राजा नहीं होता।†

इन विभिन्न प्रकार की व्याख्याओं को देखने से सूचित होता है कि ईश्वर और जीव का ठीक क्या सम्बन्ध है इस विषय में रामानुज का सिद्धान्त कुछ गूढ़ सा है। यहाँ कई शंकाएँ उठती हैं। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध राजा-प्रजा के सम्बन्ध से बिल्कुल भिन्न है और इन दोनों में किसी में सम्पूर्ण और अंश का सम्बन्ध नहीं है (जैसा ब्रह्म और जीव में माना जाता है)। पुनः रामानुज ब्रह्म को विशेष्य और जगत् को उसका विशेषण मानते हैं। परन्तु यदि यह बात है तो फिर जगत् में जो दोष हैं उनसे ब्रह्म अक्षुण्ण कैसे रह सकता है? रामानुज ने स्वयं भी इस कठिनाई को अनुभव किया है और एक जगह तो उन्होंने स्वीकार किया है कि ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप अपरिणामी है और जगत् के विकारों से वह विकृत नहीं होता। * यदि इस स्वीकारोक्ति को प्रामाणिक मान लिया जाय तो इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विकारशील भूततत्त्व ब्रह्म का यथार्थ आन्तरिक स्वरूप नहीं किन्तु उसका एक बाह्य रूप है। परन्तु ऐसा मान लेने पर उनका यह मुख्य सिद्धान्त कि भूत और जीव ब्रह्म के वास्तविक अंश हैं, काफी कमजोर पड़ जाता है। विकारशील भूत और जीवों को ब्रह्म का वास्तविक अंश समझना और साथ ही ब्रह्म को अविकारी कहना इन दोनों परस्पर-विरोधी बातों को मानने से रामानुज के सिद्धान्त में कुछ दुविधा और कठिनता आ गई है।

† श्री भाष्य २। १। १४

* श्रीभाष्य २।१।१४.

रामानुज का ईश्वर के विषय में जो मत है वह पाश्चात्य Theism के सदृश है। Theism का संकुचित अर्थ है * ऐसे ईश्वर में विश्वास जो जगत् में व्याप्त हैं, उससे परे भी हैं, जिनका कोई विशिष्ट व्यक्तित्व (Personality) है और जो अपना इच्छा-शक्ति के द्वारा किसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये जगत् की सृष्टि करते हैं। रामानुज ईश्वर में ये सभी गुण मानते हैं। उनका ईश्वर उपासना का विषय और धार्मिक साधना का लक्ष्य है। प्रार्थना के द्वारा ईश्वर को सन्तुष्ट करने पर उनकी कृपा से मोक्ष मिल सकता है।

रामानुज का ईश्वरवाद

(३) आत्मा, बन्धन और मोक्ष

रामानुज का विचार है कि उपनिषदों में वर्णित ईश्वर और जीव की एकता अभेदसूचक एकता नहीं है। स्वल्प जीव और अनन्त ईश्वर, ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं? यह अचिन्तनीय है। तब जीव ईश्वर से अभिन्न है—इसका यह अर्थ है कि वह समस्त चराचर जगत् में व्याप्त रहने के कारण प्रत्येक जीव में व्याप्त है और उसको नियन्त्रित करता है। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व सम्पूर्ण पर, गुण का द्रव्य पर और जीवित शरीर का अस्तित्व आत्मा पर निर्भर है, उसी प्रकार मनुष्य का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर है।

ईश्वर और जीव

दो सर्वथा विभिन्न पदार्थों में अभेद का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। परन्तु सर्वथा अविकल पदार्थ को लेकर भी इस सम्बन्ध का निर्देश करना निरर्थक हो जायगा, क्योंकि वह वृथा पिष्टपेषण मात्र होगा। तब अभेद का सम्बन्ध उनमें लागू हो सकता है जो एक ही पदार्थ के दो भिन्न-भिन्न रूप हों। 'अयं स देवदत्तः' (यही वह देवदत्त है)—यह वाक्य पहले देखे हुए देवदत्त और इस समय देखे हुए देवदत्त में तादात्म्य-सम्बन्ध प्रकट करता है। कालिक (तथा अन्यान्य) विभिन्नता

'तत्त्वमसि' का अर्थ

* देखिये Ward का The Realm of End (पृ० २३४).

होने पर भी व्यक्ति (देवदत्त) एक ही है। उपनिषद् के 'तत्त्वमसि' वाक्य का भी ऐसा ही अर्थ लगाना चाहिये। यहाँ तत् (वह) का अर्थ है वह ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सृष्टि का कर्त्ता है, और त्वम् (तुम) का अर्थ है वह ईश्वर जो अचित्-विशिष्ट-जीव-शरीरक (अर्थात् अचेतन शरीर से विशिष्ट जीव के रूप में) है। अतएव यहाँ जो अभेद कहा गया है वह ईश्वर के एक विशिष्ट रूप में और दूसरे विशिष्ट रूप में है। अर्थात् यह विशिष्ट ऐक्य है। इसीलिये रामानुज का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत कहलाता है। ❀

भेद, अभेद और भेदाभेद

ईश्वर और जीव में क्या सम्बन्ध है, यह समस्या एक ऐसी अजीब भुलभुलैयाँ है जिसमें भेद, अभेद और भेदाभेद—ये सभी चक्कर खाने लगते हैं। शंकर के अभेदवाद का खंडन करते हुए रामानुज ईश्वर और जीव के भेद पर इतना जोर देते हैं कि वे भेदवाद के समर्थक से जान पड़ते हैं। † बादरायण सूत्र २।१।२२ पर उनका भाष्य देखने पर (कि ब्रह्म शरीरी जीव से भिन्न है) यह बात और पुष्ट हो जाती है। परन्तु जब सूत्र २।१।१५ पर उनका भाष्य देखते हैं (कि कारण-रूप ब्रह्म से जीव-जगत् अनन्य है) तो यह विचार पलट जाता है। रामानुज में ये दोनों विचार परस्पर-विरोधी से जँचते हैं।

परन्तु जब सूत्र २।३।४२ पर उनका भाष्य पढ़ते हैं (कि जीव ब्रह्म का अंश मात्र है) तब यह विरोध मिट जाता है। क्योंकि वहाँ रामानुज स्पष्ट कहते हैं कि जीव को ब्रह्म का अंश मानने पर परस्पर-विरुद्ध प्रतीत होनेवाले श्रुतिवाक्यों का इस तरह सामंजस्य हो जाता है कि दोनों में भेद भी है और अभेद भी है। अर्थात् जिस प्रकार सम्पूर्ण और अंश में भेद और अभेद दोनों है उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में भी समझना चाहिये।

❀ देखिये श्रीभाष्य १।१।१ प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्।

† देखिये श्रीभाष्य १।१।१.

अतएव इस निष्कर्ष पर पहुँचना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीव और ईश्वर का का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न हैं। ईश्वर पूर्ण और अनन्त है; जीव अपूर्ण और स्वल्प है, इस दृष्टि से दोनों में भेद का सम्बन्ध है। जीव ईश्वर से अपृथक् है (और ईश्वर जीवों का आत्मा-रूप है), इस दृष्टि से दोनों में अभेद, तादात्म्य या अनन्यत्व* का सम्बन्ध है। जीव ब्रह्मका अंश है, इस दृष्टि से, दोनों में भेदाभेद का सम्बन्ध है। रामानुज भाष्य से अधिकारी विद्वान् इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं। माधवाचार्य भी अपने सर्वदर्शनसंग्रह में कहते हैं कि रामानुज भेद अभेद और भेदाभेद ये तीनों ही मानते हैं।

परन्तु दुर्भाग्यवश यह बहुसम्मत सिद्धान्त भी नहीं ठहरता। क्योंकि रामानुज ने कई जगह भेद, अभेद और भेदाभेद, इन तीनों का खंडन किया है।+ इस तरह यह अन्तिम मत भी विचलित हो जाता है और पाठक को यह जिज्ञासा होने लगती कि ये एक मत कायम करते हैं और फिर तुरत ही उसको काट देते हैं। इनका अपना सिद्धान्त क्या है ? क्या यह चर्चा केवल वितण्डामात्र तो नहीं है ?

रामानुज में पूर्ण अभेद और पूर्ण भेद का खंडन तो समझ में आ सकता है। परन्तु भेदाभेद का वह क्यों खंडन करते हैं, यह समझ में नहीं आता क्योंकि वे तो स्वयं इस श्रुतिसम्मत विचार का समर्थन करते हैं कि भेद और अभेद दोनों ही सत्य हैं। जान पड़ता है कि भेदाभेद का खंडन करते समय दो तरह के प्रतिपक्षी उनके मन में हैं—

(१) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जिस प्रकार घटाकाश वस्तुतः सर्वव्यापी आकाश से भिन्न नहीं है (परन्तु सर्वव्यापी आकाश का उपाधि-परिच्छिन्न कल्पित रूप मात्र है), उसी प्रकार जीव सर्वव्यापी ब्रह्म से वस्तुतः भिन्न नहीं है, परन्तु ब्रह्म का एक कल्पित उपाधियुक्त रूप है।

* ये सब शब्द स्वयं रामानुजाचार्य के हैं।

+ देखिये श्रीभाष्य १।१।१ और १।१।४

(२) जो यह प्रतिपादन करते हैं कि जीव ब्रह्म का वास्तविक परिच्छिन्न रूप है। *

प्रथम पक्ष के विरुद्ध रामानुज का यह आक्षेप है कि जब उपाधि कल्पना मात्र है तब जीव वस्तुतः ब्रह्म है, अतएव जीव के सभी दोष यथार्थतः ब्रह्म पर लागू हो जाते हैं। द्वितीय पक्ष के विरुद्ध उनकी यह युक्ति है कि जब ब्रह्म वस्तुतः स्वल्प जीव के रूप में परिणत हो जाता है तब जीव के समस्त दोष यथार्थतः ब्रह्म ही के दोष हैं। इन आपत्तियों का निराकरण करने के लिये रामानुज इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि चित् और अचित् ये दोनों ब्रह्म में नित्य वर्त्तमान हैं और सर्व-व्यापी ब्रह्म से भिन्न-स्वरूप होते हुए भी नित्य अविच्छेद्य रूप से ब्रह्म से सम्बद्ध हैं। उनका ब्रह्म से वैसा ही सम्बन्ध है जैसा अंश का पूर्ण से, कार्य का उपादान कारण से या गुण का द्रव्य से। रामानुज का आशय यह मालूम होता है कि जिस तरह पूर्ण कभी अंश नहीं हो सकता या द्रव्य कभी गुण नहीं हो सकता, उसी तरह ब्रह्म कभी जीव नहीं हो सकता। ब्रह्म नित्य ब्रह्म है और उसके अन्तर्गत जो जीव हैं वे नित्य जीव हैं। परन्तु यदि ऐसा मान लेते हैं तो फिर ब्रह्म जीव का (या जगत् का) कारण कैसे कहा जा सकता है? कारण का अर्थ है *जिससे कार्य उत्पन्न हो*। प्रायः 'कारण' से उनका अभिप्राय *नियत पूर्ववर्ती* नहीं होकर *उपादान* या द्रव्य-मात्र है। ब्रह्म मूल द्रव्य या अखण्ड सत्ता होने के कारण सभी जीवों या भूतों का उपादान-स्वरूप है। यहाँ पूर्ण और अंश में पौर्वापर्य का भाव नहीं है (अर्थात् यह नहीं कि पूर्ण अंश से पहले होता है और अंश पूर्ण के अनन्तर होता है)। ब्रह्म अपने सकल अंशों सहित नित्य सत् है, वह कभी अंशरूप विशिष्ट जीव नहीं बनता और इसलिये उनके दोषों से युक्त नहीं होता।

रामानुज का आशय

पूर्ण और अंश की इस उपमा से ब्रह्म जीवों के दोषों से मुक्त होते हैं या नहीं यह कहना तो कठिन है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि

* देखिये श्री भाष्य १।१।१

रामानुज का आक्षेप भेदाभेदवाद के विरुद्ध (जिसका उन्होंने सूत्र २।३।४२ के भाष्य में खुद समर्थन किया है) नहीं है बल्कि विशेष प्रकार के भेदाभेद सम्बन्धी मत पर उनके लिये भेदाभेद का अर्थ है—"एकं वस्तु द्विरूपं प्रतीयते ❀। प्रकारद्वयावस्थितत्वात् सामानाधिकरण्यस्य। †(अर्थात् एक ही वस्तु दो रूपों में दिखाई देती है) वे जिन मतों का खंडन करते हैं वे ये हैं—(१) एक ही वस्तु भ्रमवश दो रूपों में दिखाई पड़ती है और (२) एक ही वस्तु यथार्थतः दो बन जाती है। पूर्ण और अंश का भेदाभेद इन अर्थों में सही नहीं है। इनसे पहले जो कहा गया है उस अर्थ में भेदाभेद रामानुज को मान्य है। सम्पूर्ण अंशी होते हुए भी अपने अंशों से भिन्न है, तथापि उसकी सत्ता प्रत्येक अंश में रहती है, परन्तु फिर भी वह एक ही है, अनेक नहीं (नहीं तो वह विभाजित हो जाता और पूर्ण नहीं रहता)।

रामानुज भेद और अभेद दोनों को सत्य मानते हैं। परन्तु आधार द्रव्य के एकत्व का उन्होंने जो प्रतिपादन किया है और अनेकत्व को जो उस पर आश्रित माना है, उसे देखते हुए जान पड़ता है कि उन्होंने भेद से अधिक अभेद पर ही जोर दिया है।

उपर्युक्त विचार हमें रामानुज और निम्बार्क (ये भी भेदाभेदवादी हैं) का भेद समझने में भी सहायता पहुंचा सकता है। जैसा घाटे कहते हैं—"निम्बार्क और रामानुज के मतों में बहुत समानता है। दोनों ही भेद और अभेद को वास्तविक मानते हैं। परन्तु निम्बार्क के लिये भेद और अभेद, इन दोनों का एक ही महत्त्व है, ये दोनों एक ही स्तर के सहवर्त्ती पदार्थ हैं। परन्तु रामानुज अभेद को मुख्य और भेद को गौण मानते हैं। ‡ इसीलिये जहाँ निम्बार्क का मत द्वैताद्वैत कहलाता है वहाँ रामानुज का मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है।

❀ देखिये श्री भाष्य १।१।१ (पृ० १५०)

† देखिये श्री भाष्य १।१।१ (पृ० ६४)

‡ देखिये V S Ghate का The Vedanta (पृ० ३२)

भेद, अभेद और भेदाभेद के सम्बन्ध में रामानुज के मत को स्पष्ट करने के लिये कुछ लोग उनके मत को सामान्य कोटियों से परे एक निराली कोटि में रखते हैं, जिनको वे '*अपृथक् स्थिति*' का नाम देते हैं। परन्तु इससे भी जिज्ञासा का स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता। '*अपृथक् स्थिति*' कहने से किसी निश्चित अर्थ का बोध नहीं होता। उसके कई अर्थ लगाये जा सकते हैं। शंकर द्वारा प्रतिपादित कार्य-कारण का अनन्यत्व भी इसके अन्तगत आ सकता है। इसके अलावे, केवल नया नाम देने से ही तार्किक जिज्ञासा का समाधान नहीं हो जाता। यह शंका बनी रहती है कि इस सम्बन्ध में (अपृथक् स्थिति) का अर्थ क्या है? क्या यह अभेद सूचित करता है या भेद? यदि दोनों में कुछ नहीं तो कैसे?

रामानुज के अनुसार मनुष्य के शरीर और आत्मा दोनों ही सत्य हैं। ब्रह्म के अचित् अंश से शरीर की उत्पत्ति होती है। आत्मा की

शरीर और आत्मा

उत्पत्ति नहीं होती, वह नित्य होता है। वह भी ईश्वर का ही अंश है। शरीर और आत्मा दोनों ही अंश होने के कारण सीमित होते हैं। अतएव आत्मा को उपनिषदों में जो सर्वव्यापी कहा गया है उसका स्थूल अर्थ नहीं लेना चाहिये। उसका वास्तविक तत्पर्य यह है कि आत्मा इतना सूक्ष्म है कि वह प्रत्येक अचित् या भौतिक तत्त्व में प्रवेश कर सकता है। ❀ रामानुज आत्मा को सर्वव्यापी नहीं मानते। इसलिये वे उसे अणु मानते हैं क्योंकि यदि आत्मा को महत् या अणु—इन दोनों में कुछ भी नहीं माना जाय तो उसे सावयव वस्तुओं की तरह मध्यम-परिमाण वाला और अतएव विनाशशील मानना पड़ेगा। आत्मा का चैतन्य औपाधिक नहीं अर्थात् शरीर-संयोग पर आश्रित नहीं है। चैतन्य आत्मा का आभ्यन्तरिक गुण है और प्रत्येक अवस्था में उसमें विद्यमान रहता है। सुषुप्तावस्था में भी (जब आत्मा वा शरीर के साथ सम्पर्क नहीं

❀ श्री भाष्य १।१।१ व्यती, 'अति सूक्ष्मत्वात् सर्वाचेतनान्तः प्रवेशन स्वभावः।

रहता) आत्मा को यह ज्ञान रहता है कि 'मैं हूँ'। इसी 'अहम्' (मैं) शब्द के द्वारा सूचित होने वाले पदार्थ को रामानुज 'आत्मा' कहते हैं।†

आत्मा का बन्धन कर्म का परिणाम है। कर्म के फलस्वरूप आत्मा को शरीर प्राप्त होता है। शरीरयुक्त होने पर आत्मा का चैतन्य शरीर और इन्द्रियों से बद्ध हो जाता है। यद्यपि आत्मा अणुरूप है तथापि यह शरीर के प्रत्येक भाग को चैतन्ययुक्त कर देता है। जैसे, छोटा सा दीपक सम्पूर्ण कोठरी को प्रकाशित कर देता है। उस चैतन्ययुक्त शरीर को ही आत्मा अपना रूप मानने लगता है। अनात्म-विषय में इस आत्म-बुद्धि को ही अहंकार कहते हैं। यही अविद्या है। रामानुज कर्म को भी कभी कभी अविद्या कहते हैं।❀

बन्धन कर्मज होता है

कर्म और ज्ञान के द्वारा भक्ति का उदय होता है जिससे मुक्ति मिलती है। कर्म से रामानुज का अभिप्राय है वेदोक्त कर्मकाण्ड (अर्थात् वर्णाश्रम के अनुसार नित्य नैमित्तिक कर्म)। इनका आजीवन कर्त्तव्य-बुद्धि से (बिना स्वर्गादि प्राप्ति की कामना से) आचरण करना चाहिये। इस तरह का निष्काम कर्म पूर्वजन्मार्जित उन संस्कारों को दूर कर देता है जो ज्ञान की प्राप्ति में बाधास्वरूप होते हैं। इन कर्मों के विधिवत् सम्पादन के लिये मीमांसा-दर्शन का अध्ययन आवश्यक है। रामानुज वेदान्त से पहले मीमांसा का अध्ययन आवश्यक समझते हैं। मीमांसा के अध्ययन तथा कर्मकाण्ड के विधिवत् अनुष्ठान के अनन्तर यह ज्ञान हो जाता है कि इन कर्मों से स्थायी कल्याण या मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती। तब साधक को वेदान्त की ओर प्रवृत्ति होती है। वेदान्त उसे जगत् का वास्तविक तत्त्व बतलाता है। तब

मोक्ष का साधन

---

† स्वरूपेण एव अहमर्थः आत्मा। मुक्तौ अपि अहमर्थः प्रकाशते। १।१।१

❀ शरीरगोचरा च अहंबुद्धि रविद्यैव। अनात्मनि देहे अहंभावकरण हेतुत्वेन अहङ्कारः।१।१।१

उसे बोध होता है कि वह शरीर से भिन्न (आत्मा) है और वस्तुतः ईश्वर का अंश है जो उसके भीतर विद्यमान रहते हैं। यही ईश्वर या परमात्मा जगत् की सृष्टि, पालन और संहार करनेवाले हैं। तब उसे यह भी अनुभव होता है कि मुक्ति केवल अध्ययन और तर्क से नहीं होती, किन्तु ईश्वर की कृपा से होती है।

कोरा वेदान्त का अध्ययन केवल पुस्तकीय विद्या है और उससे मुक्ति नहीं मिल सकती। उपनिषदों का ठीक कहना है कि ज्ञान से मुक्ति मिलती है। परन्तु यहाँ ज्ञान का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द-ज्ञान नहीं है। यदि सो होता तो वेदान्त पढ़ लेने के साथ ही लोग तुरत मुक्त हो जाते। यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुव स्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं। यही ध्यान उपासना या भक्ति है ❀। ज्ञान के साधक कर्त्तव्य कर्मों का आचरण करते हुए निरन्तर ईश्वर का ध्यान करना चाहिये। ईश्वर में यह अनन्य भक्ति ही अन्ततः ईश्वर का दर्शन या साक्षात्कार कराती है। यही मुक्ति का चरम साधन है। इससे समस्त अविद्या और कर्मों का (जिनके कारण शरीर की उत्पत्ति होती है) नाश हो जाता है। अतएव जिस आत्मा को परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है वह सर्वदा के लिये मुक्त हो जाता है। वह फिर पुनर्जन्म के चक्र में नहीं पड़ता। साधक की भक्ति से सन्तुष्ट होकर ईश्वर उसके मार्ग से बाधाओं को हटा देते हैं जिससे उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। जो ईश्वर की शरण में अपना आत्मसमर्पण कर देता है और उन्हीं का अविरत चिन्तन करते-करते उनमें तल्लीन हो जाता है, वह भव-सागर को पार कर समस्त दुःखों से मुक्त हो जाता है।

ईश्वर-भक्ति

मुक्ति का अर्थ आत्मा का परमात्मा में मिलकर एकाकार हो जाना नहीं है। मुक्त आत्मा शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त तथा दोषों

❀ "अतो ... ध्यानोपासनादि शब्दवाच्यं ज्ञानम्।" "वेदनम् उपासनं स्यात्।" "उपासनापर्यायत्वात् भक्तिशब्दस्य"

—श्री भाष्य १।१।१

से रहित हो ब्रह्म के सदृश (ब्रह्मप्रकार) हो जाता है। उपनिषदों में जो यह कहा गया है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, उसका यही अर्थ है। †

मुक्ति का स्वरूप

जैसा हम पहले देख चुके हैं, शंकराचार्य के अद्वैतवाद में जीव का पार्थक्य-भाव नष्ट होकर उसका ब्रह्म हो जाना ही मुक्ति है। आत्मा अपने को पूर्णतः परमात्मा में लीन कर देता है, जिससे अन्ततः केवल ब्रह्म या परम तत्त्व ही रह जाता है। इस विचार से अद्वैतवादी की धार्मिक भावना को सन्तोष होता है। किन्तु रामानुज जैसे सगुण ईश्वर के उपासक को इतने ही से सन्तोष नहीं होता। भक्त के ईश्वर-प्रेम की पूर्ण सन्तुष्टि के लिये आत्मशुद्धि और आत्मसमर्पण तो आवश्यक है, परन्तु आत्म-लय नहीं। भक्त के लिये सबसे बड़ा आनन्द है ईश्वर की अनन्त महिमा का अनवरत ध्यान और इसी आनन्द के उपभोग के लिये उसका अपना आत्मा रहना आवश्यक है। समस्त प्रकार के अज्ञान और बन्धनों से मुक्त हो जाने पर, मुक्तात्मा पूर्ण ज्ञान और भक्ति के साथ, ब्रह्म-चिन्तन का असीम आनन्द अनुभव करता है। *

उपसंहार

---

† ब्रह्मैकाकारतया ब्रह्मप्रकारता उच्यते । श्रीभाष्य (पृ० ७१)

* देखिये, श्रीभाष्य, चतुर्थ पाद का चतुर्थ अध्याय ।

ग्रन्थ-चयन

चार्वाक-दर्शन

दक्षिणारञ्जन शास्त्री ... A Short History of Indian Materialism (Book Company, Calcutta)

" " ... चार्वाक-षष्ठि (Book Company)

माधवाचार्य ... सर्व-दर्शन-संग्रह (Cowell और Gough कृत अँग्रेजी अनुवाद)—चार्वाक-प्रकरण

हरिभद्र ... षड्-दर्शन-समुच्चय

वात्स्यायन ... काम-सूत्र, अध्याय १—२

राधाकृष्णन ... Indian Philosophy खण्ड १, अध्याय ५

जैन दर्शन

उमास्वामी ... तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र (जैनीकृत अँगरेजी अनुवाद के सहित ; The Central Publishing House, Arrah, India)

सिद्धसेन दिवाकर ... न्यायावतार (सतीश चन्द्र विद्याभूषण कृत अँगरेजी अनुवाद और भूमिका के सहित ; The Indian Research Society, Calcutta)

मल्लिसेन ... स्याद्वाद-मंजरी (हेमचन्द्र की टीका के सहित ; Chowkhamba Sanskrit Series, Benares, India)

हरिभद्र ... षड्-दर्शन-समुच्चय, गुणरत्न की टीका के सहित (Asiatic Society, Calcutta) ; मणिभद्र की टीका के सहित (चौखम्बा)—जैन-प्रकरण ।

Hermann Jacobi ... The Jaina Sutras (अँगरेजी अनुवाद, Sacred Books of the East Series)

नेमिचन्द्र ... द्रव्य-संग्रह (घोषाल कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित; Central Jaina Publishing House, Arrah)

S. Stevenson ... The Heart of Jainism (Oxford University Press)

बौद्ध दर्शन

Rhys Davids ... Dialogues of the Buddha (दो भागों में अंगरेजी अनुवाद, Sacred Books of the Buddhists Series)

Mrs Rhys Davids ... Buddhism (Home University Library)

H. C. Warren ... Buddhism in Translations (Harvard University Press)

Yamakami Sogen ... Systems of Buddhistic Thought (Calcutta University)

D. T. Suzuki ... Outlines of Mahayana Buddhism (Luzac & Co)

वेणीमाधव बरुआ ... A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy (Calcutta University)

" " ... The Dhammapada (अँगरेजी अनुवाद, Sacred Books of the East Series)

न्याय-दर्शन

जीवानन्द विद्यासागर ... न्याय-दर्शन, वात्स्यायन के 'भाष्य' और विश्वनाथ की 'वृत्ति' सहित (कलकत्ता)

" " ... तर्कसंग्रह, तत्त्वदीपिका और विवृति सहित (कलकत्ता)

केशव मि[illegible] ... तर्कभाषा (मूल ग्रन्थ, अँगरेजी अनुवाद सहित; Oriental Book Supplying Agency, Poona)

जेरे ... कारिकावली (भाषापरिच्छेद) सिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरी और रामरुद्री सहित (Nirnaya Sagar Press, Bombay)

माधवाचार्य ... सर्व-दर्शन-संग्रह (मूलग्रन्थ, Cowell और Gough कृत

अँगरेजी अनुवाद के सहित)—अध्याय ११

उदयन ... न्यायकुसुमाञ्जलि (मूलग्रन्थ, चौखम्बा; Cowell कृत अँगरेजी अनुवाद के सहित)

धर्मराजाध्वरीन्द्र ... वेदान्तपरिभाषा, अध्याय १—३

ब्रजेन्द्रनाथ शील ... The Positive Sciences of the Ancient Hindus (Longmans)—अध्याय ७

गङ्गानाथ झा ... न्याय-सूत्र, भाष्य और वार्त्तिक सहित (अँगरेजी अनुवाद, Indian Thought, Allahabad)

राधाकृष्णन ... Indian Philosophy खण्ड २, अध्याय २

हरिमोहन झा ... न्याय-दर्शन

वैशेषिक-दर्शन

प्रशस्तपाद ... पदार्थ धर्मसंग्रह (चौखम्बा, बनारस)

श्रीधर ... न्यायकन्दली (विजयनगरम संस्कृत सीरीज, लैजरस कम्पनी, बनारस)

गंगानाथ झा ... पदार्थ धर्मसंग्रह तथा न्यायकंदली का अंग्रेजी अनुवाद (लैजेरस ऐंड कम्पनी, बनारस)

जगदीश तर्कालंकार ... तर्कामृत (कलकत्ता)

वल्लभाचार्य ... न्यायलीलावती (निर्णयसागर, बम्बई)

लौगाक्षि भास्कर ... तर्ककौमुदी (निर्णयसागर, बम्बई)

माधवाचार्य ... सर्वदर्शनसंग्रह (वैशेषिकवाला अध्याय)

नन्दलाल सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का अंगरेजी में अनुवाद (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

प्रभुनाथ सिंह ... कणाद के वैशेषिक सूत्र का हिन्दी अनुवाद (बम्बई)

J. C. Chatterjee ... The Hindu Realism (इंडियन प्रेस, इलाहाबाद)

A. B. Keith ... Indian Logic and Atomism

हरिमोहन झा ... वैशेषिक दर्शन

बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन

राहुल सांकृत्यायन ... दर्शन दिग्दर्शन

सांख्य-दर्शन

कृष्णनाथ न्यायपञ्चानन ... तत्त्व कौमुदी (कलकत्ता)

कालीवर वेदान्त बागीश ... सांख्यसूत्र (अनिरुद्ध वृत्तिसहित, कलकत्ता)

सूर्यनारायण शास्त्री ... ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका का अंग्रेजी अनुवाद (मद्रास युनिवर्सिटी)

R. G. Bhatta ... सांख्य प्रवचन भाष्य (चौखम्बा, बनारस)

माधवाचार्य ... सर्वदर्शनसंग्रह (सांख्य प्रकरण)

नन्दलाल सिंह ... The Samkhya Philosophy

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy, Vol I Chap IV

सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त ... History of Indian Philosophy Vol I Chap VII

A. B. Keith ... The Samkhya System

A. K. Majumdar ... The Samkhya Conception of Personality (Calcutta University)

रामगोविन्द त्रिवेदी ... दर्शन परिचय (सांख्य वाला अध्याय)

बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन

योग-दर्शन

पूर्णचन्द्र वेदान्तचंचु ... योगसूत्र, भाष्य सहित (कलकत्ता)

कालीवर वेदान्तवागीश ... पातञ्जल सूत्र, भोजवृत्ति सहित (कलकत्ता)

माधवाचार्य ... सर्वदर्शनसंग्रह (योगवाला अध्याय)

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy Vol II Chap V

सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ... The Study of Patanjala yoga as Philosophy and Religion (Kegan Paul)

G. Coster ... Yoga and Western Psychology (Oxford University Press)

N. K. Brahma ... The Philosophy of Hindu Sadhana (Kegan Paul)

हरिहरानन्द आरण्य ... पातञ्जल योगदर्शन

रामगोविन्द त्रिवेदी ... दर्शन परिचय (योगवाला अध्याय)

बलदेव उपाध्याय ... भारतीय दर्शन (योगवाला अध्याय)

राहुल सांकृत्यायन	...	दर्शन दिग्दर्शन (योगवाला अध्याय)
कल्याण	...	योगांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)

मीमांसा-दर्शन

जैमिनि	...	मीमांसासूत्र (शाबर भाष्य सहित)
कुमारिल भट्ट	...	श्लोक वार्त्तिक
गंगानाथ झा	...	जैमिनिके मीमांसा-सूत्र का अंग्रेजी अनुवाद (प्रयाग)
,,	...	श्लोकवार्त्तिक का अंग्रेजी अनुवाद (प्रयाग)
,,	...	Prabhakar School of Purva Mimamsa (Allahabad)
पार्थसारथि	...	शास्त्रदीपिका, तर्कपाद (निर्णय-सागर, बम्बई)
शालिकनाथ	...	प्रकरणपञ्चिका (चौखम्बा, बनारस)
पशुपतिनाथ शास्त्री	...	Introduction to the Purva Mimamsa (Calcutta)
सर्वपल्ली राधाकृष्णन	...	Indian Philosophy Vol II Chap VI
A. B. Keith	...	Karma Mimamsa
बलदेव उपाध्याय	...	भारतीय दर्शन (मीमांसा प्रकरण)
राहुल सांकृत्यायन	...	दर्शन-दिग्दर्शन (मीमांसा प्रकरण)

वेदान्त-दर्शन

V. L. Sastri	...	One Hundred and Eight Upanishads (Nirnaya Sagar, Bombay)

Hume ... The Thirteen Principal Upnishads (Eng Translation)

R. D. Ranade ... A constructive survey of Upanishadic Philosophy (Poona)

Deussen ... The Philosophy of the Upanishads

शंकर ... ब्रह्मसूत्रभाष्य (निर्णयसागर बम्बई)

रामानुज ... ,, ,, (वेंकटेश्वर कं०)

G. Thibaut ... The Vedanta Sutras (with the Commentaries of Sankara and Ramanuja (Eng. Trans. S. B. E Series)

सर्वपल्ली राधाकृष्णन ... Indian Philosophy Vol II Chap VII-IX

M. N. Sarkar ... The System of Vedantic Thought and Culture (Calcutta)

कोकिलेश्वर शास्त्री ... The Introduction to Advaita Philosophy (Calcutta)

S. K. Das ... A study of the Vedanta (Calcutta)

W. S. Urquhart ... The Vedanta and Modern Thought (Oxford University Press)

R. Das ... The Essentials of Advaitism (Lahore)

V. S. Ghate	...	The Vedanta (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona)
M. Hiriyanna	...	Outlines of Indian Philosophy
बलदेव उपाध्याय	...	भारतीय दर्शन (वेदान्त वाला अध्याय)
राहुल सांकृत्यायन	...	दर्शनदिग्दर्शन
सूरजमल सिमाणी	...	ज्ञानरत्नाकर
”	...	दर्शनतत्त्वरत्नाकर (२ भाग)
गंगाप्रसाद उपाध्याय	...	अद्वैतवाद
कल्याण	...	वेदान्तांक (गीता प्रेस, गोरखपुर)

Honor
Honourable

HHHHHHHHHHHHH

Honorable
Honorable 5490 82. Sheetal